हिंदी के विकास
में
अपभ्रंश का योग

नामवर सिंह

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

नवीन संस्करण : १९५४

चार रुपया

मुद्रकः—रामआसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद ।

गुरुवर

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

को

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का बीजारोपण मई १९५१ ई० में काशी विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत निबंध के रूप में हुआ था। पीछे, वह निबन्ध भाषा और साहित्य संबंधी कुछ परिशिष्टों के साथ मार्च १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ। अब दो वर्षों बाद इसका द्वितीय संस्करण अत्यधिक संशोधन और परिवर्धन के साथ प्रकाशित हो रहा है। फिर से लिखी जाने के कारण यों तो पूरी पुस्तक एकदम नई हो गई है, फिर भी इस संस्करण की कुछ मुख्य विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

१. परवर्त्ती अपभ्रंश और आरंभिक हिंदी संबंधी नवीन सामग्री का समावेश।

२. अपभ्रंश और हिंदी वाक्य-विन्यास का तुलनात्मक विवेचन।

३. अपभ्रंश के कुछ विशिष्ट तद्भव तथा देसी शब्द और उनके हिंदी रूपों की सूची

४. अपभ्रंश के प्रायः सभी सूचित और ज्ञात ग्रंथों की सूची।

५. अपभ्रंश के मुख्य कवियों, काव्यों और काव्य-प्रवृत्तियों की विस्तृत समीक्षा।

६. अपभ्रंश और हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक संबंध पर विशेष विचार।

इन विशेषताओं के साथ-साथ प्रथम संस्करण की प्रायः सभी आवश्यक बातों का समाहार कर लिया गया है और अनावश्यक बातें छोड़ दी गयी हैं।

पुस्तक लिखने में जिन ग्रन्थकारों से सहायता मिली है, उन सबके प्रति लेखक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० परशुराम वैद्य और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे गुरुजनों से समय-समय जो कुछ मिला है उसके लिए आभार-प्रदर्शन धृष्टता होगी। डा० वैद्य ने प्रथम संस्करण के लिए जो प्राक्कथन लिखा है, वह उनके स्नेहाशीः का प्रतीक है। भाई नर्मदेश्वर जी ने जिस आग्रह से यह पुस्तक तैयार करवाई है उसके लिए धन्यवाद देना उपचार होगा।

अंत में निवेदन है कि विज्ञ पाठक अपने सत्परामर्श द्वारा लेखक को अनुगृहीत करेंगे।

हिंदी विभाग,
काशी विश्वविद्यालय
सितंबर, १९५४ ई०

नामवर सिंह

प्राक्कथन

अभी कुछ ही दिनों से विद्वानों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास के अध्ययन की ओर ध्यान देना आरंभ किया है। अध्ययन की इस दिशा में सबसे प्रमुख शृंखला ऐसे भाषा-वर्ग के अध्ययन की है जो प्राकृत नाम से अभिहित है और जिसके अन्तर्गत पाली, महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी, पैशाची एवं अपभ्रंश आदि भाषाएँ आती हैं। इनमें पाली का वाङ्मय बहुत विशाल है जो विद्वानों द्वारा सुसम्पादित तथा क्रमशः रोमन, सिंहली, बर्मी एवं स्यामी लिपि में मुद्रित है। समय-समय पर नागराक्षरों में भी पाली-साहित्य प्रकाशित होता आ रहा है। महाराष्ट्री, विशेषतः जैन महाराष्ट्री का बहुत विशाल साहित्य भी वर्त्तमान है जिसमें से कुछ विद्वानों को उपलब्ध भी है किन्तु शौरसेनी, मागधी एवं पैशाची आदि अन्य प्राकृत भाषाओं का साहित्य अत्यल्प है जो संस्कृत नाटकों एवं सट्टकों के केवल प्रारंभिक दो चरणों में है। कहा जाता है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा एक विशालकाय ग्रंथ रहा है जो पैशाची प्राकृत में था, किन्तु अब प्राप्य नहीं है। अपभ्रंश साहित्य बहुत विशाल है और कुछ ग्रंथ प्रकाशित भी हुए हैं, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि आज से पचास वर्ष पूर्व १९०२ ई० में पिशेल को 'मैटेरियल्स फॉर द नालेज ऑव अपभ्रंश' नामक पुस्तक में अपभ्रंश के कुछ अंशों का उपयोग करके ही संतुष्ट होना पड़ा था।

'अपभ्रंश' का सटीक शब्दार्थ अधिकतर अनुमान का विषय रहा है। पतंजलि को इस शब्द की जानकारी थी और उन्होंने अपने व्याकरण

महाभाष्य में इसका प्रयोग भी किया है, जहाँ यह विकृत या ऐसे शब्दों को व्यक्त करता है जो संस्कृत के पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत नहीं है अथवा जो अपभ्रष्ट या परंपराच्युत हैं, या जो पवित्र कर्मकाण्डों के अवसर पर प्रयोग की दृष्टि के असंगत हैं। इस बात का हमारे पास पुष्ट प्रमाण नहीं है कि शब्दों के अपभ्रष्ट रूप पतंजलि के समय तक शास्त्र-सम्मत थे या नहीं। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में तो पाणिनीय संस्कृत भी अपभ्रष्ट लग सकती है, किन्तु उनके समय में उनकी संस्कृत शिष्टों की भाषा मान ली गई थी। पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त छांदसी और भाषायाम्, से व्यक्त है कि पाणिनि के समय में वैदिक संस्कृत अप्रचलित थी और एक नई भाषा आविर्भूत हुई थी। मेरे विचार से इस प्रकार पुराने रूपों का अप्रचलित होना और नवीन रूपों द्वारा बोलचाल की भाषा निर्माण होना आज भी प्रचलित है। इस प्रकार वैदिक संस्कृत विकसित होकर शास्त्रीय अथवा पाणिनीय संस्कृत बनी जिसे हम 'भाषा' की संज्ञा देते हैं। बाण के समय में भी उक्त संस्कृत प्रचलित थी, किन्तु वह अपने मित्र ईशान को भाषा-कवि बतलाता है। (पुष्पदन्त ने भी अपनी रचना महापुराण में इनका उल्लेख किया है।) भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में संस्कृत और अपने समय में प्रचलित प्राकृत और उसकी विभाषाओं का उल्लेख किया है और दंडी आदि परवर्ती लेखकों ने महाराष्ट्र की भाषा का सर्वश्रेष्ठ प्राकृत के रूप में उल्लेख किया है। रुद्रट ने अपभ्रंश के भेदों का प्रान्तीय भाषाओं के रूप में उल्लेख किया है। भरत अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं करते, वे विभाषा और विशेषतः आभीरों की विभाषा का उल्लेख करते हैं। वे एक ऐसी भाषा का भी उल्लेख करते हैं जिसमें नाम और आख्यात दोनों प्रकार के उकारान्त शब्दों की प्रधानता है जैसी कि शास्त्रीय अपभ्रंश में भी है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि केवल शास्त्रीय अपभ्रंश में ही 'उ' कारान्त शब्द नहीं मिलते। मैं भाषाशास्त्रियों का ध्यान, बौद्ध-साहित्य की संस्कृत-पुस्तक 'ललित-विस्तर' और 'सद्धर्मपुडंरीक' की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ जिनमें 'उ'कारान्त नाम और आख्यात शब्दों का

प्रयोग मिलता है। क्या हम इन पुस्तकों की भाषा को संस्कृत की विभाषा नहीं कह सकते ? प्रसिद्ध 'धम्मपद' का एक प्राकृत रूपान्तर भी है जिसमें 'उ' कारान्त शब्द प्रायः आते हैं। तारानाथ के प्रमाण पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बौद्ध त्रिपिटक भी कई रूपों में पाये जाते हैं। उसके पाली और अंशतः संस्कृत रूप भी मिले हैं जिनसे हम परिचित हैं। 'धम्मपद' का प्राकृत रूप, जिसकी चर्चा हो चुकी है, त्रिपिटक का ही एक खण्ड है। बौद्धों के सामितीय मत का भी एक त्रिपिटक अपभ्रंश में रहा है जो दुर्भाग्यवश उपलब्ध नहीं है और इसके खण्ड रूप भी अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं। तारानाथ के प्रमाण पर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि इसका अपभ्रंश रूप भी रहा है। जो हो, आदर्श भाषा के साथ-साथ भाषाओं का अपभ्रंश रूप भी रहा है : वैदिक संस्कृत के साथ उसके अपभ्रष्ट रूप में शास्त्रीय संस्कृत; शास्त्रीय संस्कृत के साथ उसके अपभ्रष्ट रूप में 'ललित विस्तर' की बौद्ध संस्कृत और यह क्रम इसी प्रकार आगे भी चलता रहा है। अतएव, यह अनुमान ठीक ही है कि एक प्रकार का अपभ्रंश वैदिक संस्कृत के विकास के साथ-साथ रहा है और इसकी विशेषताएँ तत्कालीन प्रचलित शास्त्रीय रूपों पर आधारित रही हैं।

आज अपभ्रंश से हमें एक प्राकृत भाषा का बोध होता है जिसकी विशेषताएँ चंड, हेमचंद्र, त्रिविक्रिम पुरुषोत्तम मार्कंडेय तथा अन्य वैयाकरणों द्वारा निश्चित हैं। अपभ्रंश का अध्ययन भारत की आधुनिक भाषाओं के—विशेषतः हिंदी, गुजराती, मराठी, बंगला तथा उनकी उप-भाषाओं के विकास को ठीक-ठीक समझने के लिए अत्यावश्यक है। मुझे हर्ष है कि काशी विश्वविद्यालय के प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी श्री नामवर सिंह, एम० ए०, जिन्होंने १९५१ ईस्वी में एम० ए० की परीक्षा में शीर्ष स्थान प्राप्त किया था, की थीसिस '*हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग*' पुस्तक रूप में आ रही है। लेखक ने अपभ्रंश भाषा सम्बन्धी सारी समस्याओं का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन उपस्थित किया है, यही नहीं

अपने पूर्ववर्ती लेखकों की उन धाराणाओं की आलोचना भी की है जो उसे असन्तोषप्रद जान पड़ीं। पुस्तक के अन्त में उन्होंने कुछ परिशिष्ट भी जोड़ दिये हैं जो पाठकों के लिए उपयोगी हैं। मैं उनकी इस उत्तम कृति के लिए उन्हें बधाई देता हूँ और भाषाशास्त्रियों, विशेषतः स्वतंत्र भारत की राष्ट्र-भाषा हिंदी के विद्वानों को इसे पढ़ने के लिए आह्वान करता हूँ।*

हिन्दू विश्व विद्यालय, बनारस
१६ फरवरी, १९५२

(डा०) पी० एल० वैद्य

---

*अंग्रेजी से अनूदित

FOREWORD

It is only in recent years that scholars of Modern Indian Languages started taking interest in problems concerning the origin and growth of these languages. One of the most important links in this branch of studies is a scientific study of a group of languages known as the Prākrit languages such as Pāli, Mahārāṣṭrī, śauraseni, Māgadhī, Paiśāchī and Apabhraṁśa. Of these Pāli has got a vast literature which is available to scholars in carefully prepared editions printed in Roman-script and latterly in Singhalese, Burmese, and Siamese. Pāli books in the Devanāgarī script are also appearing off and on. The literary works in Mahārāṣṭrī particularly in Jain Mahārāṣṭrī exist in large number and some of them are available to scholars, but works in other Prākrit languages such as Sauraseni, Māgadhī and Paiśāchī is very scanty, covering in the first two passages found in the Saṁskrit dramas and Saṭṭakas only. It is said that Guṇaḍhya Brihat-Kathā reported to be a voluminous work, was written in Paiśāchī Prākrit but is no longer extant. Literature in Apabhraṁśa is vast and a few works are available in print, but it should be noted that in 1902, just fifty years back, Pischel had to remain content with a few bits which he put into a small publication known as 'Materials for the knowledge of Apabhraṁśa.'

The exact connotation of the term Apabhraṁśa has been a matter of considerable speculation. The term is known to Patañjali and used by him in his Vyākaraṇ Mahābhāṣya where it signifies corrupt

words or words not sanctioned by Saṁskrit grammarians like Pāṇini; and words which being Apabhraṣṭa or degenerated, are unfit to be used on occasions of sacred rituals. Whether the Apabhraṣṭa form in the age of Patañjali were standardised or no, we have no sufficient evidence. To vedic seers, even Pāṇini's Saṁskrit might appear as Apabhraṣṭa, but in his age his Saṁskrit attained the status of a Bhāṣā of the śiṣta's. Chhāndasī and Bhaṣayāṁ as used by early grammarians clearly indicate that in the age of Pāṇini Vedic language has gone out of use, and a new form of the language had made its appearance: In my view this process of old forms becoming obsolete and new forms constituting a Bhāṣā, i.e. a current language has continued even up to our age. So, we have Vedic Saṁskrit, and it devellopped into classical or Pāṇini's Samskrit which was called Bhāṣā; we have classical Saṁskrit current in the days of Bāṇa, but he mentions his friend Iśan as Bhāṣā-Kavi (he is also referred to by Puṣpadant in his Mahāpurāṇ). Bharat in his Naṭyaśaṣtra has mentioned Samskrit as also Prākrit and its Vibhāṣa which were current in his times, and subsequent writers like Daṇḍī have referred to the language of Mahārāṣṭrā as the best Prākrit. Rudraṭ refers to varieties of Apabhraṁśa as provincial froms Bharata does not use the term Apabhraṁśa ; he mentions Vibhāṣa and particularly the Vibhāṣā of the Abhīr's. He also mentions a Bhāṣa in which 'u' as ending vowel of words, both nouns and verbs figures prominently as in classical Apabhraṁśa. But it should be noted that classical Apabhraṁśa is not the only language which uses 'u' ending words. I should like to draw the attention of

linguists to the fact that Buddhist Saṁskrit, e. g., the verses in Lalit-Vistar and Saddharm Puṇḍatika use several from of nouns and verbs ending in 'u'. We cannot call then the language of these works as Vibhāṣā of classical Saṁskrit. There is a version of the famous Dhammapad known as the Prākrit Dhammapad in which 'u' ending forms figure prominently. We may even assume on the authority of Tārānāth that the Bauddha Tripiṭak exists in versions. The Pāli and saṁskrit versions, the latter in fragments, are discovered and known to us. The Prākrit version of the Dhammapad which is a work of the Tripiṭak has been just mentioned. The Sāmitīya School of the Buddhists had their Tripiṭak in the Apabhraṁśa version; unfortunately it is not extant, and even fragments of this version have not yet come to light. We can still assume on the authority of Tārānāth that the Apabhraṁśa version was in existence. In any case Apabhraṁśa form of a language existed side by side with the standard form; the classical Saṁskrit figuring as the Apabhraṣṭ form by the side of Vedic Saṁskrit. Buddhist Saṁskrit of Lalit-Vistar figured as Apabhraṣṭ by the side of classical Saṁskrit and the process went on further. It is therefore right to assume that a type of Apabhraṁśa existed throughout the development of the Vedic Saṁskrit, its characteristics depending on the classical form current at the time.

Today however, we understand by the term Apabhraṁśa a Prākrit language whose characteristics have been fixed by grammarians like Chanḍ, Hemachandra, Trivikrama, Puruṣottama, Mārkaṇḍeya and others. The study of the Apabhraṁśa is essential for correctly mastering the

growth of the languages of Modern India, particularly Hindi, Gujrati, Bengali, Marathi and all their subdialects. I am therefore glad to find Shri Nāmavara Singh, M. A., a brilliant student of the Banaras Hindu University, who topped the list of M. A. students in 1951, to come out with his thesis he offered at that examination on 'Hindī ke Vikās meñ Apabhraṁśa Kā Yōga' and to make it available in a book form. He has studied the entire problem of the Apabhraṁśa language scientifically and historically, and has not hesitated to criticise the views of his predecessors where they appeard to him to be unsatisfactory. To his thesis he has added a few appendices to make his study more usefull to the readers. I congratulate him on his excellent work and commend it to linguists, and particularly to the scholars of the Hindi language which has now rightly attained the status of the Rāṣṭrabhāṣā of free India.

Hindu University, Banaras,
16th. February, 1952. } (Dr.) P. L. VAIDYA

विषय-सूची

प्रथम खण्ड (भाषा)

द्वितीय खण्ड (साहित्य)

संक्षिप्त रूप

हिंदी

उक्ति०	उक्ति व्यक्ति प्रकरण
कबीर०	कबीर-ग्रंथावली
कीर्ति०	कीर्तिलता
जस०	जसहर चरिउ
पद्मा०	पद्मावत
प० च०	पउम चरिउ
महा०	महापुराण
मानस	रामचरितमानस
वर्ण०	वर्णरत्नाकर
सं० रा०	संदेश रासक
सुदामा०	सुदामाचरित
हि० ग्रै० अप०	हिस्टॉरिकल ग्रैमर ऑव अपभ्रंश
हेम०	हेमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण

अंग्रेजी

BSOAS	... Bulletin of the School of Oriental and African Studies.
DCRI ...	... Deccan College Research Institute.
GOS ...	... Gaikwar Oriental Series.
JRASB...	... Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal.
SJS ...	... Singhi Jain Series.

प्रथम खण्ड

(भाषा)

अपभ्रंश भाषा

उद्भव और विकास

भारतीय आर्यभाषा के विकास की जो अवस्था आज अपभ्रंश नाम से जानी जाती है, उसके लिए प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में अपभ्रष्ट और अपभ्रंश तथा प्राकृत-अपभ्रंश ग्रंथों में अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ट, अवहठ, अवहट, आदि नाम मिलते हैं। संस्कृत में प्रायः अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया गया है, 'अपभ्रष्ट' शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण जैसे दो-एक ग्रंथों ने ही 'अपभ्रष्ट' संज्ञा का व्यवहार किया है।[१] अवब्भंस और अवहंस शब्द अपभ्रंश के ही तद्भव रूप हैं। प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रंथों में जहाँ संस्कृत के लिए सक्कय और प्राकृत के पाइय, पाउँअ आदि रूप व्यवहृत हैं, वहाँ अपभ्रंश का अवब्भंस और अवहंस हो जाना स्वाभाविक है। उद्योतन की 'कुवलय माला कहा'[२] (८वीं शताब्दी ईस्वी) तथा पुष्पदन्त के महापुराण[३] (१०वीं शताब्दी ईस्वी) में ये दोनों शब्द मिलते हैं।

'अपभ्रंश' संज्ञा

इसी प्रकार अवहत्थ, अवहट्ठ, अवहठ, अवहट आदि रूप अपभ्रष्ट के तद्भव हैं और इनका प्रयोग परवर्ती कवियों में विशेष पाया जाता है। स्वयंभू

१ **अपभ्रष्टं** तृतीयं च तदनन्तं नराधिप। (खण्ड ३, अध्याय ३)

२ किं चि **अवब्भंस**-कआ दा···(अल्फ्रेड मास्टर द्वारा B S O A S. XIII, २ में उद्धृत); ता किं **अवहंसं** होहिइ ?···(अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० १७ पर उद्धृत)

३ सक्कय पायउ पुणु **अवहंसउ**। (सन्धि ५, कड़वक १८)

ने अपनी रामायण[१] (८वीं शताब्दी ईस्वी) में 'अवहत्थ' शब्द का प्रयोग किया है। शेष शब्दों का प्रयोग अद्दहमाण के संदेसरासक[२] (१२वीं शताब्दी ईस्वी), ज्योतिरीश्वर के वर्ण-रत्नाकर[३] (१४वीं शताब्दी ईस्वी का पूर्वार्द्ध) विद्यापति की कीर्तिलता[४] (१४वीं शताब्दी ईस्वी का उत्तरार्द्ध) और प्राकृत-पैङ्गलम् की वंशीधर-कृत टीका[५] (१६वीं शताब्दी ईस्वी) में मिलता है।

सबका अर्थ समान होते हुए भी अनेक कारणों से इस भाषा के लिए संस्कृत की अपभ्रंश संज्ञा ही गृहीत हुई।

अपभ्रंश का अर्थ

अपभ्रंश का साधारण शब्दार्थ स्पष्ट है। अपभ्रंश अर्थात् भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध। भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द-रूप च्युत हों, वे अपभ्रंश हैं। यह अवश्य है कि भाषा का एक सामान्य मानदण्ड बोलियों के अनेक विकृत शब्द-रूपों से ही स्थिर होता है; किन्तु उसके साथ ही यह भी निश्चित है कि लोक-व्यवहार में उस सामान्य मान के भी विकार होते रहते हैं। संभव है, प्रतिमान पर दृष्टि रखने वाले विद्वानों ने ऐसे विकारों को अपभ्रंश कहने की परिपाटी बना दी हो। लेकिन इस तरह के अर्थ तथा ऐसे ही दूसरे अर्थ अनुमान के ही विषय हो सकते हैं। अपभ्रंश शब्द का सटीक अर्थ जानने के लिए उसके प्रयोग का इतिहास देखना अधिक संगत होगा।

---

१ **अवहत्थे'** वि खल-यणु णिरवसेसु। (रामायण—१।४, हिंदी काव्यधारा में उद्धृत)

२ **अवहट्टय**-सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खण छंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं॥ (प्रथम प्रक्रम, छंद ६)

३ पुनु काइसन भाट-संस्कृत पराकृत अवहठ पैशाची सौरसेनी मागधी छहु भाषाक तत्वज्ञ. (षष्ठ कल्लोल, पृ० ४४)

४ देसिल वयना सबजन मिट्ठा। तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥ (पृ० ६)

५ प्रथमो भाषा तरंडः प्रथम आद्यः भाषा अवहट् भाषा·····(प्रथम गाथा की टीका)

प्राचीन ग्रंथों से पता चलता है कि संग्रहकार व्याडि को अपभ्रंश शब्द की जानकारी थी। भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् की वृत्ति में शब्द-प्रकृति पर विचार करते हुए लिखा है कि संग्रहकार के अनुसार अपभ्रंश की प्रकृति शब्द अर्थात् संस्कृत शब्द हैं।[1] संग्रहकार व्याडि का उल्लेख पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है।[2] इससे इतना तो स्पष्ट है कि व्याडि महाभाष्यकार के समय (दूसरी शती ईस्वी पूर्व) से पहले हुए थे। लेकिन अभी तक व्याडि का ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका है, इसलिए परोक्ष प्रमाण के आधार पर अपभ्रंश शब्द का इतिहास इतना पहले दिखाना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

अपभ्रंश शब्द की प्राचीनता

अपभ्रंश शब्द का स्पष्ट उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है।[3] पतञ्जलि ने उदाहरण देकर अपभ्रंश-संबंधी अपना विचार और भी स्पष्ट कर दिया। उनके अनुसार गौः जैसे शब्द 'शब्द' हैं अर्थात् साधु शब्द हैं; और लोक में इसके गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि जो विविध रूपान्तर मिलते हैं, वे अपशब्द अथवा असाधु शब्द हैं। इन्हें ही महाभाष्यकार ने अपभ्रंश कहा है।

पतंजलि जैसे लोकवादी मुनि के मुख से बोली के शब्दों के लिए अपशब्द और अपभ्रंश संज्ञा का प्रयोग सुनकर आश्चर्य होता है; क्योंकि उन्होंने स्थान-स्थान पर लोक-प्रचलित शब्द-रूपों को लक्षित ही नहीं किया है बल्कि शब्द-प्रयोग के विषय में लोक को ही प्रमाण माना

---

१ शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो। (वाक्यपदीयम्:—काण्ड १, कारिका १४८ का वार्तिक)

२ महाभाष्यम्—किलहार्न संस्करण, भाग १, पृ० ६, और ४६८; भाग ३, पृ० ३५६।

३ भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयाँसः शब्दा इति। एकैकास्य हि शब्दास्य बहवोऽपभ्रंशाः, तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः (वही, पस्पशाह्निक)

है । महाभाष्य का वैयाकरण और सूत संवाद प्रसिद्ध है जिसमें शब्द-प्रयोग को लेकर वैयाकरण को सूत के सम्मुख मुँह की खानी पड़ती है । यही नहीं, महाभाष्यकार ने अनेक जगह शब्द को 'लोक-विज्ञान' कहा है । 'लोकतो अर्थ-प्रयुक्ते शब्द-प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमो क्रियते' वार्तिक पर भाष्य करते हुए जो यह कह सकता हो कि 'अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः' उसके द्वारा लोक में व्यवहृत बोली के शब्दों के लिए अपशब्द का प्रयोग किया जाना कुछ विस्मयकर ही लगता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार ने उक्त कथन के द्वारा देव-वाणी संस्कृत के तत्कालीन आचार्यों का सामान्य विचार व्यक्त किया है । अपशब्द अथवा अपभ्रंश से उनकी घृणा का नहीं, बल्कि दृष्टिकोण-विशेष का पता चलता है ।

आगे चलकर हम देखते हैं कि व्याकरण में अपभ्रंश शब्द का यह अर्थ रूढ़ हो गया । यही नहीं, वैयाकरणों ने प्रायः 'गौ' वाले यही उदाहरण भी दुहराये हैं ।

संस्कृत व्यारण में अपभ्रंश शब्द

दण्डी (७ वीं शती ईस्वी) ने इसी परंपरा की ओर संकेत करते हुए कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से इतर शब्द को अपभ्रंश कहा जाता है ।[1] यहाँ शास्त्र से दण्डी का अभिप्राय संस्कृत के व्याकरण शास्त्र से है । दण्डी के इस कथन की पुष्टि उनेक वैयाकरणों द्वारा होती है । भरत मुनि ने समान शब्द के अतिरिक्त जिस विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है, वह यही अपभ्रंश है । भर्तृहरि (५ वीं शती) ने संस्कारहीन शब्दों को अपभ्रंश कहे जाने का उल्लेख किया है ।[3] महाभाष्य के टीकाकार कैयट (१० वीं शती ईस्वी) ने भी उन शब्दों को अपभ्रंश कहा है जो

१ शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् । (काव्यादर्शः १।३६)

२ समानशब्दं **विभ्रष्टं** देशीगतमथापि च । (नाट्यशास्त्रम्—१०।३)

३ शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ॥ (वाक्यपदीयम्, काण्ड १ कारिका १४८)

साधु शब्दों के समान अर्थ में लोक में प्रयुक्त होते हैं।[1] इसी तरह अन्य संस्कृत-वैयाकरणों का भी मत उद्धृत किया जा सकता है। इनसे व्याकरण शास्त्र में प्रचलित अपभ्रंश शब्द की उक्त अर्थ-परंपरा सहज ही पुष्ट होती है।

यहाँ एक बात की ओर विद्वानों का ध्यान उत्कृष्ट करना अनुचित न होगा कि इन वैयाकरणों ने संस्कृत से इतर भाषा अथवा बोली के लिए तो प्राकृत शब्द का प्रयोग किया, लेकिन संस्कृत से इतर शब्द के लिए अपभ्रंश शब्द का।

गावी-गोणी आदि अपभ्रंश शब्दों का विश्लेषण

सहज ही प्रश्न उठता है कि गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्द किस लोक-भाषा के थे ? इन शब्दों का सम्बन्ध किन प्राकृतों से था ? इस प्रश्न का समाधान महाभाष्य में तो नहीं मिलता, लेकिन प्राकृतिक-व्याकरणों में इनको समझने के कुछ सूत्र अवश्य प्राप्त होते हैं। चण्ड ने प्राकृत-लक्षणम् में गो के प्राकृत रूप 'गावी' का उल्लेख किया है।[2] हेमचन्द्र ने भी गोणी आदि प्राकृतिक रूपों का समर्थन किया है।[3] श्वेताम्बर जैनों के अर्धमागधी प्राकृत में लिखित ग्रन्थों में भी गावी और गोणी रूपों को लक्षित किया गया है।[4] इस प्रकार अपभ्रंश शब्दों पर विचार करते हुए वैयाकरणों का ध्यान क्रमशः संस्कृतेतर भाषाओं अथवा बोलियों की ओर गया और शीघ्र ही अपभ्रंश शब्द भाषा-विशेष के लिए भी प्रयुक्त होने लगा।

बहुत संभव है गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्द मूलतः गोपालक

१ अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानार्थश्च।
२ 'गोर गावी'। (प्राकृतलक्षणम्, २-१६)
३ गोणादयः। (सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन, ८-२-१४७)
४ 'खीरीणियाओ गावीओ' (आचाराङ्ग, श्रु० २, उ० ४)
'गोणीणं संगेल्लं' (व्यवहारसूत्र, उ० ४) इत्यादि।
[अपभ्रंशकाव्यत्रयी, भूमिका, पृ० ७२ पर उद्धृत]

भाषा-विशेष के लिए अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

आभीर जाति की बोलियों में प्रयुक्त होते रहे हों। दण्डी का यह कथन कि काव्यों में आभीर आदि की भाषा को अपभ्रंश नाम से स्मरण किया जाता है,[१] इस प्रसंग में विशेष महत्व रखता है। दण्डी के इसी कथन से यह भी अनुमान किया जाता है कि भरत मुनि ने जिस आभीरोक्ति का नाम लिया है[२] वह अपभ्रंश ही थी। लेकिन भरतमुनि द्वारा अपभ्रंश शब्द का प्रयोग न किया जाना कुछ तो अर्थ रखता ही है। कहा जा सकता है कि तीसरी शती तक भाषा-विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का व्यापक प्रसार नहीं हुआ था।

भाषा-विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग प्रायः छठीं शती ईस्वी के आस पास मिलता है। प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड प्रथम हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश भाषा का नामोल्लेख किया है।[3] इसी तरह संस्कृत आलंकारिकों में भामह को अपभ्रंश के प्रथम नामोल्लेख का श्रेय है।[४] इन सबके साथ ही वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र (छठीं शती ईस्वी) से भी अपभ्रंश नामक भाषा के अस्तित्व की पुष्टि होती है, जिसमें द्वितीय धरसेन ने अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की प्रबंध-रचना में निपुण कहा है।[५] इन सभी उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि ईसा की छठीं शताब्दी तक आते आते भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग होने लगा था। यही

१ आभीरादिगिरः काव्येष्व**पभ्रंश** इति स्मृता। (काव्यादर्श, १-३६)

२ **आभीरोक्तिः** शाबरी स्यात् द्राविडी द्रविडादिषु।
(नाट्यशास्त्रम् १७-५५)

३ न लोपोऽ**पभ्रंशे**ऽधो रेफस्य। (प्राकृतलक्षणम् ३-३७)

४ शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यपद्यं च तद्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यद**पभ्रंश** इति त्रिधा॥ (काव्यालङ्कार १-१६)

५ संस्कृतप्राकृता**पभ्रंश**-भाषात्रय-प्रतिबद्ध-प्रबन्धरचना-निपुणान्तः करणः

नहीं, बल्कि संस्कृत आलंकारिकों द्वारा अपभ्रंश में काव्य रचना भी लक्षित की गई। इसके साथ ही यह भी पता चलता है कि संस्कृत के आचार्यों ने संस्कृत और प्राकृत (महाराष्ट्री) के बाद तीसरा स्थान अपभ्रंश को ही दिया, सौरसेनी मागधी पैशाची आदि किसी प्राकृत को नहीं। ध्यान देने की बात है कि जो अपभ्रंश शब्द ईसा से दो शताब्दी पूर्व अपाणिनीय अपशब्द के लिए प्रयुक्त होता था, वही ईसा की छठीं शताब्दी तक आते आते एक साहित्यिक भाषा की संज्ञा बन गया।

अपभ्रंश और देशभाषा

फिर भी इस भाषा को बहुत दिनों तक देशभाषा ही समझा जाता रहा। संस्कृत के आचार्यों ने तो इसे देशभाषा कहा ही,[1] स्वयं अपभ्रंश कवियों ने भी अपनी भाषा को देशभाषा के रूप में स्वीकार किया। स्वयंभू ने अपनी रामायण को 'ग्रामीण भाषा' अथवा 'देसी भाषा' में रचित बतलाया है।[2] अपभ्रंश के दूसरे महान कवि पुष्पदन्त ने भी 'देसी' नाम से अपभ्रंश की ओर संकेत किया है।[3] इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अपभ्रंश से पहले प्राकृत को देसी कहने की प्रथा थी[4] और प्राकृत से भी पहले पालि के लिए इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता था।

---

१ षष्ठोऽत्र भूरिभेदो **देशविशेषादपभ्रंशः**। (रुद्रटकृत काव्यालङ्कार २-१२)
लोकेषु यत्स्यादपभ्रष्टसंज्ञं ज्ञेयं हि **तद्देशविदोऽधिकारम्**।
(विष्णुधर्मोत्तर ३-७)

२ **देसी भासा**-उभय तडुज्जल। कवि-दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल। (रामायण १)
छुडु होंति सुहासिय-वयणाइँ। **गामेल्ल भास** परिहरणाइँ॥ (रामायण १-३)

३ णउ हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु **देसि** ण वियाणमि।
(महापुराण १-८)

४ पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य **देसिवयणेहिं**।
नामेण तरङ्गवई कहा विचित्ता य विउला य॥ (पादलिप्त, तरङ्गावती कथा, 'पाहुड़ दोहा' की भूमिका में उद्धृत)

भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश देशभाषा (पालि) में ही किया था और उसी भाषा में उन्हें सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था। इसी तरह पालि से पूर्व पाणिनीय संस्कृत भी केवल 'भाषा' कहलाती थी क्योंकि छन्दस् की भाषा की तुलना में वह लोक-भाषा थी। स्वयं पाणिनि भी अपने समय की बोलचाल की भाषा संस्कृत का व्याकरण लिखते समय बीच-बीच में छन्दस् की आर्ष-वाणी की भी विशेषताएँ आँकते गए।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग में साहित्य-रूढ़ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी अवश्य रही है और यही देशी भाषा उस साहित्यिक भाषा को नया जीवन प्रदान कर सदैव विकसित करती चलती है। छन्दस् की भाषा ने तत्कालीन देशी भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूप ग्रहण किया और फिर संस्कृत अपने समय की देशी भाषा के सहयोग से प्राकृत के रूप में ढली। अवसर आने पर प्राकृत को भी अपनी आन्तरिक रूढ़ि दूर करने के लिए लोक-भाषा की सहायता लेनी पड़ी; फलतः भारतीय आर्यभाषा की अपभ्रंश अवस्था उत्पन्न हुई, जिसने आगे चलकर सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि आधुनिक देशी भाषाओं को जन्म दिया।

विकास के इस क्रम में ऐसी अवस्था आती है जब आरंभिक देशी भाषा शिष्टों की साहित्यिक भाषा बन जाती है और वैयाकरण लोग उसका नियम लिखते समय शिष्टों के प्रयोग को सामने रखते हैं। जिस अपभ्रंश को महाकवि स्वयंभू ने 'गामेल्ल भास' कहा था उसे ही ११वीं शताब्दी ईस्वी के वैयाकरण पुरुषोत्तम ने शिष्टों के प्रयोग से जानने की सलाह दी।[1]

निष्कर्ष यह निकला कि देशी भाषा अपभ्रंश एक दम नये सिरे से उत्पन्न नहीं हुई थी बल्कि उसकी पूर्ववर्ती साहित्यिक प्राकृत ही देशी भाषाओं के योग से अपभ्रंश की अवस्था में विकसित हो गई। नमिसाधु ने इसी बात को अपने ढंग से इस प्रकार लिखा है कि प्राकृत ही अपभ्रंश

प्राकृतमेवापभ्रंशः

१ शेषं शिष्टप्रयोगात् । (पुरुषोत्तम १७-६१)

है ।[1] परंतु विद्वानों ने इस कथन को बहुत दूर तक खींचकर प्राकृत और अपभ्रंश की अभेदता स्थापित करने की चेष्टा की है। सही बात का पता लगाने के लिए नमिसाधु के कथन का पूरा प्रसंग समझना आवश्यक है।

नमिसाधु का उक्त कथन रुद्रट की जिस कारिका से संबद्ध है, वह इस कार है—

प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषाश्च सूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश ॥

इस पर टीका करते हुए नमिसाधु ने सबसे पहले प्राकृत को संस्कृत से भी पूर्व तथा सर्वप्रथम स्थान दिए जाने का कारण बतलाया है और इसके साथ ही प्राकृत की परिभाषा भी दी है। पश्चात्, संस्कृत की परिभाषा दी है। इसके बाद क्रमशः मागधी, पैचाशी, सूरसेनी और अपभ्रंश का लक्षण कहा गया है।

उदाहरण-स्वरूप मागधी की विशेषता बतलाते हुए नमिसाधु ने लिखा है कि 'प्राकृतभाषैव किंचिद्विशेषलक्षणान्मागधिका भण्यते।' अर्थात् प्राकृत भाषा ही कुछ विशेष लक्षणों के साथ मागधिका कही जाती है। इसके बाद नमिसाधु ने मागधी के उन विशेष लक्षणों को सोदाहरण निर्दिष्ट कर दिया है। इसी तरह उन्होंने पैशाची, सूरसेनी आदि को भी किंचित् विशेषता के साथ प्राकृत कहा है।

जब भाषा-क्रम में अपभ्रंश का नाम आया तो उसी तरह अपभ्रंश को भी उन्होंने प्राकृत बतलाया। अपभ्रंश का लक्षण बतलाते समय नमिसाधु ने इतनी विशेषता दिखलाई कि उसके तीन भेदों का भी उल्लेख किया और उसके लक्षण के लिए विशेष रूप से लोक को ही मुख्य स्रोत माना। इतना ही नहीं, उन्होंने इसके लक्षणों का उल्लेख भी विस्तार से किया।

उपर्युक्त प्रसंग में 'प्राकृतमेवापभ्रंशः' कथन को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि—

1 रुद्रटकृत काव्यालङ्कारः २-१२ की टीका।

१. प्राकृत से नमिसाधु का अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत है।
२. अन्य प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश की भी प्रकृति महाराष्ट्री प्राकृत ही है।
३. किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत पर आधारित होते हुए भी अपभ्रंश मागधी आदि अन्य प्राकृतों से विशिष्ट है।

अपभ्रंश की प्रकृति के विषय में नमिसाधु के वे विचार बहुत कुछ दूसरे वैयाकरणों द्वारा भी समर्थित हैं। अपभ्रंश के सबसे बड़े वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी लिखा है अपभ्रंश में विशेष प्रयोग दिखाई पड़ते हैं वहाँ कहीं महाराष्ट्री प्राकृत और कहीं शौरसेनी प्राकृत की भाँति कार्य होता है।[१] सत्रहवीं शती के प्राकृत-वैयाकरण मार्कण्डेय ने भी इसी कथन का समर्थन किया है। मार्कण्डेय के अनुसार नागर अपभ्रंश महाराष्ट्री और शौरसेनी पर प्रतिष्ठित है।[२] इसका यही मतलब है कि कतिपय विशेष व्याकरणिक नियमों के अतिरिक्त अपभ्रंश प्रायः महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण की परंपरा का पालन करता है। अपनी पूर्ववर्ती भाषा से प्रत्येक भाषा का प्रायः यही सम्बन्ध होता है; कुछ दूर तक तो वह पूर्ववर्ती भाषा पर ही आधारित होती है; परन्तु भाषा-विकास के अपने नियमों के अनुसार वह पूर्ववर्ती भाषा का विकसित अथवा परिष्कृत और परिवर्द्धित रूप भी होती है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा अपनी प्रकृति से कुछ विशिष्ट और विभिन्न हो जाती है। प्रकृति संस्कृति से विकृति प्राकृत का यही सम्बन्ध है और प्राकृत अपभ्रंश का भी।

अपभ्रंश की प्रकृति

बात बड़ी सीधी है, फिर भी विद्वानों ने इस पर बड़ा विवाद किया

१ यस्य अपभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति। (सिद्धहेमशब्दानुशासन ८-४-३२९ की व्याख्या)
२ नागरं तु महाराष्ट्री शौरसेन्योः प्रतिष्ठितम्। (प्राकृतसर्वस्वम्, सप्तदश पाद)

है। प्राचीन काल के प्राकृत और अपभ्रंश के पक्षधर आचार्यों ने भी बड़े ही सहज ढंग से संस्कृत को प्रकृति मानकर प्राकृत-

प्रकृतिः संस्कृतम्

व्याकरण का आरंभ किया है। लेकिन आधुनिक युग के प्राकृत-प्रेमी विद्वानों ने इस सामान्य कथन के सामने भी प्रश्न चिह्न लगा दिया। 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' की संस्कृत भूमिका में श्री लालचन्द्र गांधी ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है।[1]

वस्तुतः 'प्रकृतिः संस्कृतम्' वाले कथन में आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिवाले विद्वानों के लिए खटकने वाली वस्तु यह है कि वहाँ प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न कहा गया है।[2] जो विद्वान् प्राकृत को लोक-भाषा तथा संस्कृत को उस लोक-भाषा का सुधारा-सँवारा हुआ परिष्कृत अथच कृत्रिम रूप मानते हैं, उनके लिए प्राकृत ही योनि है न कि संस्कृत।

यदि नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत को लें, तो साफ मालूम हो जाता है कि वह संस्कृत वाक्यों का ही यत्किंचित् ध्वनि-परिवर्तन किया हुआ रूप है। नाटकों के प्राकृत गद्य-पद्य को संस्कृत छाया के साथ मिला कर देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सम्भव है, संस्कृत को प्रकृति कहते समय वैयाकरणों के मस्तिष्क में यह तथ्य भी रहा हो। लेकिन इसके अतिरिक्त ऐसा भी मालूम होता है कि संस्कृत में प्रकृति-प्रत्ययादि नियमों के स्पष्ट विधान के कारण भी वैयाकरणों ने प्राकृतों के विवेचन में संस्कृत को आधार बनाया हो।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इस विषय में एक और युक्ति उपस्थित की है। उनके विचार से प्रकृति का अर्थ है साधारण, नियम, मॉडल, उत्सर्ग आदि, और इससे भिन्न जो विशेष, अलौकिक, भिन्न, अन्तरित और अपवाद है वह 'विकृति' की संज्ञा पाता है।[3] गुलेरी जी ने 'मीमांसा' से

१ अपभ्रंशकाव्यत्रयी, भूमिका, पृ० ८१-८४

२ प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकतम्।
(सिद्धहेम०, ८-१-१ व्याख्या)

३ पुरानी हिंदी, प्रथम संस्करण, पृ० ७७।

इन शब्दों का ऐसा अर्थ उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्धहेम-शब्दानुशासन' में प्राकृतों का अध्याय समाप्त करते हुए जो 'शेषं संस्कृत-वत्सिद्धम्' लिखा है,[१] उससे भी गुलेरी जी की उक्त युक्ति का समर्थन होता है। स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने प्राकृतों के विशेष लक्षणों का निर्देश करने के बाद अंत में यह लिखना आवश्यक समझा कि प्राकृतों के जो अन्य सामान्य लक्षण हैं वे संस्कृत के ही अनुसार समझे जायँ।

वस्तुतः संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति मानने में आपत्ति उठाने का मुख्य कारण है संस्कृत और प्राकृत का पूर्वग्रह-ग्रस्त अर्थ। कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली है कि प्राकृत का अर्थ है जन-साधारण की प्राकृतिक भाषा और संस्कृत का अर्थ है उस जन-बोली का संस्कार किया हुआ रूप। इस तरह की धारणा फैलाने में प्राचीन आचार्यों का भी बहुत कुछ हाथ है।

नमिसाधु ने सम्पूर्ण संसार के जन्तुओं की व्याकरण आदि के संस्कार से रहित सहज वचन व्यापार से उत्पन्न भाषा को प्राकृत कहा है। इसके विपरीत संस्कृत को उन्होंने पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट शब्द लक्षण से संस्करण की हुई भाषा को संस्कृत संज्ञा दी है।[२]

परंतु संस्कृत और प्राकृत का जो साहित्य प्राप्त है, उससे वस्तु-स्थिति कुछ और ही मालूम होती है। नमिसाधु ने व्याकरण आदि के संस्कार से रहित जिस सहज वचन व्यापार की आदर्श प्राकृत का उल्लेख किया है, उसमें रचे हुए साहित्य की जानकारी हमें नहीं है। साहित्य में प्रयुक्त होते ही वह 'सहज वचन व्यापार' कुछ न कुछ संस्कृत तो हो ही उठता है। इसलिए नाटकों और काव्यों की प्राकृत उस सहज वचन व्यापार का कोई

१. सिद्धहेम० ८-४-४४८।

२. 'सकलजगजन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।......पाणिन्यादिव्याकरणोदित-शब्दलक्षणेन संस्करणात्संस्कृतमुच्यते।' (रुद्रटकृत काव्यालङ्कार २-१२ की टीका)

न-कोई परिष्कृत रूप ही है और वैयाकरणों ने प्रकृति-प्रत्यय आदि से उस का भी संस्कार किया है। यदि संस्कृत को पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि आदि मिले तो प्राकृत को भी वररुचि और हेमचन्द्र जैसे वैयाकरण प्राप्त हुए। संस्कृत भी किसी-न-किसी सहज वचन व्यापार का ही परिष्कृत रूप है। बोली का संस्कार करके उसे समर्थ और व्यवस्थित रूप देना बुरी बात नहीं है। यह तो मानव-मनीषा का महत्वपूर्ण कार्य है। लेकिन आज-कल सहजता, स्वच्छंदता आदि की ऐसी हवा बही है कि भाषा के क्षेत्र में व्याकरण की व्यवस्था को अधिक अच्छा नहीं समझा जाता। संस्कृत के विरुद्ध प्राकृत की काल्पनिक सहजता के गौरव-बोध का भी यह कारण है।

इसलिए भारतीय आर्यभाषा के क्रम-विकास को ध्यान में रखते हुए संस्कृत को, प्राकृत से पूर्ववर्ती भाषा होने के कारण, साहित्यिक प्राकृत की प्रकृति मानने में वैज्ञानिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार जिस अर्थ में प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है, उसी अर्थ में अपभ्रंश की प्रकृति प्राकृत है—प्राकृत अर्थात् शौरसेनी आदि भेदों से युक्त मुख्यतः महाराष्ट्री प्राकृत।

अपभ्रंश की विशिष्टता

परन्तु अपभ्रंश को प्राकृत भाषाओं में से एक मानते हुए भी इसकी विशेष सत्ता के प्रति प्राचीन वैयाकरण सतर्क थे। जहाँ कहीं प्राकृत के भेदों के नाम गिनाये गये हैं, शौरसेनी मागधी पैशाची चूलिका-पैशाची तथा कभी-कभी आवन्ती और अर्ध-मागधी का भी नाम लिया गया है; परन्तु उन स्थलों पर अपभ्रंश का नाम किसी ने नहीं लिया है। प्रायः वैयाकरणों ने अपभ्रंश को इन सबसे स्वतन्त्र भाषा मान कर उसके भेदों की चर्चा अलग से की है। प्रमुख भाषाओं में संस्कृत, (महाराष्ट्री) प्राकृत और अपभ्रंश केवल तीन का नाम लेना ध्यान देने योग्य तथ्य है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आधुनिक भाषाओं के आरंभ से पूर्व भारतीय आर्य भाषाओंके इतिहास में यही तीन महत्वपूर्ण मंजिलें हैं।

किन्तु कुछ विद्वानों को भारतीय आर्यभाषा के विकास में संस्कृत

प्राकृत अपभ्रंश वग़ैरह इतनी मंजिलें गिनाना असंगत प्रतीत होता है। उनका कहना है कि जितनी मंज़िलें हमारे सामाजिक विकास ने भी तय नहीं की थीं, उससे अधिक मंजिलें भाषा के इतिहास में दिखाना अवैज्ञानिक है; क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की तुलना में भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन बहुत मन्द होता है। उनके अनुसार हिन्दी भाषा के जन्मकाल को इतनी मंज़िलों के बाद रखने का एक कारण सामन्ती और साम्राज्यवादी भाषाशास्त्रियों में आम जनता के प्रति घृणा-भाव भी था'।[1]

प्राकृत और अपभ्रंश को लोकभाषा मान कर अध्ययन करने वालों के मन में आम जनता के प्रति घृणा-भाव था या प्रेम-भाव, इसका निर्णय तो सामान्य जन ही करेंगे; लेकिन इन तमाम मंज़िलों को तोड़कर संपूर्ण भारतीय आर्यभाषा को हिंदी घोषित कर देने से आम जनता के प्रति प्रेम किस प्रकार प्रकट हो जाता है यह समझ में नहीं आता।

यदि भाषा-परंपरा की एकता और प्राचीनता पर जोर देना ही जनता के प्रति प्रेम प्रकट करने का प्रमाण है तो यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन्होंने संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि अनेक मंजिलें गिनाई हैं उन्होंने भी इनमें एकसूत्रता की तरह एक भाषा-परंपरा—'भारतीय आर्यभाषा' को स्वीकार किया है। 'भारतीय आर्यभाषा' के सिद्धान्त से जनता की भाषा परंपरा की एकता और प्राचीनता दोनों की पुष्टि होती है। भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास में संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि विकास-क्रम की अनेक मंजिलें गिनाने से भाषा-परंपरा की एकता को धक्का नहीं लगता।

लेकिन असल सवाल तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि मंजिलों की वैज्ञानिकता का है। क्या यह संभव नहीं है कि समाज-व्यवस्था के अपरिवर्तित रहते हुए उसकी भाषा में परिवर्तन होता चले ?

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग (१९वीं शती ईस्वी) से पूर्व भारतीय

---

१. हमारी जातीय भाषा के विकास की समस्या—डा० रामविलास शर्मा (लेख संग्रह, सं० १, मार्च १९५३) जन प्रकाशन गृह, बम्बई।

समाज का मूल ढाँचा बहुत कुछ स्थिर सा रहा। इस ढाँचे की नींव ग्राम-संगठन है जिसके ढाँचे में पिछले दो हजार वर्षों तक किसी प्रकार के *मौलिक* परिवर्तन का पता नहीं चलता। फिर भी हम देखते हैं कि उत्तर भारत की सोलहवीं शती की भाषा में पहली शती की भाषा से मौलिक अंतर है। तुलसीदास की भाषा वाल्मीकि की भाषा से बहुत भिन्न है; शब्दकोश में थोड़ा-बहुत साम्य भले ही मिल जाय; लेकिन दोनों के वाक्यगठन में महान अन्तर है, दोनों के व्याकरण दो हैं। एक हिंदी है और दूसरी संस्कृत। इस अन्तर को न देखना अथवा देखने से इनकार करना भाषा-संबंधी विवेक को पीठ देना है।

इससे सिद्ध होता है कि भाषा के विकास संबंधी अपने नियम होते हैं। समाज के स्थिर होते हुए भी भाषा बदल सकती है और समाज के जल्द जल्द बदलते रहने पर भी भाषा अपेक्षाकृत स्थिर रह सकती है। सामाजिक परिवर्तन धीरे-धीरे भाषा को प्रभावित करते चलते हैं लेकिन सामाजिक क्रान्ति भाषा में सहसा क्रान्ति नहीं ला सकती। परंपरा-निर्वाह संभवतः भाषा में सबसे अधिक दिखाई पड़ता है।

इसलिए प्राकृत भाषाओं में अपभ्रंश की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करना अवैज्ञानिक नहीं है।

वस्तुतः अपभ्रंश भारतीय आर्यभाषा में महत्वपूर्ण तथा कुछ मौलिक परिवर्तन की सूचना देती है। विद्वानों ने इस तथ्य को लक्षित किया है। संस्कृत के बाद प्राकृत में वैसा परिवर्तन नहीं हुआ जैसा अपभ्रंश में दिखाई पड़ा। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि सुबन्त तिङन्त या शब्द रूप और धातु-रूप की शैली में दोनों (पालि और प्राकृत) ही ने संस्कृत का अनुसरण नहीं छोड़ा।······और अपभ्रंश? यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया उसने नये सुबन्तों, तिङन्तों की सृष्टि की।' राहुल जी आगे लिखते हैं कि वस्तुतः संस्कृत से पालि और प्राकृत तक भाषा-विकास क्रमिक या अविच्छिन्न प्रवाह-युक्त हुआ, मगर

आगे वह क्रमिक विकास नहीं, बल्कि विच्छिन्न-प्रवाहयुक्त विकास—जाति परिवर्तन हो गया।[1]

वास्तविकता यह है कि किसी भाषा के विकास-सूचक सभी परिवर्तनों का क्रम लिखित रूप में नहीं मिलता, क्योंकि भाषा का निर्माण समाज के दैनंदिन जीवन में होता रहता है और साहित्य में तो उन छोटे-छोटे परिवर्तनों का संचित रूप ही सामने आ पाता है। इसलिए साहित्य में प्रयुक्त भाषाओं के बीच शताब्दियों में कुछ कुछ अन्तराल मिलते हैं। इन अन्तरालों के कारण कभी-कभी भाषा में जाति-परिवर्तन अथवा गुणात्मक परिवर्तन का भान होने लगता है। राहुल जी ने अपभ्रंश में भाषा का जो जाति-परिवर्तन लक्षित किया है, वह संभवतः इसी कारण।

विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि अपभ्रंश तक आते-आते भाषा में जिस जाति-परिवर्तन का आभास होता है, उसका आरंभ प्राकृत से ही हो चुका था और शताब्दियों के परिवर्तनों का संचित रूप अपभ्रंश में सहसा पहली बार दृष्टिगोचर हो उठा।

फिर भी इतना अवश्य है कि अपभ्रंश ने संस्कृत-व्याकरण के विस्तार को अत्यंत संक्षिप्त करके भाषा के ढाँचे को बहुत सरल बना दिया। अपभ्रंश तक आते आते संस्कृत और प्राकृत की तरह शब्द-रूप और धातु-रूप को रटने से जान बची। विभक्ति-चिन्हों की संख्या बहुत घट गई; विभक्तियों के विकारी-रूप कारक-निर्माण में समर्थ समझे जाने लगे; कारकों के लिए परसर्ग-प्रयोग की बहुलता आई। क्रियापदों में तिङन्त रूपों की जगह कृदन्त रूपों का प्रयोग बढ़ गया। वाक्य-विन्यास में शब्दों का स्थान और क्रम भी महत्वपूर्ण हो उठा।

इसी तरह की और भी अनेक बातें हुईं जिनसे अपभ्रंश को भारतीय आर्यभाषा के विकास में विशेष स्थान प्राप्त हुआ।

अपभ्रंश की इन्हीं विशेषताओं में से उकारान्त प्रवृत्ति की बहुलता भी

१. हिंदी काव्यधारा : अवतरणिका, पृ० ६।

एक है। भरत मुनि ने सबसे पहले एक उकार-बहुला भाषा की सूचना दी। उनके अनुसार हिमवत् सिन्धु और सैवीर में उकार-बहुला भाषा का प्रयोग होता था।[1] विद्वानों ने इस भाषा के विषय में अनुमान किया है कि यह आभीरोक्ति अथवा अपभ्रंश भाषा रही होगी।

उकार-बहुला भाषा

लेकिन डा० परशुराम ल० वैद्य ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि अपभ्रंश के अतिरिक्त 'प्राकृत धम्मपद', 'ललित विस्तर' और 'सद्धर्म पुण्डरीक' जैसे बौद्ध ग्रन्थों में भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति की बहुलता इन ग्रन्थों में भले ही न हो परन्तु डा० वैद्य के अनुसार यह अपभ्रंश की एकदम अपनी विशेषता नहीं है।

धम्मपद के प्रकृत रूपान्तर में से, जिसका रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी-पूर्व अथवा अधिक से अधिक पहली शताब्दी बतलाया जाता है, कहीं से छंद लेकर इस उकारान्त प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। यहाँ नमूने के लिए प्रथम दो श्लोक दिए जा रहे हैं।

उजओ नाम सो मगु अभय नमु स दिश।
रधो अकुयनो नमु धमत्रकेहि सहतो॥
हिरि तसु अवरमु स्मति स परिवर न।
धमहु सरधि ब्रोमि समेदिठिपुरेजवु॥[2]

उपर्युक्त श्लोकों में 'मगु' औ 'नमु' क्रमशः पालि शब्द 'मग्गो' और 'नाम' के रूपान्तर हैं; तथा 'अवरमु', 'धमहु' और 'पुरेजवु' क्रमशः 'अपालम्बो', 'धम्महं' और 'पुरेजवं' के।

प्राकृत-धम्मपद की दूसरी शती ईस्वी में लिखित प्रति पेशावर के

---

१ हिमवत्सिंधसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिता:।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत॥
(नाटयशास्त्रम्,)

२ प्राकृत धम्मपद—संपादक : बरुआ और मित्रा
(कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६२१ ई०)

आसपास खोतान के निकट गोशृंग अथवा गोशीर्ष विहार में प्राप्त हुई थी। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस रूपान्तर की भाषा पर उस प्रदेश की बोली का प्रभाव निश्चित रूप से होगा और यह उकारान्त की प्रवृत्ति उन्हीं प्रभावों में से एक है। इस अनुमान का समर्थन भरत के नाट्यशास्त्र से भी हो जाता है क्योंकि उन्होंने हिमवत्, सिंधु, सौवीर की ही भाषा को उकार-बहुला कहा है जो प्रदेश प्रायः प्राकृत-धम्मपद के रचना स्थान से बहुत-कुछ मिलते जुलते हैं।

इसी प्रकार ललित-विस्तर की संस्कृत में भी स्थान स्थान पर इस उकारान्त प्रवृत्ति की झलक मिल जाती है। यहाँ ललित विस्तर के संचोदना-परिवर्त से तीन छंद उद्धृत किए जा रहे हैं—

पुरि तुम नरवर सुतु नृपु यदभू
नरु तव अभिमुख इम गिरमवची।
दद मम इम महि सनगरनिगमां
त्यजि तद प्रमुदितु न च मनु क्षुभितो॥
पुरि तुम नरपति स्वकु द्विज यदभू
गुरुजनि परिचरि न च द्रुहि परतो।
स्थपयिसु द्विजवर बहुजन कुशले
च्युतु ततु भगवतु मरुपुरनिलयं॥
पुरि तुम नरवर त्यजिसुतु यदभू
मणि तव प्रपतितु जलधरि विपुले।
च्यवयितु क्षपयितु त्वथ महउदधिं
लभि तद धनमणि दृढबल वृषभी॥[१]

ललित-विस्तर में कहीं-कहीं क्षेपक भी अवश्य हुआ है और संचोदना परिवर्त में तो क्षेपक की संभावना सबसे अधिक है फिर भी विद्वानों का

१ ललित-विस्तर, पृ० १६५, १६६ (सम्पादक, डा० एस० लेफ़मान, हाल, १९०२ ई०)

अनुमान है कि ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी से पहले ही ललित-विस्तर का अंतिम रूप स्थिर हो चुका होगा। तात्पर्य यह कि इन उदाहरणों से उस समय तक उकार-बहुला भाषा का व्यापक प्रभाव प्रकट होता है। चूँकि अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बहुत मिलती है, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि उक्त प्रवृत्ति का दाय भाग मुख्यतः अपभ्रंश को ही प्राप्त हुआ होगा।

अपभ्रंश की ये तथा इनके अतिरिक्त दूसरी विशेषताएँ धीरे-धीरे ऐतिहासिक विकास के परिणाम-स्वरूप आती गईं। अपभ्रंश भाषा किस प्रकार एक छोटे से क्षेत्र की छोटी सी जाति की बोली से विकसित होती हुई समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई—इसका इतिहास बड़ा मनोरंजक है।

अपभ्रंश भाषा की आरम्भिक अवस्था

अपभ्रंश का जो साहित्य इस समय प्राप्त है उससे भाषा की आरंभिक अवस्था का पता लगाना बड़ा मुश्किल है क्योंकि वे सभी रचनायें बड़ी ही प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई हैं। इसलिए अपभ्रंश की आरम्भिक अवस्था का पता लगाने के लिए संस्कृत अथवा प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त उन उद्धरणों की छान-बीन करनी होगी जिनकी भाषा में अपभ्रंश के बीज दिखाई पड़ते हैं। नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में छन्दों के उदाहरण देते हुए भरत मुनि ने कुछ ऐसी कवितायें उद्धृत की हैं जिनमें अपभ्रंश की कतिपय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।[१]

१ मोरुल्लउ नचन्तउ। महागमे संभत्तउ॥

२ मेहउ हुतुं णेई जोण्हउ। णिच्च णिप्पहे एहु चंदहु॥

३ एसा हंसवहूहि इच्छाकाणणउ।
गंतुं जु उस्सुइया कंतं संगइया॥

४. पिय वाइ वायतुं उसुवसंत कालउ।

१ भविसयत्त कहा की भूमिका, पृ० ५१ पर डा० गुणे द्वारा उद्धृत।

पियकामुको पिय मदणं जणंतउ ॥

५. वायदि वादो एह पवाहि रुसिद इव ॥

उपर्युक्त छन्दों में 'उकार' प्रवृत्ति तो स्पष्ट है ही, मेह जोएह आदि संज्ञा शब्द तथा एहु एह जैसे सर्वनाम रूप और मोरुल्लउ में उल्ल स्वार्थिक प्रत्यय आदि विशेषताएँ ऐसी हैं जो अपभ्रंश की आरंभिक अवस्था की सूचना देती हैं। इनका पाठ ठीक नहीं है, इसलिए निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है; फिर भी यदि यह अंश परवर्ती नहीं है तो इन छन्दों को अपभ्रंश के बीज रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

आरंभिक अपभ्रंश का दूसरा नमूना कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है। उन छन्दों की प्रमाणिकता को लेकर विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। अधिकांश पंडितों का कहना है कि वे अपभ्रंश छन्द कालिदास-रचित नहीं है। जो हो, कालिदास के नाटक में उन ललित छंदों का स्थान पाना कम महत्वपूर्ण बात नहीं है, और दीर्घ परंपरा से उन्हें विक्रमोर्वशीय का एक अंग समझा जा रहा है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वैसी भाषा में काव्य का पाया जाना कोई असंभव बात नहीं है। संभव है यह कोई लोक गीत रहा हो जिसके माधुर्य से प्रभावित होकर कवि ने अपने नाटक में उसका उपयोग कर लिया हो। विक्रमोर्वशीय के वे छंद इस प्रकार हैं—

मइं जाणिअं मिअ-लोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ ॥ १

गन्धुम्माइय महुअर गीएहिं।
वज्जन्तेहिं परहुअ - रव-तूरेहिं ॥
पसरिय पवणुव्वेल्लिर पल्लव णिअरु।
सुललिअ विविह-पआरे णच्चइ कप्प अरु ॥ २

वंहिण पइं इअ अब्भत्थेमि आअक्खहि मं ता।
एत्थु रण्णे भमन्ते जइ पइं दिट्ठी सा महु कंता ॥
सिसम्महि मिअंक-सरिसें वअणें हंस-गइ।

एँ चिण्हें जाणिहसि आअक्खिउ तुज्झ मइं ॥ ३

परहुअ महुर-पलाविणि कन्ति ।
नन्दण-वण सच्छन्द भमन्ति ॥
जइ पइं पिअअम सा महु दिट्ठी ।
ता आअक्खहि महु पर पुट्ठि ॥ ४

रे रे हंसा किं गोविज्जइ ।
गइ अणुसारें मइं लक्खिज्जइ ॥
कइं पइं सिक्खिउ ए गइ-लालस ।
सा पइं दिट्ठी जहण-भरालस ॥ ५

हउं पइं पुच्छिमि अक्खहि गअ-वरु ।
ललिअ-पहारें णासिअ-तरु-वरु ॥
दूर-विणिज्जिअ ससहर-कंती ।
दिट्ठी पिअ पइं संमुह जंती ॥ ६

सुर-सुन्दरि जहण-भरालस पीणुत्तुङ्ग-घण-त्थणि ।
थिर जोव्वण तणु-सरीरि हंस - गइ ॥
गअणुज्जल-काणणे मिअलोअणि भमन्ते दिट्ठि पइं ।
तह विरह-समुद्दन्तरें उत्तारहि मइं ३ ७

लएँ पेक्खिविणु हिअएं भावमि ।
जइ विहि जोएं पुण तहिं पावमि ॥
ता रण्णे वि ण करिमि णिब्भन्ती ।
पुणु णइ मेल्लमि दाह कअन्ती ॥ ८

मोरा परहुअ हंस विहङ्गम ।
अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम ॥
तुज्झहं कारणें रण्णे भमन्ते ।
को ण हु पुच्छिउ मइं रोअन्ते ॥ ९

इन पंक्तियों में प्रयुक्त छन्द अपभ्रंश के एकदम अपने छंद है, प्राकृत में इस प्रकार के तुकांत छंदों का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ था। ध्वनि और

पदगठन दोनों ही दृष्टियों से इनकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के बहुत निकट है, फिर भी इसके कुछ पदों पर प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है।

आरंभिक अपभ्रंश के बिखरे हुये उदाहरणों में उद्योतनसूरि-कृत 'कुवलयमाला कहा' के कुछ अंशों को उद्धृत किया जा सकता है। स्वयं कवि ने अपनी ग्रन्थ-रचना का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो देसी भाषा के लक्षण और धातु जानता है वह विविध वचनों की गाथाओं से संपन्न 'कुवलयमाला' पढ़े—

जो जाणइ देसीओ-हासाओ लक्खणाइ धाऊ दय।
वयणय गाहा छेअं कुवलयमालं पि सो पढउ॥

देसी भाषाओं में भी निश्चय ही कवि ने अपभ्रंश को विशेष रूप से अपने सामने रखा है जिसका लक्षण बतलाते हुए उसने कहा है कि अवब्भंश बोलचाल की ऐसी भाषा है जो संस्कृत और प्राकृत के शुद्ध अशुद्ध पदों की तरंगों से तरंगायित रहती है।

सक्कय-पाय-उभय-सुद्धासुद्ध-पय-समतरङ्गरङ्गत-वग्गिरं।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में जहाँ अपभ्रंश पद्य के नमूने आए हैं, वे तो परिनिष्ठित अपभ्रंश के एकदम निकट हैं; जैसे—

जो जसु माणुसु वल्लहउं, तं जइ अण्णु रमेइ।
जइ सो जाणइ जीवइव, तो तहु प्राण लएइ॥

अथवा

जो णवि विहुरे विसज्जएणउ, धवलउ कड्ढइ भारु।
सो गोट्ठंगणमण्डणउ, सेसु उव्व जं सारु॥

इनमें से पहला दोहा एक ग्राम-नटी द्वारा गाया गया है और दूसरा एक गुर्जर-पथिक द्वारा। प्रसंग से दोनों की भाषा का भदेसपन पुष्ट हो जाता है।

इन पद्यों के अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ में अपभ्रंश गद्य के भी नमूने मिलते हैं जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि अपभ्रंश का जितना भी साहित्य प्राप्त हुआ है, उसमें गद्य के नमूने नहीं के बराबर हैं।

भणियं मायाइच्चेण "अहो, गाममहत्तरा ! महापावं मए कयं मित्त-दोज्झं णाम, ता अहं जलिअं कुआसणं पविस्सामि । देह मज्झ पसिअह कट्ठाइं जलण व" त्ति । तउ भणियं एक्केण गाम-महत्तरेण—

(१) एहु एहउं दुम्मणस्साहु । सव्वं जे थुजा आरिदु । तुज्झाणउं वंक वलितउं । पारद्धउं । एतु प्रइं सुगइ, भ्रातु-वर, भ्रांति संप्रतु । **तउ अण्णेण भणिय—**

(२) थुज विरइटु धण-लवाय सुह-लंपडे, एतु प्रइ दुत्थट्ट-मण-मोह-लुद्धउं । तु संप्रति ओलतउं । एतु एतु प्रारद्धु भल्लउं । तउ **अण्णेण भणिअं चिर जराजुण्णदेहेण—**

(३) एत्थ सुज्झति किर सुवण्णं ए वइसाणर-मुह-गतउं कउं पाउ मित्तस्स वंचण । कामालिअ-व्रत-धरणे एतु पाउ तुज्झे प्पणाहिय ।"

तउ सयल-ढ्रंग-सामिणा भणिअं जेट्ट-महा-मयहरेण—

(४) धवल-वाहण धवलदेहस्स सिरि भ्रमेति; जा विमल-जल-धवलुज्जल, सा भडारी-यति-गंग प्रावेसि तुहुं, मित्र द्रोज्झु तो णाम सुज्झति ।"

मायादित्य और ग्राममहत्तरों के इस कथोपकथन में जितना अंश कथोपकथन का है वह तो अपभ्रंश भाषा में है और शेष विवरण प्राकृत भाषा में । जहाँ तक त द आदि दन्त्य ध्वनियों के परिवर्तन का संबन्ध है, अनियमित हैं और सौरसेनी ध्वनि-समूह से प्रभावित प्रतीत होता है । 'वैश्वानर' से 'वइसाणर' होने में जो 'ऐ' का 'आइ' हो गया है वह ध्यान देने योग्य ठेठ अपभ्रंश का लक्षण है । इसके अतिरिक्त एहउ, दुम्मणस्-साहु आदि प्रयोग अपभ्रंश के अपने हैं ।

'कुवलयमाला' का दूसरा उदाहरण इससे भी अधिक मनोरञ्जक तथा भाषा के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । कथा का नायक राजकुमार मथुरा के एक अनाथ-मण्डप में पहुँचकर वहाँ के दीन-हीन कोढ़ी लूले आदि रोगग्रस्त गँवार लोगों से किस प्रकार बातचीत करता है इसका बड़ा ही सजीव चित्रण उद्योतन सूरि ने किया है ।

(१) सयलं पुहईमंडलं परिभमिऊण संपत्तो महुराउरीए। एत्थ एकम्मि अणाहमंडवे पविट्ठो। अवि य तत्थ ताव मिलियालए कोढ्ढीए, बलक्ख-खइयए, दीण, दुग्गय, अंधलय, पंगुलय, मंदुलय, मडहय, वामणय, छिएण-णासय, तोडिय-कएणय, छिएणोट्ठय, तडिय, कप्पडिय, देविय, तित्थयत्तिय, लेहाराय, धम्मिय, गुग्गुलिय, भोया, किं च बहुणा; जो माउ-पिउ-रुट्ठेल्लउ, सो सो सव्वो वि तत्थ मिलिएल्लउ त्ति। तांह च तेत्थु मिलिएलय रह समाणह एक्केक्क महा आलावा पयत्ता। "भो, भो, ! कयरहिं तित्थे दे [वे] वा गयाहं कयरा वाहि पावं वा पिट्टइ" त्ति।

(२) एक्केण भणिअं—"अमुक्का वाणारसी कोढिएहिं। तेण वाणारसीगयाणं कोढु फिट्टइ" त्ति।

(३) अणेण भणिअं—"हुँ हुँ! कहिउ वुत्तंतउ तेण जंपिएल्लउ! कहिं कोढं, कहिं वाणारसि? मूलत्थाणु भडारउ कोढइं जे देइ, उद्दालइ लोअहुं।"

(४) अणेण भणिअं—" रे रे! जइ मूलत्थाणु देइ, उद्दालइज्जं कोढइं ता पुणु काइं कज्जु अप्पाणु कोढि अल्लउ अच्छइ?"

(५) अणेण भणिअं—"जा ण कोढिएल्लउ अच्छइ ता ण काइं कज्जु? महाकालु भडारउ छम्मास-सेवाण कुणइ, जेण सूलहेज्जे फिट्टइ।"

(६) अणेण भणिअं—"काइं इमेण जत्थ चिरपरूढ पाउ फिट्टइ, तुब्भे उद्दिसह तित्थ।"

(७) अणेण भणिअं—"प्रयाग-वडपडिअहं चिरपरूढ पायवि हत्थ वि फिट्टंति।"

(८) अएणेण भणिअं—"अरे! पाव पुच्छिय पाय साहहि?"

(९) अएणेण भणिअं—"खेदु मेल्लहं; जइ परमाइं पिइवहकयइं पि महापावइं गंगासंगमे एहायहं भैरवभडारय-पडिअहं पासइ त्ति।"

शूरसेन प्रदेश के केन्द्र मथुरा में स्थित अनाथालय के लोगों द्वारा

शौरसेनी प्राकृत न बोलवाकर अपभ्रंश में बातचीत कराना ध्यान देने योग्य है। निःसंदेह भाषा पर प्राकृत का यत्र तत्र प्रभाव दृष्टिगोचर होता है किन्तु ध्वनि में उकार प्रवृत्ति और पदों में प्राकृत-विभक्तियों के खिरे हुए रूप भाषा की गति को अपभ्रंश की ओर उन्मुख बतलाते हैं। इन बातों के अतिरिक्त उपर्युक्त उद्धरण के शब्द-समूह में ठेठ देशी शब्दों का बाहुल्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है।[1]

आरंभिक अपभ्रंश के ये सभी बिखरे हुए उद्धरण मोटे तौर से ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक के हैं। इनसे स्पष्ट है कि उस समय तक अपभ्रंश की ध्वनियों और पदों का रूप स्थिर नहीं हो सका था; कहीं तो उनमें प्राकृत के रूपों की परिपाटी का पालन दिखाई पड़ता है और कहीं सरलीकरण की नई दिशा की ओर प्रयत्न। स्पष्ट रूप से इसका आधार मुख्यतः शौरसेनी प्राकृत है। इसका कारण शायद यह हो कि इनमें से लगभग सभी उद्धरण शूरसेन प्रदेश तथा उसके आसपास के क्षेत्र के हैं। संभव है, दूसरे स्थानों से अन्य सामग्री प्राप्त होने पर किसी और आधार का पता चले।

अब विचारणीय बात यह है कि वह कौन सी बोली थी, जिसका आश्रय लेकर शौरसेनी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत अपभ्रंश भाषा के रूप में विकसित हुई।

भरत मुनि ने किसी उकार-बहुला भाषा का क्षेत्र हिमवत् सिन्धु, सौवीर आदि प्रदेश अर्थात् पश्चिमोत्तर भारत बतलाया है। विद्वानों ने इसे आरंभिक अपभ्रंश बोली का क्षेत्र प्रमाणित किया है।

पश्चिमोत्तर भारत की बोली और अपभ्रंश

यदि इसे सच मानें तो कहना पड़ेगा कि तीसरी शताब्दी में जो पश्चिमोत्तर भारत की बोली थी वही क्रमशः विकसित होती हुई एक दिन पश्चिमी भारत तथा मध्यप्रदेश की साहित्यिक भाषा बन गई।

---

१ विशेष अध्ययन के लिये देखिये प्रो० अल्फ्रेड मास्टर द्वारा लिखित

लेकिन उतनी दूर की बोली का प्रसार इन प्रदेशों तक किस प्रकार हुआ और यही नहीं बल्कि वह बोली अपने उन मूल प्रान्तों से सरककर दूसरे क्षेत्रों में किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकी, इन प्रश्नों का समाधान आवश्यक है।

पंडितों ने इसका समाधान करते हुए दण्डी के प्रमाण पर कहा है कि अपभ्रंश मूलतः आभीरी बोली थी और महाभारत के अनुसार ईस्वी-पूर्व दूसरी शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत में आभीर जाति के पाए जाने का उल्लेख मिलता है। नकुल के प्रतीची-विजय-प्रसंग में आभीरों को सिन्धु के किनारे रहने वाला कहा गया है।[1] शल्यपर्व में बलदेव की तीर्थयात्रा के संदर्भ में आता है कि राजा ने उस विनशन में प्रवेश किया जहाँ शूद्र आभीरों के कारण सरस्वती नष्ट हो गई।[2] पश्चात् जब अर्जुन वृष्णियों की विधवाओं को लेकर द्वारका से चलते हुए पञ्चनद में प्रवेश करते हैं तो दस्यु लोभी और पापकर्मी आभीर हमलाकर के महिलाओं को छीन ले जाते हैं।[3] इन प्रसंगों के अतिरिक्त द्रोणाचार्य के सुपर्ण व्यूह में भी उनके दर्शन होते हैं।[4]

आभीरी बोली और अपभ्रंश

स्वाभाविक है कि सरस्वती के पास विनशन और पञ्चनद में आ बसने वाली इस दुर्धर्ष आभीर जाति ने अपनी बोली का भी प्रभाव प्रकट किया हो। किन्तु यह बात कल्पना से परे प्रतीत होती है कि बाहर से आने वाली जाति ने उस प्रदेश की पूर्ववर्ती भाषा को मिटाकर अपनी कोई नई भाषा चला दी हो। विजेता जाति की भाषा पराजित जाति की भाषा का स्थान ले ही ले ऐसा अनिवार्य नहीं है, और उस दशा में तो इसकी संभावना और

निबन्ध 'ग्लीनिंग्स फ्रॉम कुवलयमाला कहा, (बुलेटिन अव दि स्कूल ऑव ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज़, जिल्द १३, खण्ड २ और ४ १९५०—५१ ई०)

१ पर्व २, अध्याय ३२, श्लोक १० २ पर्व ९, अध्याय ३७, श्लोक १
३ पर्व १६, अध्याय ७, श्लोक ४४-४७ ४ पर्व ७, अध्याय २०, श्लोक ६

भी संदिग्ध हो उठती है जब पराजित जाति विजेता की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत हो तथा उसकी भाषा भी अधिक समृद्ध हो। आभीरों की तुलना में पञ्चनद की पूर्ववर्ती जाति और भाषा की श्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है।

इसलिए जैसा कि भारत में बाहर से आने वाली सभी जातियों के विषय में सच है, आभीर जाति भी यहाँ आकर वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर आ गई और इस तरह उसने यहाँ की स्थानीय बोली भी ग्रहण कर ली।[1] इतना ज़रूर है कि आभीरों ने उस क्षेत्र की बोली में अपने कुछ निजी शब्दों का मिश्रण कर दिया और कुछ दूर तक उसकी ध्वनियों को भी प्रभावित किया। परंतु इससे आगे बढ़ना ग़लत है। दो जातियों की भाषाओं के मिश्रण से सर्वथा किसी नई तीसरी भाषा का जन्म नहीं होता; बल्कि उन दोनों में से विजयी भाषा का ही व्याकरण आधार-भूमि का काम करता है, दूसरी भाषा उसमें विलीन हो जाती है। तात्पर्य यह कि यदि आभीरों की अपनी कोई बोली रही भी होगी तो पंजाब क्षेत्र की भाषा में विलीन हो गई होगी।

फिर भी यह प्रश्न तो रह ही गया कि पश्चिमोत्तर भारत की बोली मध्यदेश और पश्चिमी भारत की साहित्यिक भाषा किस प्रकार बनी? इसके समाधान-स्वरूप विद्वानों ने आभीर जाति के प्रसार के ऐतिहासिक आँकड़े दिए हैं। ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी में काठियावाड़ में आभीरों के रहने की बात कही जाती है। इसका आधार यह है कि काठियावाड़ के 'सुंद' नामक स्थान में प्राप्त महाक्षत्रप रुद्रदमन के एक अभिलेख में उसके एक आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है।[2] विद्वानों के अनुसार उक्त अभिलेख का समय १८१ ई० है।

महाक्षत्रप की सेना में एक आभीर सरदार का होना काठियावाड़ में समूचे आभीरों के निवास का कोई ठोस प्रमाण नहीं है। इससे अधिक से

---

१ डा० गुणे—भविस्सयत्त कहा की भूमिका पृ० ५३
२ डी० आर० भण्डारकर : इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९११ ई० पृ० १६

अधिक यह अनुमान लग सकता है कि शायद शकों से आभीरों का कुछ संबंध स्थापित हो गया हो और इस तरह आभीरों ने शक्ति संचित करके अपना प्रसार किया हो। इसे आभीर जाति के भावी विस्तार की भूमिका मात्र माना जा सकता है।

एन्थोवेन ने ईसा की तीसरी शताब्दी के अंत में काठियावाड़ में आभीरों के आधिपत्य को प्रमाणित करते हुए नासिक अभिलेख (३०० ई०) के आभीर राजा ईश्वर सेन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[१] समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले लौह स्तम्भलेख (३६० ई०) के अनुसार आभीर जाति उस समय गुप्त साम्राज्य की सीमा पर राजस्थान, मालवा, दक्षिण पश्चिम तथा पश्चिमी प्रदेशों में डँटी हुई थी। पुराणों के अनुसार आन्ध्र-भृत्यों के बाद दकन आभीर जाति के ही हाथ आया और छठीं शती के बाद हाथ से निकल गया। उस समय ताप्ती से देवगढ़ तक का प्रदेश इन्हीं के नाम पर विख्यात था। जार्ज इलियट के अनुसार ८वीं शताब्दी में जब काठी जाति ने गुजरात में प्रवेश किया तो उसने देखा कि उसका अधिकांश भाग आभीरों के हाथ है।[२] एन्थोवेन ने सिद्ध किया है कि खानदेश में आभीरों का स्थायी निवास महत्वपूर्ण तथ्य है। १५वीं शताब्दी में असीरगढ़ का किला आशा अहीर द्वारा स्थापित बताया जाता है। इधर मध्यदेश में मिर्ज़ापुर ज़िले का अहिरौरा आभीरों के ही नाम से प्रसिद्ध माना जाता है।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि एक समय इस दुर्धर्ष जाति ने बड़ी तेज़ी से समूचे उत्तर भारत में छा जाने का उद्योग किया था। यदि इस प्रवाह के साथ अपभ्रंश का भी प्रसार हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। संभव है दण्डी जैसे आचार्य ने इस जाति के आतंक और प्रभाव

---

१ आर० ई० एन्थोवेन : ट्राइब्स एंड कास्ट्स आँव बाम्बे, भाग १, पृ० २१
(गुणे द्वारा भवि० की भूमिका में उद्धृत)

२ सप्लिमेंटरी ग्लॉसरी : एस० बी०, अहीर

को देखकर ही समस्त ग्रामीण बोली के लिए आभीरादि-गिरा संज्ञा का प्रयोग कर दिया हो क्योंकि भाषायें या तो प्रभावशाली जाति के नाम से जानी जाती हैं अथवा उस भाषा-भाषी प्रदेश के नाम से। इसका मतलब इतना ही हो सकता है कि अपभ्रंश बोलने वाले लोगों में आभीरों की बहुलता थी; यह नहीं कि अपभ्रंश आभीर जाति के साथ बाहर से लाई गई कोई विदेशी बोली थी।

'आभीरादि' में आदि कौन ?

यहाँ दण्डी के 'आभीरादि' कथन में 'आदि' के द्वारा किन जातियों की ओर संकेत है इस पर भी ध्यान जाना स्वाभाविक है। अनुमान है कि उनमें से एक जाति गुर्जर अवश्य होगी। यद्यपि गुर्जरों की अपनी बोली गौज्जरी का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है, तथापि यह भी तथ्य है कि भड़ोंच के गुर्जरों ने अपभ्रंश को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया है। भण्डारकर और जैकसन की खोजों से पता चलता है कि छठीं शताब्दी ईस्वी में गुर्जरों ने गुजरात और भड़ोंच को जीता। उनकी मुख्य शाखा की राजधानी भीनमाल थी और दसवीं शताब्दी के मध्य तक उन्हें चालुक्यों के कारण भीनमाल छोड़ने को विवश होना पड़ा। परिणाम-स्वरूप ६५८ ई० में १८००० गुर्जरों ने सामूहिक रूप से एक साथ भीनमाल का इलाक़ा छोड़कर देशान्तर किया।[1] गुजरात नाम इन्हीं के कारण पड़ा। ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि इन्होंने उस समय की पश्चिमी भारत की बोली अपभ्रंश को भी प्रभावित और प्रसारित करने में योग दिया हो।

संभव है, आभीरों और गुर्जरों के अतिरिक्त ऐसी ही अन्य गोपालक

---

१ डी० आर० भंडारकर : 'ऑन गुर्जर (जे० बी० बी० आर० ए० एस०) जिल्द २१ पृ० ४१२, १६०२ ई०

ए० एम० टी० जैकसन : बॉम्बे गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० ४६५-६६ (एन० बी० दिवैतिया द्वारा गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर), जिल्द १, पृ० ३५ पर उद्धृत।

जातियों ने अपभ्रंश के प्रसार में योग दिया हो।

क्या अपभ्रंश मूलतः पंजाब राजस्थान और गुजरात की बोली थी ?

इस तरह यदि अपभ्रंश मूलतः पश्चिमोत्तर भारत की बोली न भी रही हो, तो भी पश्चिमी भारत की बोली से उसका संबंध होने की कल्पना की जा सकती है। यहाँ राजशेखर के कथन को ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपभ्रंश सकल भूरुमूमि, टक्क और भादानक देशों में प्रयुक्त होती है।[1] भाषावैज्ञानिकों ने प्रायः अपभ्रंश से राजस्थानी और गुजराती का घनिष्ठ संबंध दिखलाया है। यद्यपि सीधे अपभ्रंश से पंजाबी का साम्य दिखाने की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम गया है, तथापि राजस्थानी और पंजाबी की निकटता के उदाहरण प्रायः दिए जाते हैं। यदि यह सच है तो इन क्षेत्रों में बहुतायत से रचे हुए अपभ्रंश साहित्य की भाषा का यहाँ की बोली से शक्ति ग्रहण करना स्वाभाविक है। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य इसी क्षेत्र के प्रमुख नगरों और जैन भंडारों में प्राप्त हुआ है जैसे अहमदाबाद, जैसलमेर, पाटण आदि। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि अपभ्रंश के अधिकांश कवि इसी क्षेत्र के रहने वाले थे अथवा उन्होंने इसी क्षेत्र में अपने साहित्य की रचना की है। धनपाल, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, हरिभद्र, जिनदत्त आदि ने गुजरात में, देवसेन ने मालवा में, रामसिंह ने राजपुताना तथा अब्दुल रहमान ने मुल्तान में, अपने ग्रन्थ रचे।

फिर भी डा० सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषावैज्ञानिक का विचार है कि पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश शूरसेन या मध्यदेश की चालू बोली के आधार पर मुख्यतया बनी थी। उनके अनुसार इधर राजस्थान, गुजरात तथा पञ्जाब की और उधर कोशल की अपभ्रंश या अंतिम युग की प्राकृत का उस पर प्रभाव भर पड़ा था।[2]

१ सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।

२ राजस्थानी भाषा, पृ० ६०

लेकिन डा० चटर्जी ने उसी पुस्तक में अपने उक्त मत के विपरीत विचार प्रकट करते हुए कहा है कि शौरसेनी अपभ्रंश की भाषा प्रारम्भ ही से किसी ख़ास प्रान्त की अविकृत लौकिक कथ्य या चालू भाषा नहीं थी—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अन्तर्वेद तथा पञ्जाब में प्रचलित अपभ्रंश बोलियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित साहित्यिक भाषा या शैली ही थी।[1]

यही नहीं, डा० चटर्जी ने उसी प्रसंग में अत्यंत प्राचीन काल से सौराष्ट्र और शूरसेन की बोली में अंतर दिखलाने की चेष्टा की है और अपभ्रंश-काल में इस अंतर को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न एक अनुमानित 'सौराष्ट्र अपभ्रंश' का अस्तित्व बतलाया है। यदि यह सच है तो अपभ्रंश को दो बोलियों का मिश्रण मानना चाहिये। लेकिन ऐसा होता नहीं।

वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश-काल में पञ्जाब राजस्थान, गुजरात शूरसेन तथा उत्तरी महाराष्ट्र की भाषा में कोई मौलिक व्याकरणिक भेद न था। थोड़े से उच्चारणगत ध्वनिपरक भेदों तथा कतिपय व्याकरणिक विशेषताओं को छोड़कर भाषा का ढाँचा सर्वत्र बहुत कुछ एक ही सा था। यह तथ्य प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा निरूपित विभिन्न प्राकृतों के लक्षणों से पुष्ट होता है जहाँ केवल थोड़े से ध्वनि-विकारों की विशेषताएँ अंकित करके शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि को 'शेषं प्राकृतवत्' कहकर चलता किया गया है। इसीलिये कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन वैयाकरणों द्वारा निरूपित महाराष्ट्री, शैरसेनी, मागधी आदि भेद भौगोलिक नहीं हैं।

सारांश यह है कि अपभ्रंश बोलने वाले लोगों में आभीर गुर्जर आदि चाहे जिस जाति की प्रधानता रही हो, परन्तु भौगोलिक दृष्टि से वह प्रायः पश्चिमी भारत की बोली थी। नागर अपभ्रंश अर्थात् परिनिष्ठित अपभ्रंश इसी बोली का सहित्यिक रूप था। आज अपभ्रंश संज्ञा से

१ राजस्थानी भाषा, पृ० ३५

लोगों को पश्चिमी अपभ्रंश का ही बोध होता है। कुछ लोग उसे शौरसेनी अपभ्रंश भी कहते हैं। परन्तु शौरसेनी अपभ्रंश कहते समय मन में यह स्पष्ट रहना चाहिये कि वह अकेली शौरसेनी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी नहीं थी। डा० ग्रियर्सन का भी यही मत है।[1]

साहित्यिक अपभ्रंश मूलतः और मुख्यतः पश्चिमी भारत की बोली होती हुई भी ८ वीं से १३ वीं शताब्दी तक समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी। एक ओर इसमें बङ्गाल के सरह और काण्ह जैसे सिद्ध कवियों ने दोहा-कोशों की रचना की और मिथिला में ज्योतिरीश्वर तथा विद्यापति ने स्थानीय बोली का पुट देकर साहित्यिक अपभ्रंश में ग्रंथ लिखे तो दूसरी ओर मुल्तान में अब्दुल रहमान का भी कंठ इसी में फूटा। दक्षिण में मान्यखेट के पुष्पदंत ने इसी वाणी को अपने हृदय का हार बनाया, असये के कनकामर मुनि ने इसी में चरित गाया और महाकवि स्वयंभू ने रामायण की रचना के लिए इसी भाषा को चुना।

विचारणीय बात है कि पश्चिमी भारत की बोली को संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा होने का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ? वह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उत्तर भारत की समस्त बोलियाँ मिल जुल कर नवीं दसवीं शताब्दी के आस पास एक विशाल राष्ट्रीय अथवा जातीय भाषा के रूप में केन्द्रीभूत हो उठीं?

यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक और आर्थिक केन्द्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक विशाल राष्ट्रीय भाषा के रूप में ढल जाती हैं।

अपभ्रंश के उत्थान का ऐतिहासिक कारण

नवीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजनीतिक मानचित्र पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बंगाल में पाल, कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया था और इनमें कान्यकुब्ज के लिए आपसी संघर्ष

१ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द १, भाग १, पृ० १२५ की

बराबर चल रहा था। भौगोलिक दृष्टि से कान्यकुब्ज का राज्य उत्तरभारत का केन्द्र था और राजनीतिक दृष्टि से भी प्रतिहारों ने उस केन्द्र की सार्थकता प्रमाणित कर दी थी। उनके छत्र के नीचे अनेक सामंत थे; राजपूताना, गुजरात तथा मध्यभारत से कान्यकुब्ज तक सारा उत्तर भारत बहुत कुछ एक सूत्र में गुंथा हुआ था।

इतना होते हुए भी कान्यकुब्ज के दरबार में वहाँ की देशभाषा को वैसा राज्याश्रय प्राप्त न था जैसा संस्कृत को प्राप्त था। उनकी अपेक्षा पाल और राष्ट्रकूट राजा देशभाषा के कहीं अधिक संरक्षक थे। सरह-कारह आदि चौरासी सिद्ध कवि पालों के ही शासन काल में हुए। उधर पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे महान अपभ्रंश कवियों की शक्ति का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटों की ही छत्र-छाया में हुआ। इसलिए आरंभ में तत्कालीन बोलियों को अपभ्रंश के रूप में केन्द्रित करने और इस तरह उसे विकसित करने का श्रेय मुख्यतः राष्ट्रकूटों को है।

राष्ट्रकूट राजा लाट, सौराष्ट्र से लेकर कान्यकुब्ज तक धावा बोलते रहते थे; यहाँ तक कि लाट और सौराष्ट्र तो बहुत दिनों तक उनकी एक शाखा के अधिकार में भी था। राहुल जी के अनुसार दिल्ली के पास से पुष्पदंत को तथा कोसल से स्वयंभू को अपने यहाँ ले जाने का श्रेय इन्हीं के आक्रमण को है। स्वयंभू राष्ट्रकूट ध्रुव (७८०-९४) के किसी अमात्य रयडा धनंजय के साथ दक्षिण गए और पुष्पदंत कृष्ण तृतीय के मंत्री भरत के साथ।[1] राष्ट्रकूटों के अपने राज्यक्षेत्र की भाषा जो भी रही हो, परंतु आरंभ में उनका संबंध पश्चिमी भारत (राजस्थान और सौराष्ट्र) से था इसलिए उनकी अपनी भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही प्रतीत होती है।

प्रतिहारों के विपरीत, राष्ट्रकूट राजा जैन थे और उनकी प्रजा का अधिकांश संपन्न समाज जैन वैश्य था इसलिए उन्होंने स्वभावतः ही जैनों द्वारा बोली और लिखी जाने वाली भाषा अपभ्रंश को संरक्षण दिया। उस

---

१. हिन्दी काव्य धारा : अवतरणिका पृ० २५-२७।

समय पश्चिम भारत का अधिकांश वाणिज्य जैन वैश्यों के हाथ में था। धीरे-धीरे गुजरात इस वाणिज्य का केन्द्र हो चला था; इसलिए इस क्षेत्र की भाषा का राष्ट्रीय भाषा के रूप में उत्थान स्वाभाविक ही था।

आगे चलकर जब १० वीं शताब्दी का अंत होते-होते मान्यखेट के राष्ट्रकूट गतश्री होने लगे तो गुजरात में सोलंकी चालुक्यों की शक्ति प्रबल हो उठी जिसमें सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल जैसे जैन मत के पोषक और अपभ्रंश साहित्य के उन्नायक उत्पन्न हुए। सिद्धराज स्वयं तो जैन न था, फिर भी उस पर जैन मन्त्रियों का पर्याप्त प्रभाव था। अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन मत के आचार्य कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि को संरक्षण देने का श्रेय सिद्धराज को ही है। साहित्य-सृजन केलिए हेमचन्द्र को धन और जन की कितनी सुविधाएँ राज्य की ओर से दी गई थीं यह उस युग में किसी के लिए भी ईर्ष्या का विषय हो सकता था।

और कुमारपाल तो प्रायः हेमचन्द्र द्वारा जैन मत में दीक्षित ही हो गया था। उसकी 'अमारिघोषणा' इतिहास में प्रसिद्ध है। कुमारपाल ने भी अपभ्रंश को यथेष्ट संरक्षण किया।

इस तरह मान्यखेट के राष्ट्रकूटों के बाद पाटण के सोलंकी दूसरे राजा हुए जिन्होंने अपभ्रंश भाषा और साहित्य के उत्थान में बहुत बड़ा कार्य किया। सोलंकियों के शासन काल में गुजरात का वैभव पराकाष्ठा पर था। वाणिज्य और संस्कृति दोनों में वह भारत का सिरमौर हो रहा था। स्वाभाविक था कि ऐसे राज्य की साहित्यिक भाषा उस समय की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो।

यद्यपि उसी समय कान्यकुब्ज में प्रतिहारों को हराकर महाप्रतापी गाहड़वाल सिंहासनासीन हुये थे जिसमें गोविंद चन्द्र (१०६३-११३४ ई०) और उसका पौत्र जयचन्द्र (११७०-६३ ई०) जैसे चक्रवर्ती राजा हुए, तथापि उनके द्वारा लोक भाषा को कोई प्रश्रय नहीं मिला। उनके दरबार में संस्कृत का ही सम्मान था। श्रीहर्ष जैसे संस्कृत के पंडित कवि से

गाहड़वालों का दरबार सुशोभित था। ऐसे सुसंस्कृत दरबार में भला लोक भाषा के कवि की कहाँ पूछ !

गाहड़वाल राजाओं ने निःसंदेह महान सांस्कृतिक कार्य किये, लेकिन उन्होंने अपने समय की जीवंत लोक भाषा को छोड़कर साहित्य-रूढ़, परम परिणत और विकास-रुद्ध संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन दिया, या यों कहें उसे अपने अलङ्करण का साधन बनाया। शायद ब्राह्मण धर्म के प्रबल समर्थक होने के कारण गाहड़वालों ने जैनों के द्वारा प्रवर्द्धित अपभ्रंश को प्रश्रय देना उचित नहीं समझा।

कथा-कहानियों और किंवदंतियों से मालूम होता है कि अंतिम दिनों में परवर्ती गाहड़वालों ने लोक-भाषा की ओर ध्यान देना आरम्भ किया था। जयचन्द्र का महामन्त्री विद्याधर लोक-भाषा का अच्छा कवि था।[१] इधर दामोदर पण्डित द्वारा लिखी हुई 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसे उक्त पण्डित ने गाहड़वाल राजाओं को लोक भाषा में संस्कृत पढ़ाने के लिए लिखी थी।[२] परवर्ती गाहड़वालों के लोक-भाषा-प्रेम के ये प्रमाण हैं। लेकिन यह प्रेम तो तब पैदा हुआ जब अपभ्रंश अपना कार्य पूरा कर रही थी और आधुनिक देश-भाषायें अंकुरित हो चली थीं। मतलब यह कि गाहड़वालों ने अंत तक अपभ्रंश को राज्याश्रय नहीं दिया। इसलिए उस समय सांस्कृतिक केन्द्र कान्यकुब्ज न होकर पाटण रहा क्योंकि वह उभरती हुई नई संस्कृति—लोक-संस्कृति और लोक-भाषा अपभ्रंश का केन्द्र था। तत्कालीन राष्ट्रभाषा अथवा साहित्यिक भाषा पर पछाँहीं प्रभाव का मुख्य कारण यही है।

उपर्युक्त राजनीतिक घटनाओं के वर्णन से यह न समझना चाहिए कि अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा बनाने का श्रेय केवल कुछ राजाओं को है। किसी भाषा को बड़ी छोटी करना किसी राजा के बूते की बात नहीं

---

१. प्राकृत-पैङ्गलम्, प्रबन्ध चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह
२. डा० मोतीचन्द (सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ)

है। भाषा का मूल स्रोत तो लोक समाज ही है और उसे यथेष्ट रूप देने की शक्ति भी उसी लोक के हाथ में है। फिर भी उस युग में राजकीय अथवा साम्प्रदायिक संरक्षण के अभाव में लोक द्वारा रची हुई अनेक रचनायें सुरक्षित न रह सकीं। इसलिए अपभ्रंश के उन्नयन में राजकीय और साम्प्रदायिक संरक्षण की चर्चा करना उसे अनुचित महत्व देना नहीं है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजाओं ने राजनीतिक और व्यवसायिक केन्द्रों के निर्माण में भी बहुत बड़ा कार्य किया जिनसे बिखरी हुई लोक-बोलियों में केन्द्राभिमुख प्रवृत्ति आई। इसे भूलना ठीक नहीं है। यद्यपि अपभ्रंश इतने विस्तृत भूभाग की व्यापक साहित्यिक भाषा रही फिर भी उसमें स्थान-भेद से कुछ विविधता आ ही गई।

इस तथ्य की ओर पुराने पण्डितों का भी ध्यान गया। उन्होंने अपभ्रंश के विविध भेदों की चर्चा की है। विष्णुधर्मोत्तर ने देश-भेद से अपभ्रंश के अनन्त भेद माने हैं।[1] एक तरह से यह उचित

अपभ्रंश के भेद

है क्योंकि हर दस कोस पर भाषा का बदल जाना सामान्य जनश्रुति है। फिर भी इस भेद की एक सीमा है। प्राचीन आचार्यों ने इस सीमा का निर्देश किया है। नमिसाधु ने अपभ्रंश के उपनागर, आभीर और ग्राम्य तीन भेद बतलाए हैं।[2] मार्कण्डेय ने भी अपभ्रंश के तीन ही भेद माने हैं परन्तु उनके नाम नामिसाधु द्वारा निर्दिष्ट नामों से भिन्न हैं। मार्कण्डेय ने नागर, उपनागर और व्राचड तीन नाम दिये हैं।[3] मार्कण्डेय से यह भी मालूम होता है कि कुछ लोग २७ अपभ्रंश मानते रहे हैं जिनके नाम हैं वाचड, लाट,

१ देशभाषाविशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते। (विष्णु० ३।३)

२ स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। टीका—काव्यालङ्कार २।१२

३ नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः।
अपभ्रंशः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मता॥ (प्राकृतसर्वस्वः ७)

वैदर्भ, उपनागर, नागर, बार्बर, अवन्त्य, पाञ्चाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड, ओड्र, वैवपश्चात्य, पांड्य, कौन्तल, सैंहल, कलिङ्ग्य, प्राच्य, कार्णाट, काञ्च्य, द्राविड, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय, वैताल आदि।[1] परन्तु पुराने आचार्यों ने ही इन प्रभेदों का युक्तिपूर्ण ढङ्ग से खंडन कर दिया है इसलिये इनपर विचार करना व्यर्थ है।

विचारणीय वर्गीकरण है नमिसाधु और मार्कण्डेय का। नमिसाधु के विवेचन से मालूम होता है कि उपनागर से उनका तत्पर्य वही है जो मार्कण्डेय का नागर अपभ्रंश से है। सामान्यतः यह परिनिष्ठित अपभ्रंश है। किन्तु उपनागर का लक्षण बतलाते हुये एक स्थान पर नमिसाधु ने 'अभूतोऽपि क्वाप्यधो रेफः क्रियते'[2] का विधान किया है और उदाहरण-स्वरूप 'व्राचालउव्रचव्रचउक्कारवक्रूखीत्यादि' को रखा है। संभव है इसे कुछ लोग व्राचड का लक्षण समझें। शेष का लक्षण नमिसाधु ने नहीं बतलाया है।

दूसरी ओर मार्कण्डेय ने नागर अपभ्रंश के लिये पूरे तीन पाद (१७, १८ और १९), व्राचड के लिए ११ सूत्र और उपनागर के लिये केवल एक सूत्र का विधान किया है। व्राचड को मार्कण्डेय ने सिंधु देशोद्भव कहा है तथा उपनागर को नागर और व्राचड का संकर।

इन लक्षणों से विविध अपभ्रंशों के मौलिक भेदों का पता नहीं चलता।

आधुनिक विद्वानों ने अपभ्रंश का वर्गीकरण क्षेत्रीय आधार पर किया है। डा० याकोवी ने 'सनत्कुमार चरिउ' की भूमिका में अपभ्रंश को पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और उत्तरी चार भागों में बांटा है। इस विभाजन का कोई भाषावैज्ञानिक आधार नहीं प्रतीत होता। संभवतः ग्रन्थों के रचना-स्थान को दृष्टि में रखकर ही डा० याकोवी ने ऐसा वर्गीकरण किया है। अधिक से अधिक पूर्वी अपभ्रंश के बारे में यह कहा जा सकता है कि

1 प्राकृतसर्वस्व—४
2 अभूतोऽपि क्वचित्। ८।४।३९९ (हेमचन्द्र)

डा० याकोबी ने पूर्वी प्रदेशों के प्राकृत वैयाकरणों और अपभ्रंश रचनाओं में कुछ समानता देखी हो।

अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद

लेकिन ऐसे कमज़ोर आधार पर किसी भाषा के भेदों का निरूपण करना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। डा० याकोबी के वर्गीकरण की त्रुटियों की ओर इशारा करते हुए डा० तगारे ने कहा है कि एक तो काण्ह-दोहा-कोष तथा सरह-दोहकोष और पुरुषोत्तम, रामतर्कवागीश तथा मार्कण्डेय जैसे प्राकृत-वैयाकरणों के अपभ्रंश में कोई विशेष समानता नहीं है; दूसरे, उत्तरी अपभ्रंश की केवल एक कृति मिलती है जिसकी रचना किसी बनिया ने १५ वीं शती में की थी। इस तरह उत्तरी और पूर्वी दोनों अपभ्रंशों के आधार ठोस प्रमाणित नहीं होते।[1]

इस वर्गीकरण के स्थान पर डा० तगारे ने एक त्रिविध वर्गीकरण का सुझाव दिया है।[2] डा० याकोबी के वर्गीकरण से इसमें यही विशेषता है कि इसमें उत्तरी अपभ्रंश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इस वर्गीकरण का भी आधार रचना-स्थान ही है लेकिन उसकी पुष्टि के लिये डा० तगारे ने दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंशों में भाषा-व्याकरण-संबंधी भेद भी दिखलाने की कोशिश की है।

डा० तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश के अंतर्गत पुष्पदंत के महापुराण, जसहर-चरिउ और णायकुमार-चरिउ तथा कनकामर के करकंड-चरिउ

दक्षिणी अपभ्रंश

काव्यों की गणना की है। कारण स्पष्ट है। इनकी रचना क्रमशः मान्यखेट और अस्सये (बरार) में हुई, इसलिए अनुमान के लिए सहज छूट मिल जाती है कि इन काव्यों की भाषा पर स्थानीय बोलियों की छाप अवश्य पड़ी होगी। इन काव्यों की भाषा संबंधी विशेषताओं को अलग करने के लिये डा० तगारे ने कुछ ऐसे संज्ञा-पद और क्रिया-पद दिखलाए हैं जो

---

१ हि० ग्रै० अप० : भूमिका पृ० ६६ २ वही पृ० ६८

परिनिष्ठित अपभ्रंश अथवा पश्चिमी अपभ्रंश के रूपों से अतिरिक्त हैं। जैसे,

१. दक्षिणी अपभ्रंश की ध्वनि संबन्धी विशेषता यह है कि संस्कृत-ष का विशेषतः-छ होता है; जब कि अन्य अपभ्रंशों में-क्ख या-ख होता है।

२. अकारान्त पुंल्लिग शब्द का तृतीया एक वचन में अधिकांशतः -एण वाला रूप मिलता है; जब कि परिनिष्ठित रूप-एँकारान्त है।

३. उत्तम पुरुष एक वचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया—मि परक होती है; जैसे, करमि; जब कि परिनिष्ठित रूप—उँ परक होता है; जैसे करउँ।

४. अन्य पुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया-न्ति परक होती है, जैसे करन्ति; जब कि परिनिष्ठित रूप-हिं परक होता है; जैसे, करहिं।

५. सामान्य भविष्यत् काल के क्रियापद अधिकांशतः—स—परक होते हैं; जैसे, करिसइ; जब कि परिनिष्ठित रूप प्रायः—ह—परक होते हैं; जैसे करिहइ।

६. पूर्वकालिक क्रिया के लिए—इ प्रत्यय का प्रयोग नहीं के बराबर अथवा बहुत कम; जब कि यह प्रत्यय परिनिष्ठित अपभ्रंश में सर्वाधिक प्रयुक्त होती थी; जैसे, सुनि, चलि आदि।

उपर्युक्त विशेषताओं की छानबीन करने से पता चलता है कि ये स्थानगत उतनी नहीं हैं जितनी शैलीगत। डा० तगारे ने पुष्पदंत और कनकामर की भाषा में जिन्हें दक्षिणी अपभ्रंश की अपनी विशेषताएँ कहा है वस्तुतः वे बहुत कुछ प्राकृत-प्रभाव हैं। विविध वैकल्पिक रूपों में से प्राचीन और नवीन रूपों का अलगाव करके किसी निर्णय पर पहुँचना अधिक लाभदायक होता; लेकिन डा० तगारे ने यहाँ इस विवेक का परिचय नहीं दिया है। पुष्पदंत की भाषा को मराठी की जननी प्रमाणित करने के आवेश में डा० तगारे की दृष्टि से यह तथ्य ओझल हो गया कि पश्चिमी अपभ्रंश

नाम से अभिहित 'भविस्सयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'महापुराण' की भाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं है। दोनों ही की रचना परिनिष्ठित अपभ्रंश में हुई है; थोड़ा बहुत जो अंतर है भी वह केवल शैली संबंधी है और रचयिता-भेद से इतना-सा भेद आ जाना स्वाभाविक है।

निष्कर्ष यह निकला कि दक्षिणी अपभ्रंश नामक एक अलग भाषा की कल्पना निराधार और अवैज्ञानिक है।

पूर्वी अपभ्रंश

डा० तगारे के 'पूर्वी अपभ्रंश' की मान्यता सरह और काण्ह के दोहा-कोषों पर आधारित है। इन दोहाकोषों की भाषा में परिनिष्ठित अपभ्रंश के अतिरिक्त जो स्थानीय विशेषताएँ हैं उन्हें अलगाते हुए डा० तगारे ने जिन तथ्यों की तालिका दी है, उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

१. पूर्वी अपभ्रंश में कुछ संस्कृत ध्वनियों का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

(i) क्ष>ख—,—क्ख—; जैसे क्षण> खण;
अक्षर<अक्खर

(ii) त्व> तु—,—त्त—; जैसे त्वम्> तुहुँ; तत्व>तत्त

(iii) द्व>दु—; जैसे द्वार>दुआर

(iv) व>व ; जैसे वज्र>बज्ज, वेद>बेअ

(v) ष
स > श ; जैसे

२. संस्कृत श सुरक्षित रहता है।

३. आद्य महाप्राणत्व नहीं होता।

४. लिंग की अतंत्रता बहुत अधिक है।

५. निर्विभक्तिक संज्ञा पद बहुत मिलते हैं; अविकारी सामान्य-कारक बनाने की प्रवृत्ति सभी अपभ्रंश से अधिक दिखाई पड़ती है।

६. अन्य अपभ्रंशों की तरह यहाँ पूर्वकालिक और क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्ययों में मिश्रण नहीं हुआ। पूर्वकालिक प्रत्यय—अइ का प्रयोग

पूर्वी अपभ्रंश में क्रियार्थक संज्ञा के लिए भी हुआ है जैसे;
करइ = (i) करि (ii) करना

७. क्रियार्थक संज्ञा के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश की—अण प्रत्यय का यहाँ प्रायः अभाव है। प्रायः—इब∠तव्यत् प्रत्यय से क्रियार्थक संज्ञा भी बनाई जाती है।

डा० तगारे ने पूर्वी अपभ्रंश की जो उपर्युक्त विशेषताएँ लक्षित की हैं वे प्रायः ठीक हैं; लेकिन यदि वे दोहाकोषों की सीमा से आगे बढ़कर सरह और काण्ह की गीतियों अथवा चर्यापदों की भाषा का विश्लेषण करते तो उपर्युक्त स्थापनाओं की पुष्टि के लिए पुष्कल प्रमाण मिलते; साथ ही कुछ और भी नई विशेषताएँ दृष्टिगोचर हो जातीं। वस्तुतः दोहाकोषों की रचना बहुत कुछ परिनिष्ठत अपभ्रंश में ही हुई है, जो पछाँही भाषा थी; उनमें केवल कहीं कहीं कुछ स्थानीय प्रभाव तथा लिपि-शैली के कारण पूर्वी प्रदेश की बोली के लक्षण दिखाई पड़ जाते हैं।

चर्यापदों की भाषा में दोहाकोषों की अपेक्षा पूर्वीपन अधिक है। किसी एक दोहा और चर्यापद की तुलना से यह बात स्पष्ट हो सकती है। नीचे तुलना के लिए काण्ह का ही एक दोहा तथा एक गीत उद्धृत किया जा रहा है।

(१) जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त ॥३२॥

(२) नगर बाहिरे डोम्बि तोहोरि कुडिआ।
छाइ छोइ जाइँ सो बाम्हण नाडिया।
आलो डोम्बि तोए सम करिब म संग।
निघिण काण्ह कपालि जोई लाँग ॥१० (अंश)

दोहों की भाषा में डा० तगारे को जो भूत कृदन्त प्रत्यय—ल अथवा -इल के दर्शन नहीं हुए, चर्यापदों में इसके दर्जनों उदाहरण उन्हें सहज ही मिल जाते।

(१) हउ सूनेलि महासुह लीलें ॥१८॥ (काण्ह)

(२) सुअने मइँ देखिल तिहुँअण सुण्ण ॥३६॥ (काण्ह)
(३) चीआ राअ-सहावे मूकल ॥३२॥ (सरह)
(४) सरह भणइ बप उजु बट भइला ॥३२॥ (सरह)

गीतों की भाषा में पूर्वीपन का होना स्वाभाविक था क्योंकि वे साधारण लोगों के गाने के लिये लिखे गये थे। इनके विपरीत दोहों की भाषा का पछाँह की परिनिष्ठित अपभ्रंश में होना अनिवार्य था क्योंकि उनमें ज्ञान की सूक्ष्म बातें कही गई थीं। साखी (दोहा) को पछाँह की परिनिष्ठित भाषा में कहने तथा सबदी (पद) को स्थानीय पूर्वी बोली में गाने की परंपरा सिद्धों के बाद भी कबीर आदि तक चलती रही।

साहित्य की भाषा में पछाँह और पूरब का क्षेत्रीय भेद प्राकृत-काल से ही चला आ रहा है और अपभ्रंश-युग में उस भेद के मिट जाने का कोई तर्कसंगत ऐतिहासिक कारण नहीं दिखाई पड़ता।

इसलिए डा० तगारे के वर्गीकरण में जहाँ दक्षिणी अपभ्रंश नामक भेद केवल कल्पना है, वहाँ पूर्वी अपभ्रंश का भेद वास्तविक है, इस शर्त के साथ कि पूर्वी अपभ्रंश की अधिकांश विशेषताएँ चर्यापदों में सुरक्षित हैं। चर्यापदों के आधार पर पूर्वी अपभ्रंश की स्थापना की जाती तो डा० तगारे से प्रो० अल्फ्रेड मास्टर को यह शिकायत न रहती कि पूर्वी अपभ्रंश के वर्गीकरण का आधार बहुत स्वल्प है।[1]

किन्तु इसके साथ ही अल्फ्रेड मास्टर की यह सम्मति युक्तिसंगत प्रमाणित नहीं होती कि डा० तगारे का क्षेत्रीय विभाजन उचित है। मास्टर को आपत्ति है अपभ्रंश के पूर्वी भेद पर, जब कि आपत्ति होनी चाहिए उस के दक्षिणी भेद पर।

वस्तुतः भारतीय आर्यभाषा की पूर्ववर्ती परंपरा के अनुसार अपभ्रंश के भी केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी, जिनमें पश्चिमी अपभ्रंश परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अपभ्रंश उसकी विभाषा-मात्र थी।

१ बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज़:, खण्ड १३, भाग २

अपभ्रंश के इससे अधिक भेदों की सत्ता मनाने के लिए इस समय कोई गुंजाइश नहीं है।

वैभाषिक और क्षेत्रीय दोनों भेदों के बावजूद अपभ्रंश भाषा का एक परिनिष्ठित रूप भी था। इस परिनिष्ठित अपभ्रंश का मूल आधार पश्चिमी प्रदेशों की बोली थी और ऐतिहासिक दृष्टि से यह शौरसेनी प्राकृत की परम्परा में थी। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे पश्चिमी अपभ्रंश और कुछ शौरसेनी अपभ्रंश कहते हैं। हेमचन्द्र ने भी अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश का व्याकरण लिख चुकने के बाद अन्त में 'शेषं शौरसेनीवत्' लिख कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है। इसका अर्थ इतना ही है कि शौरसेनी अथवा पश्चिमी अपभ्रंश ने शौरसेनी प्राकृत की कुछ विशेषताओं का निर्वाह करते हुए बहुत सी नई विशेषताएँ भी प्राप्त कर ली थी। अपभ्रंश के इस परिनिष्ठित रूप को ठीक-ठीक जानने के लिए उसमें प्रचलित प्राकृत के दाय भाग और स्वयं अपभ्रंश द्वारा आर्जित अपनी विशेषताओं का पृथक् पृथक् बोध आवश्यक है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश और उसकी मुख्य विशेषताएँ

लेकिन प्राचीन भाषाओं का वास्तविक रूप जानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि वे जीवित भाषाओं की तरह बोलचाल के रूप में प्राप्त न होकर लिपि के मध्यम से ही सुलभ हो पाती हैं। इसलिए उनकी ध्वनि-संबंधी सूक्ष्मताओं की ठीक-ठीक जानकारी तो हो ही नहीं पाती, कभी-कभी लिपिकारों के प्रमाद से रूप-सम्बन्धी विशेषताओं में भी गड़बड़ी हो जाती है। यह बात अपभ्रंश भाषा के भी विषय में लागू होती है। अपभ्रंश की अधिकांश ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ तथा कुछ रूप-सबंधी विशेषताएँ उसके ग्रन्थों की लिपि-शैली (आर्थोग्राफी) पर निर्भर हैं।

लिपि-शैली की कठिनाइयाँ

यद्यपि अपभ्रंश काव्यों के विद्वान सम्पादकों ने बहुत सावधानी से सम्पादन करके अनेक काव्यों का वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत किया है; फिर भी ध्वनि-विचार और रूप-विचार को प्रभावित करने वाली कुछ लिपि-

शैली सम्बन्धी समस्यायें रह जाती हैं।

'संदेश-रासक' की भाषा पर विचार करते हुये श्री हरिवल्लभ भायाणी ने लिपि-शैली की कुछ समस्यायें उठाई हैं।[1]

१—अनुनासिक-विधि अपभ्रंश-लिपि-शैली की पहली समस्या है जिसका प्रभाव उसके रूप-विचार पर भी पड़ता है। उदाहरण-स्वरूप तृतीया और सप्तमी के एक वचन और बहुवचन के लिये विभक्ति-चिह्न कहीं –हिं मिलता है और कहीं–हि। इस तरह षष्ठी एकवचन और बहुवचन में भी कहीं–हँ है और कहीं–ह। अनुनासिक-विधि द्वारा उत्पन्न होने वाले ये अन्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

२—लिपि-शैली की दूसरी समस्या है इ और य का परस्पर-विपर्यय। पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में इसके कारण काल-क्रम का अंतर पड़ जाता है।

३—इस लिपि-शैली में य' श्रुति की अनिश्चितता भी बहुत देखी जाती है। फिर अ आ और अ आ के बीच में य' श्रुति का प्रयोग अनिवार्यतः दिखाई पड़ता है जब कि इ ई और उ ऊ के पूर्व प्रायः लुप्त रहता है; इनके अतिरिक्त अन्यत्र स्थिति के अनुसार वैकल्पिक होता है।

४—ण् और न् के लेखन में भी अपभ्रंश लिपिकारों ने पर्याप्त प्रमाद दिखलाया है। संपादकों ने प्रायः शब्द के आरंभ में 'ण' को ही प्रश्रय दिया है। लेकिन आदि 'न' का सर्वथा बहिष्कार करना कठिन है।

५—ब् और व् के अनुलेखन में भी काफ़ी गड़बड़ी है। अनेक लिपिकारों ने प्रायः 'ब' को 'व' लिखा है।

ऐसी स्थिति में अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषताओं पर अंतिम निर्णय देना खतरे से ख़ाली नहीं है; फिर भी अनेक ग्रन्थों की छान-बीन करते-करते विद्वानों ने कुछ सामान्य नियम स्थिर किये हैं जिन्हें स्वीकार किया जा सकता है।

प्रायः यह देखा जाता है कि प्राकृत से स्वतंत्र अपभ्रंश-ध्वनि-विचार

---

१ 'संदेश-रासक', भूमिका १०

ध्वनि-परिवर्तन के नियम नाम की कोई चीज़ नहीं है। अपभ्रंश ध्वनियाँ मूलतः प्राकृत ध्वनि-समूह का ही अनुसरण करती हैं। अपभ्रंश की विशिष्टता केवल दो बातों में दिखाई पड़ती है।

(क) ध्वनि-परिवर्तन की जो प्रवृत्ति प्राकृत में सामान्य थी वह अपभ्रंश में विशेष प्रबल अथवा प्रधान हो उठी; या

(ख) अपभ्रंश में कुछ ध्वनि-परिवर्तन ऐसे भी हुए जो प्राकृत से सर्वथा नए थे।

१—इस तरह अपभ्रंश में ध्वनि-परिवर्तन की पहली और सबसे प्रधान प्रवृत्ति है—'अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण।'[1] इसका तात्पर्य यह है कि जो अपभ्रंश के अपने शब्द हैं उन सबका अंत ह्रस्व-स्वर से होता है।

अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत संस्कृत पालि और फिर प्राकृत काल से ही चली आ रही है, लेकिन अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में संस्कृत-ओ का उ हो जाना (जैसे, देवो >देवु) इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। स्वयं अपभ्रंश में भी कालक्रम से यह प्रवृत्ति बहुत तेज़ी के साथ बढ़ रही थी। छंदों में पंचमी-षष्ठी एकवचन के विभक्ति चिह्न—हे और—हो क्रमशः हॅ और—हॉ की तरह उच्चरित होने लगे थे। हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं—गिरिहॅ सिलायलु, तरुहॅ फलु; कन्तहॉ दोसड़ा आदि,

इस प्रधान प्रवृत्ति के अतिरिक्त विद्वानों ने अपभ्रंश स्वर-परिवर्तन संबंधी कुछ और छोटी छोटी प्रवृत्तियों का ब्यौरा दिया है। डा० तगारे के अनुसार[2] अपभ्रंश में—

१ अल्सडोर्फ, अपभ्रंश स्टडीन, पृ० ७
डा० तगारे : हि० ग्रै० अप० §१८,१६
(श्री भायाणी द्वारा सन्देश रासक §४१ में उद्धृत)

२ हि० ग्रै० अप०, §२०-३०

१. उपान्त्य स्वर की प्रायः रक्षा की जाती है;
२. कुछ अपवादों के बावजूद प्राकृत से प्राप्त शब्दों में प्रायः आदि अक्षर तथा स्वर की मात्रा सुरक्षित रहती है;
३. प्राकृत शब्दों के संयुक्त व्यंजन में से केवल एक व्यंजन को रखकर पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो जाता है;
४. प्राकृत की ही भाँति उद्वृत्त स्वरों के विच्छेद (हायटस) को यथावत् रखा जाता है;
५. शब्द के बीच –य–, –व–, –ब–, –ह–, और कभी कभी –र–के आगम द्वारा उद्वृत्त स्वरों का पृथक् अस्तित्व सुरक्षित किया जाता है;
६. यद्यपि बोलचाल की अपभ्रंश में उद्वृत्त स्वरों को एकीकरण द्वारा संयुक्त स्वर कर देने का आभास मिलता है, तथापि साहित्यिक अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई पड़ती है।

अपभ्रंश में व्यंजन-ध्वनियों के परिवर्तन-संबंधी कोई सर्वथा नई और प्रमुख प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। यहाँ भी वह बहुत कुछ प्राकृत का ही अनुसरण करती है। इस संबंध में विद्वानों ने लक्षित किया है[1] कि—

१. आदि और अनादि स्पर्श व्यंजनों का महाप्राण रूप हो जाता है।

२. ऋ अथवा र के समीपवर्ती दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य हो जाते हैं।

३. आदि य–प्रायः ज–हो जाता है, इस तरह अपभ्रंश में य–का कोई ध्वनि-मूल्य नहीं था।

४. ऊष्म व्यंजनों में से अपभ्रंश में केवल 'स' अवशिष्ट था।
५. यद्यपि प्राकृत-वैयाकरणों ने अपभ्रंश में मध्यग–क–, –त–, –प–, तथा –ख–, –थ–, –फ–, जैसी अघोष ध्वनियों के घोष (ग, द, ब, घ, ध और भ) हो जाने की व्यवस्था दी है फिर भी अपभ्रंश साहित्य में इस व्यवस्था का पालन नहीं मिलता। अप-

---

१ वही §४३-६८

भ्रंश साहित्य में प्राकृत के ही अनुसार –क, –ग –, –च –, –ज –, –त –, –द –(और –प– भी) लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह –ख –, –घ –, –थ –, –ध –, –फ –, –भ – प्रायः –ह – हो जाते हैं।

६. यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश में संयुक्त 'र' को सुरक्षित लक्षित किया है और प्रंगण, प्रयावदी, प्राउ, प्राइव, प्रिय जैसे प्रयोग भी मिल जाते हैं तथापि सामान्यतः अपभ्रंश में संयुक्त 'र' के समीकरण की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

७. प्राकृत वैयाकरणों के कथन के बावजूद अपभ्रंश में 'र' का आगम बहुत कम दृष्टिगोचर होता है।

८. यद्यपि – म – अपभ्रंश में यथावत् सुरक्षित था किन्तु – म – > – वँ – परिवर्तन की प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। इस परिवर्तन का आरंभ प्राकृत-काल से ही हो गया था; लेकिन इसकी अधिकता को अपभ्रंश की अपनी विशेषता कहा जा सकता है।

रूप-निर्माण की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

अपभ्रंश जिस विषय में प्राकृत से पृथक् अस्तित्व तथा उससे ऐतिहासिक विकास घोषित करती है वह है उसकी रूप-निर्माण संबंधी विशेषता। राहुल जी के शब्दों में 'उसने नये सुबन्तों और तिङन्तों की सृष्टि की है।' यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य में प्राकृत काल के प्राचीन रूप बहुत दिनों तक प्रचलित रहे और बड़े बड़े अपभ्रंश कवियों की भाषा भी प्राकृत-प्रभाव से सर्वथा मुक्त न थी, फिर भी अपभ्रंश-रूप-निर्माण की निजी प्रवृत्तियाँ क्रमशः अपनी प्रधानता स्थापित करती चली गईं। ऐतिहासिक दृष्टि से यही नये रूप विशेष महत्वपूर्ण हैं।

विद्वानों ने अपभ्रंश-रूप-निर्माण की प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

१. रूप-निर्माण की दृष्टि से प्रातिपादिकों की विविधता अपभ्रंश में नहीं रही; विभिन्न स्वरान्त के प्रातिपादिक अकारान्त पुल्लिंग शब्द के कारक

रूपों से प्रभावित थे। इस तरह रूपनिर्माण की दृष्टि से अपभ्रंश में केवल अकारान्त पुल्लिंग प्रातिपदिक की सत्ता थी।

२. व्याकरणिक लिंग-भेद क्रमशः समाप्त सो चला था और नपुंसक लिंग तो व्यवहारतः लगभग लुप्त हो गया।

३. कारक-विभक्तियां अपभ्रंश में आते आते सिमट कर केवल तीन-समूहों में एकत्र हो गई थीं। पहला समूह प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन का; दूसरा तृतीया और सप्तमी का; तथा तीसरा चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी का। इन तीनों समूहों में से अन्तिम दोनों में प्रायः मिश्रण और विपर्यय हुआ करता था जिससे कभी कभी रूप-निर्माण की दृष्टि से सामान्य कारक (डाइरेक्ट केस) और विकारी कारक (ऑब्लीक केस) दो ही का अस्तित्व रहता था। इस तरह जहां संस्कृत में कारकों के लिए एक शब्द के २१ रूप होते थे और प्राकृत में १२ वहां अपभ्रंश में लगभग ६ रूप रह गए।

अपभ्रंश की घिसी हुई कारक-विभक्तियां भी प्राकृत से ज्यादा दूर थीं; जैसे तृतीया एकवचन में – एण की जगह – एँ और षष्ठी एकवचन में – स्स की जगह – ह आदि।

४. अधिकांशतः प्रथमा और द्वितीया में तथा कभी-कभी अन्य विभक्तियों में भी केवल निर्विभक्तिक शब्द का प्रयोग किया जाता था।

५. निर्विभक्तिक पदों तथा घिसे हुए सविभक्तिक रूपों से उत्पन्न अव्यवस्था और गड़बड़ी को दूर करने के लिए अपभ्रंश में अनेक स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग परसर्ग की तरह किया जाने लगा; जैसे तृतीया के लिए, 'सहुँ', 'तण'; चतुर्थी के लिए केहिं, रेसि; पंचमी के लिए होन्तउ, होन्त, थिउ; षष्ठी के लिए केरअ, केर, कर, का, की और सप्तमी के लिए मज्झ, महँ आदि।

६. काल-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश धातुओं के तिङन्त रूप मुख्यतः लट् लोट् और लृट् लकारों में ही होते थे; शेष लकारों के रूप प्रायः कृदन्तज होने लगे।

७. प्राकृत तक लट् (सामान्य वर्तमान काल) के रूप प्रायः संस्कृत से मिलते-जुलते होते थे, जैसे

उत्तम पुरुष	करमि	करमु
मध्यम पुरुष	करसि	करह
अन्य पुरुष	करइ	करन्ति

वहाँ अपभ्रंश तक आते आते ये रूप और भी घिस गए तथा इनका रूप पुरानी हिंदी से मिलता जुलता हो गया जैसे—

उ० पु०	करउँ	करहुँ
म० पु०	करहि	करह
अ० पु०	करइ	करइँ

८. लोट् (आज्ञा) के रूपों में संस्कृत और प्राकृत की सी विविधता अपभ्रंश में नहीं रही। प्रायः अ, इ और उ कारान्त रूप होते थे, जैसे कर, करि करु।

९. अपभ्रंश में लृट् (सामान्य भविष्यत्) के रूप संस्कृत-ष्य-और प्राकृत-स्स-के अवशेष-स्वरूप—स—और—ह—दोनों प्रकार के होते थे; जैसे करिसइ और करिहइ। लेकिन परिनिष्ठित अपभ्रंश में—ह—प्रकार की प्रधानता थी।

१०. विधि लिङ् के रूप अपभ्रंश में प्रायः प्राकृत की ही तरह–ज्ज–प्रकार के ही होते थे, जैसे करिज्जइ आदि।

११. अपभ्रंश में भूत काल के क्रियापद तिङन्त नहीं थे। भूत काल की रूपरचना या तो—क्त आदि भूत कृदन्त के प्रत्ययों द्वारा होती थी; जैसे गय<√गम् + क्त अथवा √भू, √अस्√कृ आदि सहायक क्रियाओं के द्वारा संयुक्त काल के रूप में;

१२. अपभ्रंश में संयुक्त-क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बहुत तेजी से चल पड़ी, जब कि प्राकृत में नहीं के बराबर थी। जैसे—रडन्तउ जाइ, जाउँ गउ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ जंति आदि।

१३. क्रियार्थक संज्ञा के निर्माण के लिए प्राकृत में जहाँ —तुमुन् ∠ – इउँ, – एउँ, – उँ आदि प्रत्ययों काउपयोग किया जाता था, वहाँ अपभ्रंश में इन सबके स्थान पर मुख्यतः – अण का प्रयोग होने लगा।

१४. पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्ययों में अपभ्रंश ने प्राकृत के – इ, – एप्पि, – एप्पिणु, – एवि, – एविणु का निर्वाह करते हुए भी मुख्यतः – इ को ही अपनाया जैसे सुनि, चलि, करि आदि।

१५. अन्य प्रत्ययों में स्वार्थिक प्रत्यय—ड के प्रयोग की बहुलता अपभ्रंश की निजी विशेषता है।

उच्चारण और व्याकरण के अतिरिक्त अपभ्रंश ने शब्दकोश के क्षेत्र में भी विकास का नया चरण रखा। कुछ तो उसने तद्भव शब्दों में और भी ध्वनि परिवर्तन करके अपनी छाप लगा दी और कुछ देशी शब्दों के ग्रहण से अपना कोश समृद्ध किया। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप की इन मुख्य प्रवृत्तियों को देखने से कोई भी व्यक्ति दो निष्कर्षों पर पहुँचेगा। एक तो यह कि जो भारतीय आर्यभाषा संस्कृत और प्राकृत काल में प्रधानतः संश्लिष्ट थी वह अपभ्रंश तक आते-आते विश्लिष्टता की संभावनाओं को अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रकट करने लगी थी और इस तरह अपभ्रंश भारतीय आर्यभाषा की विश्लिष्ट-संश्लिष्ट अवस्था के संधिकाल की सूचना देती है। दूसरी यह कि अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत की तरह व्याकरण-प्रधान अथवा 'व्याकरणिक भाषा' नहीं थी क्योंकि सरलीकरण की प्रबल प्रवृत्ति ने अपभ्रंश के ढाँचे को व्याकरण के जटिल नियमों से बहुत कुछ मुक्त कर दिया।

प्राकृत और अपभ्रंश का अंतर तथा संस्कृत से उनकी निकटता और दूरी देखने के लिये किसी एक गाथा तथा दोहा की तुलना की जा सकती है—

(१) उअ णिच्चल णिप्पन्दा भिसिणीपत्तमि रेहइ बलाआ।
णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ सङ्ख सुत्ति वि॥
(गाहा सत्तसई)

(२) बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउ तेवँइ को दोसु।
हिअय-ट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुञ्ज सरोसु॥
(हेम० प्राकृत व्याकरण)

कुल मिलाकर अपभ्रंश के विषय में याकोबी का यह कथन विचारणीय है कि अपभ्रंश एक मिश्रित भाषा थी जिसने अपने शब्दकोश का अधिकांश साहित्यिक प्राकृतों से ग्रहण किया था और अपना व्याकरणिक गठन देशभाषाओं से।[1] इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश के शब्द-समूह में प्राचीनता थी लेकिन उसके व्याकरण में नवीनता के अंकुर थे। दूसरे शब्दों में अपभ्रंश का ध्वनि-विचार प्राकृत से प्रभावित था किन्तु उसका व्याकरण प्राकृत-प्रभाव से मुक्त होकर लोक-बोलियों के सहारे भारतीय आर्यभाषा के विकास की नूतन संभावनायें प्रकट कर रहा था। कालक्रम से अपभ्रंश में प्राचीनता और नवीनता के इस संघर्ष में नवीनता विजयिनी होती गई और उसमें लोक-बोलियों की नवीनता बढ़ती गई। यहाँ तक कि अपभ्रंश ने अपने गर्भ से अनेक स्वतन्त्र क्षेत्रीय भाषाओं को जन्म दिया।

---

१ भविस्सयत्त कहा, पृ० ६८ (श्री भयाणी द्वारा संदेश-रासक की भूमिका §७७ में उद्धृत)

२. परवर्ती अपभ्रंश और उसमें हिंदी के बीज

परिनिष्ठित अपभ्रंश में आधुनिक देसी बोलियों के मिश्रण का आभास हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के रचना-काल (११४२ ई०) से ही मिलने लगता है। उनकी 'देशीनाममाला' में भी ऐसे अनेक देशी शब्दों का संग्रह है जो प्राकृत ही नहीं बल्कि अपभ्रंश साहित्य में भी अप्रयुक्त हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग बोलचाल में ही होता रहा होगा, यह बात सहज ही सोची जा सकती है। इसके अतिरिक्त 'काव्यानुशासन' में हेमचन्द्र ने स्वयं ही शिष्ट अपभ्रंश से भिन्न 'ग्राम्य अपभ्रंश' का अस्तित्व स्वीकार किया है।[1] स्पष्ट है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश सामान्य लोकजीवन में व्यवहृत होने वाली परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही कोई न कोई रूप थी जिसमें संभवतः स्थानीय बोलियों का मिश्रण हो गया होगा।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में देसी बोलियों का मिश्रण

इस तथ्य की पुष्टि में विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा वह उस समय बोलचाल से उठ चुकी थी।[2] इस कथन के समर्थन में युक्ति दी गई कि यदि वह भाषा उस समय जीवित रही होती तो उसका इतना सोदाहरण और विस्तृत व्याकरण लिखने की कोई ज़रूरत न होती। लेकिन सचाई यह है कि किसी भाषा के व्याकरण की सांकेतिक और संक्षिप्त रूपरेखा से ही उसका जीवित रहना सिद्ध नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो हेमचन्द्र प्राकृत-व्याकरण में अपभ्रंश की तुलना में प्राकृत का संक्षिप्त व्याकरण देखकर प्राकृत को ही

१ काव्यानुशासन

२ तेस्सीतोरी : इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९१४, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी
एन० के० दिवैतिया : गुजराती लैंग्वेज, पृ० २५

उनके युग की जीवित भाषा मानना पड़ता, जो अनैतिहासिक होता।

ऐसे निराधार अनुमान की अपेक्षा गुलेरी जी का यह कथन अधिक तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है कि 'यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर-ग्रन्थों तक तो पहुँच थी किन्तु जो 'भाषा' साहित्य से स्वभावतः नाक चढ़ाते थे उसके नियमों को न समझते।'[1] वस्तुतः हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण पण्डितों के लिए लिखा था, जन-साधारण के लिये नहीं।

फिर भी यह निश्चित है कि हेमचन्द्र के समय तक साहित्य में अपभ्रंश का एक रूप स्थिर और परिनिष्ठित हो चुका था। यदि उसकी स्थिरता में कुछ कमी रह भी गई थी तो हेमचन्द्र ने व्याकरण लिखकर वह कमी पूरी कर दी। अपभ्रंश के परवर्ती कवियों में से पण्डितों ने प्रायः साहित्यिक अपभ्रंश को सामने रखकर किताबी भाषा में रचना की। ऐसे प्रयत्न हेमचन्द्र के तीन सौ वर्ष बाद तक होते रहे। परवर्ती अपभ्रंश के वास्तविक स्वरूप का पता पाने के लिये पण्डितों के ये काव्य विशेष काम के नहीं हैं।

लेकिन हेमचन्द्र के बाद अपभ्रंश काव्य की एक और भी धारा प्रवाहित रही जिसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश के नियमों का कड़ाई से पालन करने की अपेक्षा लोक-प्रचलित भाषा का उपयोग होता था। इस मिश्रित भाषा में रचे हुए ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से तो उत्कृष्ट हैं ही, आधुनिक देशी भाषाओं के आरम्भिक रूप के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास अथवा विकास की दृष्टि से परवर्ती अपभ्रंश का यह देश्य-मिश्रित साहित्य विशेष महत्त्व का है और सच्चे अर्थों में 'परवर्ती अपभ्रंश' यही है।

भाषा में प्रसार के साथ स्थान-भेद का आना स्वाभाविक है और यही घटना अपभ्रंश में भी घटी। जब अपभ्रंश सिंध में मुल्तान से लेकर

१ पुरानी हिंदी, पृ० १३०

परवर्ती अपभ्रंश में देश-भेद

बङ्गाल के समतट तक और कन्नौज से लेकर मान्यखेट तक फैल गई तो इसमें स्थानीय विशेषताओं का उभार आवश्यक था। पूर्वी और पश्चिमी का भेद तो अपभ्रंश में हेमचन्द्र से पहले भी था, लेकिन परवर्ती अपभ्रंश में यह भेद और भी गहरा हुआ। यह देश-भेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि तेरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों में अपनी-अपनी बोलियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया। परवर्ती अपभ्रंश की यह सब से बड़ी विशेषता है।

देश-भेद के अनुसार देखने से पश्चिमी प्रदेशों के परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य की सामग्री थोड़े-बहुत अन्तर के साथ कालक्रम से इस प्रकार है—

परवर्ती अपभ्रंश का पश्चिमी साहित्य

१ संदेश रासक (१२ वीं सदी ईस्वी का पूर्वार्द्ध) —अब्दुल रहमान, मुल्तान।

२ बाहुबलि रास[1]—(११८४ ई०)—शालिभद्र सूरि गुजरात

३. थूलिभद्द-फागु—(१२०० ई०)—जिन पद्म सूरि गुजरात

४. नेमिनाथ चौपई—(१२०० ई०)—विनयचन्द्र सूरि गुजरात

५. समर रास (१३१४ ई०)—अंबदेव सूरि गुजरात

६. नेमिनाथ-फागु—(१३१४ ई०)—राजशेखर सूरि गुजरात

७. शालिभद्र कक्का (१३००)—अज्ञात[2] गुजरात

७. प्राकृत-पैङ्गलम्—(१२ वीं से १५ वीं सदी) में उद्धृत बब्बर, जज्जल, विद्याधर, हरिब्रह्म तथा कुछ अज्ञात कवियों की रचनायें जिनका रचना-स्थान मुख्यतः मध्यदेश है।

१ भारतीय-विद्या वर्ष २, अंक १ में प्रकाशित

२ तीसरी से सातवीं तक की पुस्तकें 'प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह' के अंतर्गत संगृहीत है।

८. षडावश्यक बालावबोध[1] (१३५४ ई०)—तरुणप्रभसूरि, गुजरात

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पद्य तथा गद्य-खण्ड बिखरे हुए हैं। पश्चिमी प्रदेशों के परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की इन बिखरी हुई सामग्रियों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण अपेक्षित है। इस सामग्री में भी देश-काल-भेद का आभास मिलता है। संदेश-रासककी भाषा ने प्राकृत-पैङ्गलम् में उद्धृत पद्यों की भाषा निश्चित रूप से विकास की सूचना देती है, इसके साथ ही उसमें स्थानीय विशिष्टता भी है। प्राकृत-पैङ्गलम् के पूर्वोक्त पद्यों की भाषा में पुरानी ब्रजभाषा के बीज अधिक हैं जब कि 'संदेश रासक' की भाषा में वे बीज अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। तुलना के लिए यहाँ दोनों काव्यों से क्रमशः एक एक छप्पय लिये जा सकते हैं—

पश्चिमी प्रदेश के पारवर्ती अपभ्रंश की विशेषता

(१) **कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह,**
अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह।
अह पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससिउ घणु कुसुमभरु।
अह मुणिउ पहिउ! अणरसिउ पिउ, सरइ समइ जु न सरइ घरु
—संदेश रासक ॥१८३॥

(२) **पिंधउ दिढ-सण्णाह वाह उप्पर पक्खर दइ,**
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ।
उज्जल णह-पह भमउ खग्ग रिउ-सीसहि डारउ,
पक्खर-पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ।

१ जर्नल अव दि यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, वर्ष २२, खण्ड १-२, १९४९ ई० में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा का निबन्ध 'आचार्य प्रवर तरुण प्रभसूरि'।

निस्सास (= निःश्वास) नीसरइ < निस्सरइ (= निःसरति), वीसरइ < विस्सरइ (= विस्मरति), ऊसास < उस्सास (= उच्छ्वास) आदि और कभी बिना-क्षतिपूरक दीर्घीकरण के ही व्यंजन-द्वित्व को तोड़ना; जैसे कणयार < कण्णियार (= कर्णिकार) वखाणियइ < वक्खाणियइ (= व्याख्यान°), कपूर < कप्पूर (= कर्पूर), चूडिलउ < चूडिल्लउ, आलस < आलस्स (= आलस्य) आदि। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी मौजूद थीं, किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में बहुत बढ़ गईं।

२. मध्यग क ग च ज त द प य व आदि व्यंजनों के लोप होने से प्रायः एकाधिक स्वर साथ-साथ सुरक्षित रखकर जहाँ विवृत्ति या विच्छेद (हायटस) उत्पन्न कर देते थे वहाँ संधि और समीकरण प्रक्रिया का प्रयोग; जैसे :

सहार < सहआर (= सहकार)
सुनार < सुण्णआर (= स्वर्णकार)
अँधार < अंधआर (= अंधकार)
मोर < मऊर (= मयूर)

संप्रयुक्त स्वरों को संयुक्त करने की इस प्रवृत्ति के साथ ही संकोचन की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठी थी कि अन्त में आने वाले स्वर भी पूर्ववर्ती स्वर के साथ संयुक्त होने लगे। क्रियापदों में यह प्रवृत्ति विशेष काम कर रही थी। जैसे—

कीजै < किज्जइ, करीजै < करिज्जइ, रहै < रहइ कहीजै < कहिज्जइ आदि

३. कुछ विद्वानों ने कारक-रूपों में निरनुनासिकता को भी अपभ्रंश की प्रादेशिक विशेषता न मानकर परवर्ती विकास माना है।[1] जैसे, सन्देश रासक में तृतीया और सप्तमी में—हिं अन्त वाले रूपों की जगह—हि अन्त का प्रयोग; इसी तरह षष्ठी बहुवचन में—हँ की जगह—ह और नपुंसक-लिंग के प्रथमा-द्वितीया एक वचन में—इँ की जगह—इ आदि।

[1] सन्देश-रासक : व्याकरण §७७

४. अनुनासिक व्यंजन के साथ उसके बाद आने वाले व्यंजन का समीकरण होना भी परवर्ती अपभ्रंश की प्रवृत्ति कही गई है;[१] जैसे

संनहय < सन्देशक (न + द)

साभोर < शाम्बपुर (म + ब)

५. 'सन्देशरासक' की भाषा पर विचार करते हुये श्री भायाणी ने मध्यग—व—के लोप को परवर्ती अपभ्रंश की ऐसी प्रवृत्ति मानी है जो ब्रजभाषा की विशेषताओं में से एक है;[२] जैसे—

मंनाइ (= मंनावि), मंनाएवि (=मंनावेवि), पाइय (= पाविय), जीउ (=जीव), संताउ (= संतावु)।

परवर्ती अपभ्रंश तद्भव शब्दों के ध्वनि-परिवर्तन करने में उतनी सक्रिय नहीं रही, जितनी अपभ्रंश के स्थिर और संश्लिष्ट पदों को और भी विश्लिष्ट करने में। परवर्ती अपभ्रंश में जो आधुनिक भाषाओं के बीज मिलते हैं वे बहुत कुछ इसी रूप-निर्माण के क्षेत्र में।

रूप-निर्माण सम्बन्धी विशेषताएँ

१. लगभग सभी कारकों में धड़ल्ले के साथ निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग करना परवर्ती अपभ्रंश की ऐसी प्रवृत्ति है जो पुरानी राजस्थानी, ब्रज और गुजराती सभी भाषाओं में बहुतायत से मिलती है। हेमचन्द्र के समय यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल न थी। उन्होंने प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी केवल तीन विभक्तियों में लोप का निर्देश किया था। हेमचन्द्र के उद्धरणों में भी इस तरह के उदाहरण अधिक नहीं हैं। लेकिन संदेश-रासक, प्राकृत-पैङ्गलम् तक आते-आते ऐसे निर्विभक्तिक पदों की लड़ी लग जाती है।

२. विभक्ति-लोप के साथ ही अधिक से अधिक परसर्गों का प्रयोग भी बढ़ने लगा। हेमचन्द्र-व्याकरण में जहाँ मुश्किल से केहिं, रेसिं, तणेण, होन्तओ, केरअ, केर, मज्झि आदि गिने चुने परसर्ग मिलते

१ वही § ३५-५ २ वही § ३३ सी

हैं वहाँ 'संदेश रासक' में एक साथ सत्थिहि, सम, सरिसु, हुँतउ, ट्ठियउ, रेसि, लग्गि, तणि, महिं, आदि विविध परसर्ग दिखाई पड़ने लगे। पश्चिम के दूसरे ग्रन्थों में भी इन परसर्गों के थोड़े बहुत परिवर्तित रूप तथा कुछ अन्य नये परसर्ग भी मिलते हैं।

३. श्री भायाणी का सुझाव है कि 'संदेश रासक' में संजीवयर और अल्हावयर आदि शब्दों की °यर = °कर प्रत्यय हिंदी के 'लुटेरा' 'चितेरा' आदि शब्दों की – एरा प्रत्यय की जननी है।[1]

४. पूर्वकालिक-क्रिया के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश में जहाँ – इवि, – अवि, – वि, – इ आदि प्रत्यय आते थे वहाँ परवर्ती अपभ्रंश में संयुक्त-पूर्वकालिक रूपों का प्रचलन हो गया; जैसे—दहेवि करि। पूर्ववर्ती अपभ्रंश में केवल 'दहेवि' से ही काम चल जाता। स्पष्ट है कि आगे चल कर हिंदी में ऐसे ही दुहरे पूर्वकालिक रूपों का ही प्रचलन हुआ जिनमें मूल क्रिया में पूर्वकालिक प्रत्यय लुप्त करने के बाद √कर् (= √कृ) का भी वैसा ही पूर्वकालिक रूप जोड़ कर काम चलाया जाता है।[2]

५. क्रियापदों के क्षेत्र में परिवर्ती अपभ्रंश ने सबसे बड़ा कार्य किया संयुक्त काल और संयुक्त-क्रियाओं का बहुल निर्माण। संयुक्त-काल के निर्माण में प्रायः √भू, √अस्, √कृ के सामान्य वर्तमान वाले रूपों के घिसे हुए रूप सहायक क्रिया के रूप में व्यवहृत होते थे तथा उससे पूर्व मूल क्रिया कभी भूतकृदन्त होती और कभी वर्तमान कृदंत का कुछ घिसा हुआ रूप; जैसे करत अच्छि।

संयुक्त क्रिया में प्रायः सिद्धावस्थापन्न क्रिया (इनफ़ाइनाइट वर्ब) जो समूह का प्रथम अंश होती है मुख्यतः या तो पूर्वकालिक होती है या क्रियार्थक (तुमुन्नत) या शतृ कृदन्तज और साध्यावस्थापन्न क्रिया (फ़ाइनाइट वर्ब) प्रायः काल-निर्माण करती है। जैसे—'संदेश रासक' में—

---

१ संदेश रासक, व्याकरण ४६-५　　२ वही ६८

णिसुविणु रहइ (१८ ग), तक्खरु-वक्खरु हरि गउ (६५ घ),
असेस तरुय **झडि करि गय** (१६२ घ) आदि में
सिद्धावस्थापन्न क्रियायें प्रायः पूर्वकालिक हैं और
कहि न सक्कउ (१०५ क) में 'कहि' क्रियार्थक है।

रूप और अर्थ की दृष्टि से संयुक्त क्रियाओं की विविधता अन्यत्र भी दिखाई पड़ती है।

पश्चिमी प्रदेशों की अपेक्षा पूर्वी प्रदेशों का परवर्ती अपभ्रंश साहित्य मात्रा में अल्प होता हुआ भी आधुनिक देशी भाषाओं के आरम्भ की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। बारहवीं शताब्दी में काशी के दामोदर पंडित द्वारा लिखा हुआ 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जो सम्भवतः गाहड़वाल राजकुमारों को स्थानीय देश भाषा के माध्यम से संस्कृत पढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया था। 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' प्रकाशित होकर अभी सामने नहीं आ सका है, इसलिए उसकी भाषा के बारे में कुछ भी कह सकना मुश्किल है; फिर भी यत्र तत्र उसकी भाषा के जो फुटकल नमूने सामने आये हैं, जैसे पढ़ब, लिखब, अभ्यासब जैसी भविष्यत् कृदन्त की क्रियायें, उनसे पता चलता है कि पूरब की बोलियों का प्राचीन रूप उसमें अच्छी-तरह सुरक्षित है।

पूर्वी प्रदेशों का परवर्ती अपभ्रंश साहित्य

इसके अतिरिक्त ज्योतिरीश्वर ठाकुर की 'वर्णरत्नाकर' (१४ वीं सदी का पूर्वार्द्ध) तथा विद्यापति ठाकुर की 'कीर्तिलता' (१४ वीं सदी का उत्तरार्द्ध) दो ऐसी पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनका संबंध हिंदी-भाषा-भषी प्रदेश की सुदूर पूर्व की बोली से है। विद्यापति की एक और ऐसी ही पुस्तक 'कीर्तिपताका' का भी विवरण मिलता है।[1]

शास्त्री जी ने 'कीर्तिपताका' से एक अपभ्रंश छंद भी उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

---

१. म० म० हरप्रसाद शास्त्री—'नेपाल दरबार लाइब्रेरी के ताड़पत्र तथा अन्य हस्तलिखित ग्रंथों का सूचीपत्र', १६०५ ई०।

परिडअमरडलिबद्धगुरो भीषमकीरमुहेन ।
वाणीमहुरमहगूघरस पिअउ स्वअनसवनेन ॥

'प्राकृत-पैंगलम्' के उदाहरणों में कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनपर पूर्वी बोली की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है ।[1] जैसे—

१. करुणा पअले मेछह विअलेसो देउ पराअण तुम्हवरा । (५७०)
२. यहिअ मण इछल कहूँ ।
३. वित्तक पूरल मदहरा ।
४. महि चलइ मुअल जिवि उड्डए ।
५. सोहर ताहर संकट संहर ।

श्री अगरचंद नाहटा ने 'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' निबन्ध में १४ वीं सदी के कुछ गद्यांशों का उद्धरण दिया है जिनमें से एक अंश में पूर्वी प्रदेश की बोली का पुराना रूप सुरक्षित है ।[2]

"अथ पूर्वी नायिका का बोल्या सुणहुगे रे भइया । इथु जुगि जाणि-वड धीरे, निखुरे मोरी बहिनी, पुनि पुनि मोर देसु कितपुं खरति आहि । मोरे देस की बात न जानसि, जेहि देस ऐसें मानुस कैसे इक्कु धीरे-धीरे विवेकिए । परम दाय के मोउन मरार मल्ल, तुम्ह कतुके जान, कतुके परान, बवाकी आन ! अम्हाँ तुम्हाँ बड़ा अन्तरु आदि । कइसु अन्तरु, तुम्हके मानुस तरि मोटे, उपरि मोटे विचि छोटे । अत अम्ह के मानुस नान्हे विचि पूनु करसु सार विडु आहि । अइस दीसतु हइ, जइसा पूनम का चाँदु । अद्यकोद्व के चावर साइयहि । गीत गाइयइ । सुठि नीके वनिये वसहिं । कइसे वनिये । आचच्चा ।'

खोज से इस तरह के और भी गद्य तथा पद्य मिल सकते हैं ।

अपभ्रंश में आधुनिक देसी बोलियों का जितना प्रगाढ़ मिश्रण पूर्वी प्रदेशों में दिखाई पड़ता है, उतना पश्चिम में नहीं । पश्चिमी प्रदेश की

---

१ देखिए 'बुद्ध चरित' की भूमिका पृ० ७-१०
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४६, अंक ३, सं० १९९८ वि०

पूर्वी प्रदेश के परवर्ती अपभ्रंश की विशेषता

साहित्यिक भाषा बहुत दिनों तक परिनिष्ठित अपभ्रंश से प्रभावित रही; किन्तु पूर्व के लिए वह शुरू से ही मात्र साहित्यिक भाषा होने के कारण स्थानीय बोली से अलग रही। फलतः पूरब में देशी बोलियों का उभार बहुत तेजी से हुआ।

१. पूरब की परवर्ती अपभ्रंश पश्चिम से जिस विषय में अत्यधिक विशिष्ट थी, वह है शब्दकोश। परवर्ती काल की पूर्वी अपभ्रंश में जिस मात्रा में संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण किया गया, पश्चिमी में उसका शतांश भी नहीं हुआ। एक ओर कीर्तिलता और वर्ण रत्नाकर तथा दूसरी ओर सन्देश रासक से 'प्राकृत-पैंगलम्' तक की रचनाओं से तुलना करने पर यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है। इसी तरह इस्लाम के संपर्क से अरबी और फ़ारसी शब्दों का ग्रहण भी पूर्वी अपभ्रंश में बहुत हुआ। उसकी तुलना में पश्चिमी अपभ्रंश में ये शब्द बहुत कम मिलते हैं। यह अवश्य है कि कीर्तिलता और वर्ण-रत्नाकर ने अरबी और फ़ारसी शब्दों को अपनी स्थानीय उच्चारण-विधि के अनुकूल मोड़कर ग्रहण किया। जैसे-तुर्क को तुलुक अथवा तुरुक; सुल्तान को सुरुतान, हज़ार को हजार, प्याज़ को पयाजू बनाकर अपनी बोलचाल में खपा लेने की कोशिश की गई।

२. संज्ञा शब्दों की रूप-रचना के क्षेत्र में भी परवर्ती युग की पूर्वी अपभ्रंश ने पश्चिमी अपभ्रंश से विकास के अग्रिम चरण दिखलाए। पश्चिमी अपभ्रंश में विकारी कारकों (आब्लीक केसेज़) के निर्माण में उतनी एकरूपता तथा स्थिरता नहीं आ सकी थी जितनी पूर्वी में आई। पश्चिमी अपभ्रंश में एक वचन और बहुवचन के अन्तर को स्पष्ट करने वाले रूपों के का प्रचलन प्रायः कम या नहीं था। पूर्वी अपभ्रंश में लगभग सभी कारकों विकारी रूप बहुवचन में—न्हि, न्ह, अथवा—न अन्त वाले होते थे। जैसे:

प्रथमा—मयूरन चरइतें अछ- (वर्ण-रत्नाकर, २१ क)

द्वितीया—दास गोसाञनि गहिअ. (कीर्तिलता, पृ० १६)

गो बोलि गमारन्हि छाड. (,, पृ० ३६)

तृतीया—वायसन्हि कोलाहल करु, (वर्ण० २६ ख)

जुर्वतिन्हि जलकेलि आरहु (,, ३० क)

तव्वे मन्तिन्ह कियउ प्रस्ताव (कीर्ति० ५६)

षष्ठी और सप्तमी बहुवचन के रूपों की यह विशेषता है कि—न्हि,—न्ह अन्त वाले इन विकारी रूपों के बाद परसर्ग भी प्रयुक्त होते थे। जैसे—

षष्ठी—जुर्वतिन्हि क उत्कंठा (वर्ण० ३० ख)

वेश्यान्हि करो निवास (कीर्ति० ३२)

सप्तमी—युवराजन्हि माँझ पवित्र (कीर्ति० १२)

३. निर्विभक्तिक अथवा लुप्तविभक्तिक पदों के बाद परसर्गों का प्रयोग करने में पूर्वी अपभ्रंश ने पश्चिमी की अपेक्षा अधिक साहस का परिचय दिया; यहाँ तक कि कीर्तिलता और वर्ण-रत्नाकर की भाषा इसी परसर्ग बहुलता के कारण लगभग विश्लिष्ट भाषा की श्रेणी में आ गई। नीचे परसर्ग-प्रयोग के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

तृतीया—जुआर-सग (वर्ण० ३८ क)

मृत्यु-सओ कलकल करइतें अछ (वर्ण० ४१ क)

मनिनि जीवन मान-सओ (कीर्ति० ६)

चतुर्थी—साजन-कारण (वर्ण० ४७ ख)

जुज्झ-देक्खह कारण (कीर्ति० १०६)

सामि-काज संगरे (कीर्ति० ८४)

एही आलिंगए-लागि (वर्ण० १८ क)

तबे मन कर तेसरा-लगि (कीर्ति०)

पञ्चमी—(i) जनि अमृत क सरोवर-सओ पंक उद्धारि

आनल अछ (वर्ण० २८ क)

(ii) विन्ध्य-सओ विधाताजे किनि।काढल (कीर्ति० ८२)

(iii) वटइक नह-तह छोट, सुगपाखि-तह मोट

(वर्ण० ७६ ख)

(iv) **दुरहुति** आ आ वड वड राआ, (कीर्ति० ४६)

षष्ठी के परसर्ग – कर, – क आदि की यह विशेषता है कि वह अपने संबद्ध परवर्ती संज्ञा के लिंग, वचन कारक के अनुसार रूप बदलता है अर्थात् षष्ठी परसर्ग – क° स्वतंत्र शब्द की तरह लिंग, वचन, कारक में अपना रूप-निर्माण करता है।

जैसेः ताञ्हि **करी** कुटिल कटाछटा (कीर्ति० ३६) और मध्यान्हे **करी** वेला (कीर्ति० ३०) में 'करी' का लिंग 'छटा' और 'वेला' के द्वारा निर्धारित हुआ है। इसी तरह परवर्ती संज्ञा के कारक का भी प्रभाव इस परसर्ग पर पड़ता है। जैसे,

(क) जब संबद्ध संज्ञा तृतीया में हो—

आदित्य **केँ भयेँ** नुकाइल अंधकार (वर्ण० ३० ख)

तन्हि **के दान्ते** आघातल सरल वृक्ष (वही ५० क)

(ख) जब संबद्ध संज्ञा सप्तमी में हो—

श्वेत पंकज **काँ** दल भ्रमर बइसल, (वर्ण० १८ क)

सिंहासन **काँ** उपर (वर्ण० ३६ क)

नागरन्हि **काँ** मन गाड (कीर्ति० ३६)

अधम उत्तम **काँ** पारक (कीर्ति० १६)

आनक तिलक **आनकाँ** लाग (कीर्ति० ३०)

अन्तिम दोनों उदाहरणों में संबद्ध संज्ञा अन्तर्निहित है; जैसे 'आनक तलक आनकाँ (भाल पर ?) लाग' यह भाव है।

जन्हि **के** निर्माणे विश्वकर्महु भेल बड़ प्रआस। (कीर्ति० ३२)

(घ) जब संबद्ध संज्ञा भावलक्षण अथवा सति सप्तमी में हो—

तेतुली वेला मातृ मित्र महाजन **के बोलन्ते**

हृदय-गिरिकन्दरा-निद्राण पितृ-वैरि-केशरी जागु (कीर्ति० १८)

४. विभक्ति-लोप होने तथा उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक परसर्ग न मिल

सकने के कारण अन्वय के लिए जे, से आदि सर्वनामों की सहायता द्वारा 'पेरीफ्रेसिस' की गई।[1] जैसे,

(क) विद्युल्लता क तरङ्ग, तें पथ-दिश-ज्ञान हों (इ) ते अछ

(वर्ण० ३१ क)

(ख) मदे जे उन्मत्त हाथि, तन्हि के जे दान्ते आघातल सरल वृक्ष,
ता सञो च्युत भेल जे निर्यास, तकर परिमल से कइसन अषलु।

(वर्ण० ५० क)

(ग) पदातिक घर्म्मे, एन्हि वाट कादव भइ गउ (वर्ण० ४६ क)

५. **सर्वनाम** के रूप भी घिसकर अपभ्रंश की अपेक्षा आधुनिक बोलियों के अधिक नजदीक आ गए, विशेषतः कीर्तिलता में; जैसे मोर, तोर, मोके, तोके, मोहिं, तोहिं आदि। अन्य पुरुष के लिए अपभ्रंश में जहाँ से, ते आदि का प्रचलन था, पूर्वी अपभ्रंश में धड़ल्ले से ओइ∠अदस् (हेमचन्द्र) वाले रूप चल पड़े।

जैसे; नअर नहिं नर समुद्र ओ (कीर्ति० ३०)

ओहु पास दरबार मएल महिमण्डल उप्पर (कीर्ति० ५०)

६. क्रियापद के प्रयोग में :—

(क) सामान्य वर्तमान काल (लट् लकार्) के तिङन्त के रूप स्वर-संकोचन अथवा संधि के द्वारा आधुनिक हो गए। जैसे 'करइ' = (अ+इ), करै

अंग न राखै राउ (कीर्ति० ७६)

किन्तु संकोचन या संधि की इस प्रवृत्ति का कीर्तिलता में आरम्भ ही दिखाई पड़ता है, ज्ञात होता है कि उस समय तक इस प्रवृत्ति का पूरा प्रसार नहीं हो सका था।

(ख) वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता तक आते आते √भू √अस् आदि सहायक क्रियाओं के रूप काफी घिस कर आधुनिक हो उठे थे।

१. वर्ण रत्नाकार, अंग्रेजी भूमिका, ३८

—अछि, —अछ, —छ, —छल आदि मैथिली बंगला के आधुनिक रूपों का व्यापक प्रचलन उसी समय से आरम्भ हो गया था।

(ग) भूतकाल बनाने को कृदन्त प्रत्यय—अल जो आधुनिक मागधी बोलियों—भोजपुरिया, मगही, मैथिली और बँगला की अपनी विशेषता है, परवर्तीकाल की पूर्वी अपभ्रंश से ही व्यापक हो गई थी। सिद्धों की रचनाओं में इसका आरम्भ मात्र हो सका था, लेकिन व्यापक प्रसार तो कीर्तिलता और वर्ण रत्नाकर में ही हुआ।

भ्रमर पुष्पोद्देशे चलल. (वर्ण० २६ ख)
काहु सम्बल देल थोल. (कीर्ति० ३०)
काहु पाती भेल पेठि. (कीर्ति० ३०)
जनि अत्र पर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य छल।
(कीर्ति० ५०)

(घ) कृदन्तज सिद्धावस्थापन्न क्रिया+तिङन्तज साध्यावस्थापन्न क्रिया की विधि से विविधि संयुक्त-काल बनाने की प्रवृत्ति 'वर्णरत्नाकर' से ही आरम्भ हो गई थी जिसका पर्याप्त विकास आधुनिक बोलियों में हुआ। जैसे—

होइते अछ (वर्ण० १३ क), करइते अछ (३७ख)
भेल अछ, भेल छथि (५२ ख)
भए गेल छथि, चलत भउअह (४६ ख) आदि

(ङ) संयुक्त-क्रिया निर्माण की जो प्रक्रिया परिनिष्ठित अपभ्रंश में आरम्भ हुई थी, पूर्वी प्रदेश की परवर्ती अपभ्रंश ने उसमें और भी विविधता तथा व्यापकता दिखाई; जैसे

हकारी हलुअह (वर्ण० ४४ ख), सबके पाटा देल (७६ ख)
भए गेलाह (१८ क), आ भउ (३० ख)
भअइ गउ (३३ क)

परवर्ती काल के पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंशों के बीच एक मध्यदेशीय अपभ्रंश का भी अस्तित्व प्रमाणित होता है। बारहवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध में काशी के दामोदर पण्डित द्वारा रचित 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' में पाई जाने वाली देश भाषा यही मध्यदेशीय अपभ्रंश है। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की अपभ्रंश 'वर्ण रत्नाकर', 'कीर्तिलता' और चर्या-पदों के अपभ्रंश से बहुत कुछ भिन्न है। उसमें मागधी के तत्व उतने नहीं हैं जितने कि अवधी के बीज हैं। यहाँ तक कि डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने 'उक्ति-व्यक्ति' की देश भाषा को 'प्राचीन कोसली' कहा है।[१] इस प्रकार 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा को परवर्ती युग के पूर्वी अपभ्रंश से भिन्न मध्यदेशीय अपभ्रंश के रूप में विचार करना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। 'उक्ति-व्यक्ति' का महत्व विशेष रूप से इसी बात में है कि उसके द्वारा पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंशों के बीच मध्यदेशीय अपभ्रंश के स्वरूप का पता चलता है। अब तक इस क्षेत्र की देश भाषा का प्राचीनतम रूप बतलाने वाला यह पहला ग्रन्थ है।

उक्ति व्यक्ति-प्रकरण और मध्यदेशीय अपभ्रंश

'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' पाँच प्रकरणों में समाप्त होने वाला एक व्याकरण ग्रन्थ है जिसमें कुल मिलाकर ५० कारिकाएँ हैं और इन कारिकाओं पर स्वयं ग्रंथाकार ने ही विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। प्रकरणों के नाम क्रमशः 'क्रियोक्ति व्यक्ति', 'कारकोक्ति व्यक्ति', 'उक्तिभेद', 'लेखनविधि' और 'व्यावहारिक-लेख-पत्र-लिखन क्रम' हैं। इनमें से आरंभिक तीन प्रकरण तो सव्याख्या उपलब्ध हैं लेकिन शेष दो प्रकरणों की व्याख्याएँ नहीं मिलतीं। व्याख्यात्मक अंश में एक विशेष बात यह है

---

१. उक्ति व्यक्ति प्रकरण : 'स्टडी', पृ० २
प्रस्तुत प्रसंग में डा० चैटर्जी की 'स्टडी' का विशेष उपयोग किया गया है।

कि प्रथम प्रकरण की नवीं कारिका की व्याख्या अत्यंत विस्तृत है जिसमें सैकड़ों देशी क्रियाओं के प्रयोग दिए गए हैं। व्याकरण की दृष्टि से आरम्भ के दोनों प्रकरण—क्रियोक्ति और कारकोक्ति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

ग्रन्थाकार ने 'उक्ति-व्यक्ति' नाम की व्याख्या करते हुये पहली कारिका की टीका में लिखा है कि

उक्तेः भाषितस्य व्यक्तिं प्रकटीकरणं विधास्यामः। अपभ्रंशभाषाछन्नां संस्कृतभाषां प्रकाशयिष्याम इत्यर्थः। अर्थान्तरमपि यथा—उक्तावपभ्रंश-भाषिते व्यक्तीकृतं संस्कृतं तदेव करिष्याम इत्यर्थः।

तात्पर्य यह कि इसमें तत्कालीन देश भाषा के प्रयोगों को संस्कृत व्याकरण के आधार पर समझाया गया है।

मुनि जिन विजय जी ने इस ग्रन्थ के प्रास्तविक वक्तव्य में सूचित किया है कि उस समय इस प्रकार के 'उक्ति' ग्रंथ बहुत से लिखे गए थे और उनमें से कई अब भी उपलब्ध हैं। ऐसे चार-पाँच उक्ति ग्रन्थों का संग्रह 'उक्ति रत्नाकर' नाम से मुनि जी शीघ्र ही प्रकाशित करने वाले हैं।

जैसा कि उपर्युक्त संस्कृत व्याख्या से स्पष्ट है, ग्रंथकार ने ग्रन्थ में प्रयुक्त देश भाषा को सामान्यतः अपभ्रंश कहा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'उक्ति-व्यक्ति' की देश भाषा परिनिष्ठित अथवा शौरसेनी अपभ्रंश है। ऐसा प्रतीत होता है कि पंडित मंडली उन दिनों भी संस्कृत और प्राकृत के विपरीत लोक-प्रचलित देश भाषा को सामान्य रूप से अपभ्रंश कहा करती थी। 'उक्ति व्यक्ति' की छठीं कारिका की टीका में ग्रंथकार ने अपभ्रंश के विषय में जो कुछ कहा है, उससे तत्कालीन पंडितों के मत का अनुमान लगाया जा सकता है—

'प्रतिदेशभिन्ना येयं सर्वजनसाधारणा भाषा गावी गोणी प्रभृतिका सोऽपभ्रंश उच्यते। सा च संस्कृतभाषामुच्छिद्य प्रवृत्ता। तुरुष्कदेशे द्विजाति जातिं तुरुष्कजातिरिव। ततो देशे देशे प्रतिविषयं लोकः पामरजनो यथा यथा गिराऽपभ्रष्टया यत् किंचिदभिधेयं वस्तु वक्ति व्यवहरति साऽपभ्रंश-भाषा, तत्रैवार्थे संस्कृतरचिता संस्कृतशब्दवाच्येन स्वरूपेण प्रयुक्ता

प्रयोगं नीता, वाच्यत्वमायाति ।............यां संस्कृतभाषामुच्छिद्य याऽपभ्रंशभाषा प्रवृत्ता तस्याः स्थाने यदा सैव संस्कृतभाषा पुनः परिवर्त्य प्रयुज्यते तदाऽपभ्रंशभाषैव दिव्यत्वं प्राप्नोति। पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति।'

चूँकि 'उक्ति व्यक्ति' व्याकरण ग्रंथ है इसलिये देशभाषा के नमूने विकीर्ण वाक्यों, वाक्यांशों अथवा पदों के रूप में ही प्राप्त होते हैं। ग्रंथकार ने प्रायः ऐसे वाक्यों और वाक्यांशों का संस्कृत अनुवाद भी दे दिया है। भाषा पर विचार करने से पूर्व ग्रंथ की पद्धति का कुछ नमूना देख लेना आवश्यक है। उदाहरणार्थ यहाँ नवीं कारिका और उसकी व्याख्या का कुछ अंश दिया जा रहा है।

'आथि' इति कर्तृनिष्ठा 'कीज' इति साध्यगा क्रिया तस्मात्।

अस्ति-करोती धातू अकर्मक-सकर्मका एवम् ॥

अथ 'अकर्मक-सकर्मका एवम्' इत्युक्तम्, अतो बालशिक्षार्थं तदनुगता लोकोक्तयो अपरा अपि कियन्तो लिख्यन्ते। तत्राकर्मकधात्वर्थानुगतास्तावद् यथा—'गंग न्हाएं धर्म हो, पापु जा'—गंगायां स्नातं धर्मो भवति, पापं याति।

उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण की भाषा का नमूना	अथवा—'धर्मु भा, पापु गा'—धर्मो बभूव, पापं जगाम। अथवा—'धर्म होइह, पापु जाइह'—धर्मो भविष्यति, पापं यास्यति। —एवमन्येऽपि पल्लवाः पूर्वोक्ताः प्रतिप्रयोगं योज्याः बालशिक्षार्थम्। ग्रन्थविस्तारभयाच्च न दर्शिताः।

'जस जस धर्मु बाढ, तस तस पापु घाट'—यादृग् यादृग् धर्मो वर्धते, तादृग् तादृग् पापं घट्टति, घट्टयति वा। घट्ट चलने भ्वादौ चुरादौ च।

'जब जब धर्मु बाढ, तब तब पापु ओहट'—यदा यदा धर्मो वर्धते, तदा तदा पापं अवघटति, अवघटयति वा। घट संघाते चुरादौ।

'जैसें जैसें धर्मु जाम, तैसें तैसें पापु खाम'—यथा यथा धर्मो

जायते, तथा तथा पापं क्षीयते। जनी प्रादुर्भावे; क्षि क्षये, क्षयति वा।

'जेइं जेइं धर्मु पसर, तेइं तेइं पापु ओसर' -- येन येन धर्मः प्रसरति, तेन तेन पापमपसरति। सृ गतौ, उपसर्गादर्थान्तरम्।

'यैहा यैहा धर्मु चड, तैहा तैहा पापु खस'—यस्मिन् यस्मिन् धर्मश्चटति चटयति वा, तस्मिन् तस्मिन् पापं स्खलति ह्रसति वा। चट स्फुट भेदने; स्खल संचये, चलने च। तुम ह्रस शब्दे।

'जाहां जाहां धर्मु नांद, ताहां ताहां पापु मान्द'—यत्र यत्र धर्मो नन्दति, तत्र तत्र पापं मन्दते। टुणादि समृद्धौ, मदि स्मृतिमोदादिषु, गतावत्र।

'जा किह धर्मु कीज, ता किह पापु खीज'—यस्मै धर्म्मः क्रियते तस्मै पापं क्षीयते। डुकृञ करणे, क्षीज कूजेत्यादि; खिद्यत इवापास्ततत्वात्।

'जातौ धर्मु पाविअ, तातौ पापु सामिअ'—यतो धर्म्मः प्राप्यते, ततः पापं शाम्यति। आप्लृ व्याप्तौ; शमु दमु उपशमे।

'याकर धर्मु, उसस, ताकर पापु ओरुस'—यस्य धर्म्म उच्छ्वसति, तस्य पापमवहसति। श्वस प्राणने, हस हसने; ह्रसति वा।

१. 'उक्ति व्यक्ति' में प्रयुक्त देश भाषा की सब से विशिष्ट ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति यह है कि सामान्य वर्तमान काल, अन्य पुरुष, एक वचन की क्रिया में प्रयुक्त प्रत्यय के उद्वृत्त स्वर-समूह—अइ,—एइ का—ऐ न होकर प्रायः—अ होता है। परवर्ती अपभ्रंश और तत्पश्तात् व्रज, अवधी आदि में प्रायः-ऐ होने की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, जैसे चलति > चलइ का प्रायः 'चलै' और करोति > करेइ या करइ का 'करै' हो जाया करता था। 'उक्ति-व्यक्ति' के बाद की अवधी में—अ के साथ ही—अइ और—ऐ वाले रूप भी समान रूप से मिलते हैं।

ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति

लेकिन 'उक्ति व्यक्ति' में—अइ,—ऐ वाले रूप बहुत कम मिलते हैं। रहइ, मानइ, मिलइ, चलइ आदि कुछ एक रूप केवल अपवाद हैं। अधिकांशतः चलइ = चल, करइ = कर, जाइ = जा, होइ = हो, पढ़इ = पढ़ आदि रूप ही मिलते हैं।

इस प्रवृत्ति की पुष्टि सप्तमी एक वचन के प्रत्यय –अँ, –अ से भी होती है। डा० चटर्जी ने अन्य किसी संतोषप्रद व्युत्पत्ति के अभाव में इसे –अहिँ, अहि >अधिं से व्युत्पन्न माना है।[1] इस प्रकार * स्कन्धधिं > स्कन्धहिं > स्कन्धे, स्कवेँ न होकर 'उक्ति व्यक्ति' में प्रायः कांधँ या कांध रूप मिलते हैं। यहाँ भी –अधिँ > –अहिँ = –ए न होकर –अ ही हुआ।

इस प्रकार –अइ> –अ 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा की महत्त्वपूर्ण ध्वन्यात्मक विशेषता है।

२. परवर्ती काल के अन्य अपभ्रंशों तथा आ० भा० आ० की तरह 'उक्ति व्यक्ति' की देश भाषा में भी दीर्घ या संयुक्त व्यंजन अथवा अनुनासिक+व्यंजन के व्यंजन-समूह में सरलीकरण के साथ पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण की व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। जैसे—

भक्त > भत्त > भात, पक्व > पक्क > पाक, ग्रन्थि > गंठि, गाँठि

कभी-कभी द्वितीय अक्षर पर स्वरपात होने के कारण उक्त पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण की जगह ह्रस्वीकरण हो जाता है; जैसे—

सामान्यतः भिक्षा>भिक्खा>भिक्ख>भीख होगा; लेकिन यदि *भिक्षा-कारिक हो तो भिक्खा-आरिअ>भीखारी>भिखारी रूप होगा।

इसी प्रकार ग्रामः>गाउँ; लेकिन ग्रामकार>गवाँर।

३. संस्कृत के जो अन्त्य दीर्घ स्वर अपभ्रंश तक आते आते ह्रस्व हो गए थे वे आ० भा० आ० के उदय होते होते क्रमशः लुप्त हो चले। इस प्रवृत्ति के बीज 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा में भी मिलते हैं; जैसे—

सासु = श्वश्रू, वाग = वल्गा, भूख = बुभुक्षा, भीख = भिक्षा, जीभ = जिह्वा, सेज = शय्या, सवति = सपत्नी, लाज = लज्जा, पीर = पीड़ा, हरडइ = हरीतकी

४. किसी शब्द के अन्तर्गत व्यंजनों के लोप से उत्पन्न उद्वृत्त स्वर

---

१. उक्ति व्यक्ति : स्टडी, पृ० १६, बं० लैं० भाग २, पृ० ७४५-४६

या तो संयुक्त हो जाते हैं, अथवा उनमें संधि हो जाती है, अथवा य, व श्रुति के समावेश द्वारा उनका स्वतंत्र अस्तित्व सुरक्षित रखा जाता है; जैसे—

लकुट>लगुड>लउड, लौडी (=लकुटिका), द्यूतकार>जूअआर>जुआर, पंडित>पंडिअ>पांडे>पाँडे, सुगन्ध>सुअन्ध>सोंध, चतुष्क>चउक्क>चौक सूपकार>सूअअआर>सुआर सुवार

५. अपभ्रंश का अन्त्य उद्वृत्त स्वर—इअ आ० भा० आ० में प्रायः —ई हो जाता है लेकिन 'उक्ति व्यक्ति' में प्रायः —इ ही दिखाई पड़ता है, और —आ प्रत्यय के योग से वह —इआ हो जाता है; जैसे—

सुखिआ, दुखिआ उपकारिआ आदि।

६. जहाँ तक तद्भव शब्दों में होनेवाले व्यंजन-विकारों का संबंध है, संयुक्त और दीर्घ व्यंजनों के सरलीकरण की प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश में व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है; परन्तु राजस्थान और पंजाब प्रदेश के अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति उतनी नहीं मिलती, जितनी मध्यदेशीय अपभ्रंश में। 'उक्ति व्यक्ति' में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं।

७. अन्य संयुक्त और असंयुक्त व्यंजनों के विषय में 'उक्ति व्यक्ति' ने प्रायः पूर्ववर्ती अपभ्रंश के रूपों को भली भाँति सुरक्षित रखा है। उएह, जोएह, बेढ़, बूढ़, पढ़ब, सावज आदि शब्द ऐसे ही हैं जो अपभ्रंश में ही यह रूप प्राप्त कर चुके थे।

८. 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा अपभ्रंश में प्रचलित संस्कृत के अर्ध तत्सम और तत्सम शब्दों को ग्रहण करके कभी-कभी अपनी ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति के अनुसार उनमें परिवर्तन भी कर देती है। परिवर्तन करने में 'सावर्ण्य' की अपेक्षा 'स्वर-भक्ति' और विप्रकर्ष की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। जैसे—'रत्न' से रत्त न करके 'रतन' रूप बनाना और वर्ष से वस्स न करके वरिस। इस व्यापक विधान के अन्तर्गत 'उक्ति व्यक्ति के कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

मध्यक>मधक, आदर्श>आरिस, सर्षप>सरिसव, वर्ष>वरिस, नित्य>नित, शुक्ल>सुकिल, त्यज>तज, लोक>लोग।

९. इन तद्भव और अर्धतत्सम शब्दों की अपेक्षा 'उक्ति व्यक्ति' में अनेक देशी शब्द भी मिलते हैं जिनमें काम करने वाली ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति का विचार करना कुछ कठिन है।

१० 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा में कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर के विपरीत अरबी फारसी के विदेशी शब्द नहीं के बराबर मिलते हैं इसलिए कहना कठिन है कि मध्यदेशीय बोली में इन विदेशी शब्दों की ध्वनि में किस प्रकार का परिवर्तन किया जाता था।

रूप-रचना

१. अन्य अपभ्रंशों की तरह 'उक्ति व्यक्ति' की भाषा में भी संज्ञा शब्दों की रूप-रचना का आधार मुख्यतः अकारान्त पुल्लिंग शब्द के ही रूप प्रस्तुत करते हैं जिन पर कहीं कहीं सर्वनाम के विकृत रूपों का गहरा रङ्ग दिखाई पड़ता है।

कारक-विभक्ति शौरसेनी अपभ्रंश के प्रथमा एकवचन की प्रत्यय – उ का प्रभाव प्राचीन कोसली पर इतना व्यापक जान पड़ता है कि प्रथमा के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में भी उकारान्त पदों का प्रयोग हुआ है।

२. सामान्यतः प्रथमा और द्वितीया एक वचन में किसी प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता; लेकिन द्वितीया में कहीं कहीं अनुनासिक का प्रत्ययवत् प्रयोग हुआ है जैसे—

कापडँ तँग (४०।१५), **थालाँ** माँज (५७।१५) वयालिँ **रुखुं** उलँड (३८।५३)। इसी प्रकार द्वितीया बहु वचन में भी कहीं कहीं – ए, – एँ प्रत्यय का प्रयोग मिलता है; जैसे—

भाँडे माँज (४२।२१), **भलेँ** निवाड (४८।११)

द्वितीया बहुवचन में – न्ह प्रत्यय का भी प्रयोग किया गया है; जैसे—

गुरु **सीसन्ह** ताड (३६।१२), गअवाल **तिथिआतिन्ह** जुड (५१।२८)।

३. तृतीया एक वचन में अपभ्रंश काल की –एं, –इं प्रत्यय के अवशेष 'उक्ति-व्यक्ति' में भी मिलते हैं ! जैसे—

जीभें चाख (६।६), नाकें सँघ (६।१३), हाथें छूअ (६।१६)

हंसिएँ ब्रीहिं लवितिं कमारें (१३।२२) बआलिँ रुखु उपड (३४।१८)

४. सप्तमी में या तो किसी प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता या केवल अनुनासिक का प्रयोग मिलता है। जैसे—

मुह् चूँब, सेजँ ओलर, कोलँ ले (६।२०)

सबहि भूतँ दया करु (६।३०), खेतँ हंसिएँ ब्रीहिं लवितिँ कमारेँ (१३।२२)

५. —हि, —हिँ ऐसी व्यापक प्रत्यय है जिसका प्रयोग प्रायः द्वितीया और चतुर्थी में तथा कभी कभी तृतीया और सप्तमी में भी एक वचन और बहुवचन दोनों में दिखायी पड़ता है।

भीचहि ताड़ (४८।७), बाघहि डर (४८।२७) देवहि नवँ (४५।१६)

सबहि उपकारिआ होउ (१०।४),

बिहाणहिं आदितु रफा (३४।२३)।

६. इन विभक्तियों और विकारी रूपों के अतिरिक्त विभिन्न कारकों के लिये कुछ परसर्ग भी प्रयुक्त हुये हैं। इनमें से सम्प्रदान कारक के लिये प्रायः किह, केहँ, किँह, किहँ परसर्गों का प्रयोग हुआ है; जैसे—

ब्राह्मणु-किहँ (१४।१०) परकेहँ, आपणु केहँ (३८।१५)

जूझण किहँ (३४।८), करबेँ किहँ, पढ़वेँ किहँ, जावेँ किहँ (११।२०-२३) कभी कभी संबंध कारक का परसर्ग –कर भी सम्प्रदान में प्रयुक्त हुआ है जैसे—बणिएँ-कर धणु धर (१४।२०)।

७. अपादान में तौ, पास, हुँत (हुत) या हुँती परसर्गों का प्रयोग किया गया है; जैसे—

बाघ तौ डरा (१४।१६), ओझा पास बीदा ले (१४।१६), गाँव-हुँत आव (१४।१५), कहाँ हुत ए पुरुषु आ (२३।१५)

८. संबंध कारक में 'कर' परसर्ग का प्रयोग हुआ है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जायसी और तुलसी की अवधी में जो 'केर' और 'केरि' परसर्ग बहुतायत से मिलते हैं वे उक्ति-व्यक्ति में दृष्टिगोचर नहीं होते। 'कर' युक्त-रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

राज कर पुरुषु (१६।१६), पड्वसी कर घरु (२२।३)।

परवर्ती संबद्ध संज्ञा के लिंग वचन के अनुसार इस परसर्ग में भी परिवतन होता है; जैसे—

बड़ करी डाल (३५।२१), तेहु करि सभाँ (१०।१५)

पूत करें बधावें नाच (३६।२८)

९. करण कारक में तृतीया विभक्ति की कुछ घिसी हुई प्रत्ययों के अतिरिक्त पास, सउँ, सेउँ परसर्गों का भी प्रयोग किया गया है। जैसे—राजर सागर आँडहु पास खणावन्त आछ (२१।१४)=राजसागरमुद्रैः खानयति, दूजणें सउँ सबकाहु तूट (३७।२३), घिए साँकरे सेउँ सातु (२१।३१)

१०. अधिकरण कारक में 'उक्ति व्यक्ति' अन्य अपभ्रंशों की तरह मज्झ, माहिँ आदि परसर्गों के अतिरिक्त 'कृ' धातु के 'क्त्वान्त-तद्भव रूप 'करि' का प्रयोग किया है जो विलक्षण है। जैसे—

भूखहितौ ब्राह्मणु किंह थालिं करि इंधणे भातु रान्ध ब्राह्मणु (१५/१०)

थालिं करि = स्थाल्यां कृत्वा = स्थाप्ल्याम्।

सर्वनाम नाम की तरह सर्वनाम के रूपों के विषय में भी 'उक्ति-व्यक्ति' समृद्ध है।

१ पुरुष वाचक सर्वनामों में से उत्तम पुरुष के निम्नलिखित रूप प्राप्त होते है—

	एक वचन	बहु वचन
प्रथमा—	हउ (२२/५), हौं (१६/३१)	अम्हे (१४/२७)
द्वितीया—	मोहिं (२१/२१)	अम्हे (२२/६)
तृतीया—	मैं (२२/६)	×

पंचमी—	×	अम्ह-तउ (१४/२१), अम्ह-पास (२१/६)
षष्ठी—मोर (१६/१८)		अम्हार (१६/२०)

२. मध्यम पुरुष के रूप निम्नलिखित हैं—

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	तुँ (१६/६)	तुम्हे (१४/२८)
द्वि०	तेहि (२२/४)	तुम्ह (२१।२०)
तृ०	तै (२०।१०)	×
पं०	×	तुम्ह-तउ (१४/२७)
ष०	तोर (१६/३०)	×

३. अन्य पुरुष के रूप सभी लिंगों में निम्नलिखित हैं—

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	सो (१०/७)	ते (१०।६)
द्वि०	ताहि (४७/२०)	×
तृ०	तेइँ, तेइ (२३।१४)	×
पं०	ता-तउ (१४।२८)	×
ष०	ता-कर (३३।२५)	तेन्ह-कर (१०।१५)
स०	तैहा (३३।१६)	तेन्ह-माँझ (१०।१७)

४. निकट वर्त्ती संकेत-वाचक सर्वनाम के रूप सभी लिंगों में निम्नलिखित होते है—

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	ए	ए
सप्त०	×	एन्ह माँझ (१६।३०)

५. संबंध वाचक सर्वनाम—

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	जो (यो)	जे (१०।६)
द्वि	"	×
तृ०	जेइँ, जेइ (३३।१४)	×

च०	जा-किहँ (१४-२३)	×
पं०	जा-तउ	×
ष०	जा कर (३३।२५)	×
स०	जैहा (३३।१६)	×

६. प्रश्न-वाचक सर्वनाम—

पुंलिंग और स्त्रीलिंग

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	को (१६।१८)	के (२१।२१)
द्वि०	को (२२।५)	×
तृ०	केइ, केइँ (२१।३)	×
च०	का किहँ, काहि (२२।२७), का करें (१५।१)	×
पं०	का-तउ, का-पास, का पासु	×
ष०	काँ-कर	×

नपुंसक लिंग

प्र० – द्वि०, एक वचन – काह, किछु (१४।२३)

तृ० काहें (२२।६)

७. अनिश्चय वाचक सर्वनाम—

प्र०	द्वि०	तृ०
कोउ (२१।१८)	काहु (५६।३१)	केहुँ (१४।२३)

८. निज वाचक सर्वनाम—

द्वि०—अपाण (४१।२३)

ष०—आपण (३८।१३), बहु० आपणे (४४।२८)

तृ०—आपणे (३६।१४)

च०—आपण-किहिँ (३८।१५)

स०—आपणी जाति (५२।१६)

१. 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश के माध्यम से संस्कृत की अनेक धातुओं का उत्तराधिकार प्राप्त किया लेकिन जिस विकरण-

विविधता के कारण संस्कृत धातु दस गणों में विभाजित होते हैं, वह कम हो गया और संज्ञा शब्दों की तरह क्रियायों में भी – अ – विकरण वाले रूपों की प्रधानता हो गई। किन्तु 'उक्ति-व्यक्ति' काल में देशभाषाओं पर संस्कृत-प्रभाव इतने व्यापक रूप से पड़ रहा था कि अनेक तत्सम और अर्ध-तत्सम धातु 'उक्ति व्यक्ति' में स्वीकृत हो गए। छेद, विभंज, अनुसील, रच, सूच, दर्प्प, गवेस, उत्कीर्त, आज्ञाप, शेप, बर्ज, आलाप, प्रतिबिम्ब, क्षोभ आदि ऐसे ही शब्द हैं जो धातु के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

क्रियापद

२. परस्मैपद और आत्मनेपद का भेद तो बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था, अय-विकरण वाले चुरादि गण के प्रेरणार्थक रूप तथा नाम धातु के रूप भी क्रमशः जो सामान्य – अ – विकरण वाले रह गए थे, 'उक्ति व्यक्ति' में आकर और भी संक्षिप्त हो गए; जैसे चोरयति, कथयति, मार्गयति, छिद्रयति आदि अपभ्रंश में चोरइ, कहइ, माँगइ, छेदइ हो गए और फिर 'उक्ति व्यक्ति' में केवल चोर, कह, माँग, छेद रह गए।

३. सामान्य और प्रेरणार्थक क्रियाओं का आरंभिक अंतर मिट गया और उसके स्थान पर धातु-स्वर को दीर्घीकरण की प्रवृत्ति हो गई, जैसे झड = झटति, झाड़ = झाटयति (४३।२३); टुट = त्रुट्यति, तोड़ = त्रोटयति (४५।११)। इसी प्रकार मूल धातु और प्रेरणार्थक तथा नाम धातु का आरंभिक अंतर मिट जाने के बाद अंतर करने के लिए – आव – अव –, – आ –, – आअ – विकरण का सहारा लिया गया। जैसे—

दर्पयति के लिए दापव (५१।२१), विज्ञापयति के लिए विनव (३१।२८), निवट, निवटाव (४८।१४, = निवर्तते, निवर्तयति)

४. अनेक देशी धातुओं को भी 'उक्ति व्यक्ति' ने संस्कृत उपसर्ग और गुण-वृद्धि के द्वारा सामान्य क्रियापदों के साँचे में ढाल दिया है, यहाँ तक कि उनकी व्युत्पत्ति का पता लगाने में और भी कठिनाई उपस्थित हो गई है।

५. काल-रचना के क्षेत्र में प्रायः तीन प्रकार के रूप मिलते हैं :— तिङन्त-तद्भव, कृदन्त-तद्भव और संयुक्त। संस्कृत के तिङन्त क्रियापद प्राकृत अपभ्रंश से होते हुए 'उक्तिव्यक्ति' की भाषा को भी उत्तराधिकार-स्वरूप प्राप्त हुए। ये तिङन्त-तद्भव रूप केवल चार कालों में ही मिलते हैं—सामान्य वर्तमान काल (कर्तृवाच्य), सामान्य वर्तमान (कर्मवाच्य), सामान्य भविष्यत् और आज्ञार्थ (लोट् और लृट्)।

(क) 'उक्ति-व्यक्ति' में सामान्यवर्तमान काल के तिङन्त-तद्भवरूप इस प्रकार हैं—

	एक०	बहु०
प्र० पु०	कर ('करइ' विरल)	करति
म० पु०	करसि	करहु
उ० पु०	करउँ (करौँ)	करहु

(ख) कर्मवाच्य में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया में –ईअ–, इ–∠–य– विकरण का प्रयोग मिलता है; जैसे—

पढिअ (२०।२६) = पठ्यते; जेविँअ (२१।२१) = भुज्यते

कराविअ (२१। १६) = कार्यते; खेलिअ (२०। ५) = क्रीडयते

(ग) –ह– वाले सामान्य भविष्यत् काल के रूप उक्ति-व्यक्ति में निम्नलिखित मिलते हैं

	एक बचन
प्र० पु०	करिह
म० पु०	करिहसि
उ० पु०	* करिहउँ

तारिह (२१। २०) तजिह (६। २३), जेविँह (६। २१), करिहसि (२०। १३) मागिहउँ (२२। ५)

(घ) सामान्य आज्ञा के रूप—

प्र० पु०	करउ
म० पु०	करु

(ङ) भविष्यत् आज्ञा के रूप—

निवंतेसु (१६ । २३) = निमन्त्रिष्यसि

पढेसु (१६ । २४) = पठिष्यसि

आगे चलकर तुलसीदास में भी मारेसु, बाँधेसु जैसे रूप मिलते हैं।

६. कृदन्त-तद्भव वाले रूप अधिकांशतः भूतकाल के ही मिलते हैं, केवल एक रूप सामान्य भविष्यत् काल का मिलता है।

(क) सामान्य भूतकाल के रूप दुर्भाग्य से 'उक्ति-व्यक्ति' में बहुत कम मिलते हैं। सामान्य भूतकाल के रूपों की यह विशेषता है कि उनमें अकर्मक और सकर्मक के अनुसार अन्तर हो जाता है क्योंकि अकर्मक क्रिया के भूतकालिक रूप कर्तरि होते हैं और सकर्मक के कर्मणि।

अकर्मक क्रियापद

सभी पुरुष, पुंल्लिग कर्त्ता के अनुसार—

एक०	बहु०
गा	गए
भा	भए
बाढा	* बाढे
आ	* आए

सभी पुरुष, स्त्रीलिंग कर्त्ता के अनुसार—

बाढी	* बाढी
भई	भई

सकर्मक क्रियापद

जब कर्त्ता पुंलिंग, एक वचन, अन्य पुरुष हो तथा कर्म दोनों वचनों और लिंगों में हो—

दर्शन किएसि, देखेसि (६ । १०), किएसि, निएसि, पावेसि (२२ । १०)

जब कर्म पुल्लिग एक वचन हो और कर्त्ता अनुक्त हो—

तइँ काह किअ (२०।१०) मइँ पढ़ा (२०।२१)

जब कर्म पुल्लिंग, बहु वचन हो —

ए ब्राह्मण थापे (२१।१७)

(ख) हेतु-हेतुमद्‌भूत—

(अन्य पुरुष): जइ पावँत, तब करत (८।१६)

जइ देउ वृष्टि करत, तब अन्न होँत (६।१५)

जइ इँधन पाएँत, त ओदन पाएँत (६।१६)

(ग) सामान्य भविष्यत् काल :— — ब<अब्ब<तव्य

वेद पढब, स्मृति अभ्यासबि, पुराण देखब, धर्म करब (१२।१६-१७)

इस पर कर्म के लिंग वचन का प्रभाव पड़ता है। जैसे—

ए बेटी काहि देबि (२२।२७)

७ संयुक्त काल प्रायः तिङन्त-तद्भव और कृदन्त-तद्भव के रूपों को मिलाकर निम्नलिखित प्रकार से बनाए जाते हैं—

(क) शतृ कृदन्त + सहायक क्रिया का तिङन्त रूप—

आखिँ देखत आछ (६।५), चाखत आछ (६।११)

सूँघत आछ (६।१३), बोलत आछ (७।३)

यही क्रियापद कहीं-कहीं अपूर्ण भूत का अर्थ देता है, जैसे —

काह करत आछे (२०।११) = किं कुर्वंता स्थितम्।

को तहाँ जेवँत आछ (२१।७) = कस्तत्र भुञ्जान आसीत।

(ख) क्त्वान्त पूर्वकालिक + सहायक क्रिया का तिङन्त रूप—

धर्मु करि आछ (११।११) = धर्मं कृत्वा आस्ते।

यहाँ आसन्न भूत काल का बोध होता है। परंतु इस प्रकार का एक ही उदाहरण 'उक्ति व्यक्ति' में मिलता है।

८. 'उक्ति व्यक्ति' में संयुक्त काल की जितनी बहुलता मिलती है, उतनी संयुक्त-क्रिया की नहीं मिलती। संयुक्त-क्रियाएँ या तो तत्सम शब्दों के साथ 'कर' धातु के रूपों से बनाई गई हैं या 'करण चाह', 'जेवँण माँग' और 'लै-लै पला' जैसी सरल संयुक्त-क्रियाएँ मिलती हैं।

९. सहायक क्रियाएँ आछ, हो, अह और रह चार धातुओं से निर्मित प्रयुक्त हुई हैं। इनमें भी 'आछ' वाले रूपों की बहुलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय मध्यदेशीय बोलियों में भी इसका व्यापक प्रसार था। लेकिन आगे चलकर अवधी में केवल 'हो' और 'रह' वाली सहायक क्रियाएँ ही अवशिष्ट रहीं।

इस प्रकार मुख्यतः सन्देश रासक और प्राकृत पैंगलम्, वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता तथा 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' के आधार पर परवर्ती अपभ्रंश के पश्चिमी, पूर्वी और मध्यदेशीय भेदों की विशेषताओं के साथ ही अपभ्रंशोत्तर युग तथा आधुनिक भाषाओं के पूर्वकाल के बीच की भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। उक्त ग्रन्थों की भाषा पर अलग-अलग विचार करते समय स्पष्ट रूप से ध्वनि तथा रूप-रचना संबंधी कुछ ऐसी विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुई हैं जो प्रदेश-भेद के बावजूद सबमें सामान्य हैं। परवर्ती अपभ्रंश को सुविधा के लिए कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ट' नाम दिया है; यद्यपि अवहट्ट और अपभ्रंश संज्ञा में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, फिर भी प्रयोग की दृष्टि से 'अवहट्ट' संज्ञा परवर्ती अपभ्रंश के ग्रन्थों में ही अधिक मिलती है। इसलिए किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में 'परवर्ती अपभ्रंश' जैसे बड़े शब्द के लिए अवहट्ट शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

अब अवहट्ट की इस पृष्ठभूमि पर सामान्यतः आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं और विशेषतः हिन्दी की विविध बोलियों के उदय का ऐतिहासिक विवेचन संभव हो सकता है।

अवहट्ट अथवा परवर्ती अपभ्रंश के बाद भारतीय आर्यभाषा में जो विशेष प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह है अतिशय देश-भेद की। अवहट्ट की जितनी सामग्री अब तक प्राप्त हुई है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक अवहट्ट के अधिक से अधिक तीन प्रदेश-भेद थे—पश्चिमी पूर्वी और मध्यदेशीय। किन्तु इसके बाद चौदहवीं शताब्दी के आरंभ से

ही गुजराती, मराठी, बँगला आदि आधुनिक भाषाओं की स्वतंत्र सत्ता दिखाई पड़ने लगती है। यही नहीं, स्वयं मध्यदेश में भी राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अवधी और मैथिली आदि बोलियों की निजी विशेषताएँ स्पष्ट होने लग जाती हैं। भारतीय आर्यभाषा में घटित होने वाला यह क्षेत्रीय भेद प्राकृत-काल के क्षेत्रीय भेद से निश्चय ही भिन्न प्रतीत होता है। वैयाकरणों द्वारा निरूपित महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची आदि प्राकृत-भेदों में मुख्य भेद उच्चारण संबंधी ही है, व्याकरणिक भेद नाम मात्र को है। लेकिन यही बात गुजराती, मराठी, बँगला और राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अवधी तथा मैथिली के विषय में नहीं कही जा सकती।

आधुनिक भाषाओं का उदय

इस ऐतिहासिक घटना के कारणों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक भाषाओं का उदय जितना आकस्मिक दिखाई पड़ता है, उतना आकस्मिक वस्तुतः है नहीं। भाषा के इतिहास में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। बड़ी से बड़ी ऐतिहासिक क्रान्ति भी भाषा के ढाँचे में सहसा परिवर्तन नहीं ला सकती। अक्सर धीरे-धीरे होने वाले छोटे-छोटे परिवर्तन शताब्दियों बाद जब एकत्र हो जाते हैं तो भाषा एकदम बदली हुई मालूम पड़ने लगती है। गुजराती, मराठी बँगला तथा हिंदी बोलियों के उदय के बारे में भी यही नियम लागू होता है। इन आधुनिक भाषाओं का उदय और विकास अपभ्रंश के ही गर्भ में धीरे-धीरे सैकड़ों वर्षों से होता आ रहा था। एक ओर साहित्यिक अपभ्रंश के रूप धीरे-धीरे अप्रचलित होते गए और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के नये रूप प्रचलन में आते रहे। क्रमशः प्राचीन रूपों के ह्रास और नवीन रूपों के विकास की प्रक्रिया से ही आधुनिक भाषाओं का उदय हुआ। आधुनिक भाषाओं के ये नये रूप निश्चय ही उनकी प्रादेशिक बोलियों से आते रहे हैं। फिर भी यह बात विचारणीय रह ही जाती है कि

क्षेत्रीय भेद का कारण

चौदहवीं शताब्दी के आस-पास इन प्रादेशिक बोलियों का संगठन भाषा के रूप में क्योंकर हुआ ?

जिन जनपदीय बोलियों का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में शीघ्र हुआ, उनमें गुजराती, मराठी और बँगला मुख्य हैं। यदि इन प्रदेशों अथवा जनपदों के इतिहास पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि अनेक छोटे-मोटे राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद इनकी भौगोलिक सीमाएँ शताब्दियों पहले से बहुत कुछ अपरिवर्तित रहती आई हैं।

गुजराती, मराठी और बँगला के उदय का कारण

अपभ्रंश काल से ही ये प्रदेश आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से स्वतंत्र इकाई के रूप में संगठित होने लगे थे। गुजरात के सोलंकी, देवगिरि के यादव और बंगाल के पाल राजाओं ने अपने-अपने भूखंडों में स्वतंत्र शासन-सत्ता स्थापित करने के साथ ही, अनेक लोकप्रिय सांस्कृतिक कार्यों द्वारा जातीय इकाइयों को संगठित होने का अवसर प्रदान किया। शासन की दृष्टि से इन जातियों की भौगोलिक सीमाओं में एकसूत्रता स्थापित हुई और राजवंशों में भी परिवर्तन कम हुआ। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों के राजवंशों ने संस्कृत की अपेक्षा लोकबोलियों को अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार जातीय संगठन ने भाषा का उत्थान किया और भाषा ने जातीय संगठन का; दोनों ही परस्पर-वर्धमान हुए। यहाँ तक तो गुजराती, मराठी और बँगला तीनों भाषाओं के उदय के सामान्य कारण हैं। लेकिन इनमें से प्रत्येक के कुछ निजी कारण भी हैं। उदाहरण-स्वरूप गुजराती और उसके साथ ही सिंधी के विकास में वाणिज्य विशेष सहायक हुआ, जब कि मराठी और बँगला के उत्थान में राजकीय और सांस्कृतिक कारण ही मुख्य थे।

उत्तर भारत में तुर्कों के आक्रमण से पश्चिमी वाणिज्य-मार्ग बंद हो जाने के कारण दसवीं सदी तक वाणिज्य में जो ठहराव आ गया था, वह थोड़े दिनों बाद जब दूर हुआ तो उससे लाभ उठाने वालों में सिंध और गुजरात अग्रणी रहे। इस नई वाणिज्य-व्यवस्था ने इन जातियों के स्वतंत्र

संगठन में विशेष योग दिया। इसके विपरीत मराठी-भाषा-भाषी जाति के संगठन में राजनीतिक केन्द्र दिल्ली से उसका सतत अलगाव और भक्ति आन्दोलन विशेष रूप से सहायक हुआ। केन्द्र से प्रायः स्वतंत्र रहना बँगला-भाषा-भाषी जाति के उत्थान में भी सहायक हुआ लेकिन इसके साथ ही धार्मिक जागरण और जहाज़रानी के ज़रिए वाणिज्य-विस्तार भी निमित्त कारण हो गया।

इसके विपरीत मध्यदेश की भाषा का विकास दूसरे ढंग से हुआ। जिस प्रकार सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में बहुत पहले ही एक साहित्यिक भाषा का उदय हो गया, उसी प्रकार मध्य-देश में एक साहित्यिक भाषा का उदय न हो सका। इस विशाल भू-भाग में अनेक छोटी छोटी साहित्यिक बोलियाँ बन गईं। इन बोलियों में भी सबका विकास एक सा और एक साथ नहीं हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थानी और मैथिली बोलियों का उदय पहले हो गया; इनके बाद अवधी का उदय हुआ। ब्रजभाषा और खड़ीबोली का उदय लगभग साथ ही साथ हुआ। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा खड़ीबोली से पहले ही लोकप्रिय तथा प्रौढ़ हो गई। खड़ी बोली उठी तो बहुत पहले ही लेकिन एक तो जन्म के साथ इसे मातृभूमि छोड़कर दक्षिण में प्रवासी होना पड़ा, दूसरे यह शुरू शुरू में विदेशी भाषा-भाषियों के हाथ पड़ गई, तीसरे विदेशी धर्म-प्रचार का साधन बन गई और चौथे संयोग से सामान्य जन समुदाय से दूर नगर तथा राज दरबार में बँध गई; इसलिए आरंभ में इसका उत्थान ब्रजभाषा की अपेक्षा मंद पड़ गया। क्योंकि खड़ी बोली के ठीक विपरीत ब्रजभाषा का विकास उसकी टेठ जन्म भूमि में ही हुआ; उसे संस्कृत भाषा की विशाल परंपरा का आधार प्राप्त हुआ; वैष्णव भक्ति के प्रसार का गौरव मिला और सबसे बढ़कर लोक-हृदय के प्रतिनिधि भक्त कवियों का संबल मिला। पंजाबी का उदय भी तभी हुआ जब उसे नानक आदि संत कवियों की भावराशि तथा सामान्य जनसमूह के सांस्कृतिक जागरण की प्रेरणा मिली।

हिंदी बोलियों का उदय

यदि हिंदी बोलियों में से एक-एक को लेकर उनके उदय के कारणों पर विचार किया जाय तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होंगे जिनसे बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ निर्मूल हो सकती हैं। मैथिली का उदय इतना पहले इसीलिए संभव हो सका कि मिथिला शासन की स्वतंत्र इकाई के रूप में एक ही राजवंश के अन्तर्गत कई शताब्दियों तक स्थापित रहा। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति उसी राज्यकाल की उपज हैं। सांस्कृतिक इकाई के रूप में इस जाति का संगठन दीर्घ परंपरा से होता आया है। भौगोलिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से उन दिनों मिथिला मध्यदेश से अलग और स्वतंत्र था। फलतः इस प्रदेश की बोली हिंदी की अन्य बोलियों से बहुत कुछ भिन्न हो गई। यह ध्यान देने की बात है कि मैथिली का उदय और विकास जिस गति से हुआ, वह पीछे प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मंथर हो गया। लेकिन आधुनिक युग में जातीय भावना के अभ्युदय के साथ ही मैथिली फिर बढ़ चली और आज स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि यह बोली परिनिष्ठित हिंदी से अलग स्वतंत्र भाषा के रूप में विकास कर जायगी।

मैथिली और राजस्थानी

राजस्थानी की स्थिति भी बहुत कुछ मैथिली जैसी ही है। पश्चिमी राजस्थान बहुत दिनों तक जातीय और प्रशासकीय रूप में गुजरात से संबद्ध रहा; दोनों जातियों और बोलियों का विकास साथ-साथ हुआ। पुरानी गुजराती और पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में बहुत कुछ समानता का होना इस तथ्य का प्रमाण है। दूसरी ओर पूर्वी राजस्थान पृथ्वीराज चौहान के ही समय से (और शायद उससे भी कुछ पहले से) दिल्ली-आगरा के शासन सूत्र से संबद्ध रहा। फलतः उसकी भाषा (पूर्वी राजस्थानी) पुरानी व्रजभाषा से मिलती जुलती है। धीरे धीरे राजस्थान का राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास इस प्रकार हुआ कि राजस्थानी बोली-समूह की मुख्य बोली मारवाड़ी प्रधान हो गई और अब वह परिनिष्ठित हिंदी से स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में गठित होने लगी है।

मैथिली और राजस्थानी के विपरीत मध्यदेश की शेष तीन मुख्य साहित्यिक बोलियाँ अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली अलग-अलग होती हुई भी आरंभ से ही एक जातीय भाषा के रूप में विकसित होने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ती है। इतिहास साक्षी है कि अवधी ने किस प्रकार तुलसीदास के समय तक आते-आते ब्रजभाषा में अपना अस्तित्व मिलाकर एक काव्य-भाषा के निर्माण में योग दिया और आगे चल कर अवधी-मिश्रित ब्रजभाषा ही मध्यदेश की सर्वमान्य काव्य-भाषा हो गई। साहित्यिक दृष्टि से अवधी ने अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा कर दिया। इसी तरह ब्रजभाषा ने भी खड़ी बोली के लिए मार्ग प्रशस्त करके नवीन साहित्यिक भाषा को आगे बढ़ाया। निःसन्देह खड़ी बोली ब्रजभाषा के सामानान्तर ही उर्दू साहित्य में पनपती और परमार्जित होती रही लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से ब्रजभाषा के परिनिष्ठित होने के बाद ही खड़ी बोली का आधुनिक रूप सामने आ सका। सौदा और मीर के ठीक पहले तक खड़ी बोली में ब्रजभाषा का अत्यधिक मिश्रण था और मीर के समय तक भी ब्रजभाषा के प्रभाव से खड़ी बोली सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी थी। इस तरह व्याकरण की दृष्टि से अपभ्रंश के बाद अवधी से लेकर खड़ी बोली तक एक ही भाषा का निरंतर परिमार्जन और परिष्कार प्रतीत होता है। सदियों तक घिसते-घिसते प्रत्ययों, विभक्तियों, परसर्गों, उपसर्गों आदि ने आधुनिक परिनिष्ठित रूप धारण किया; इस प्रवाह में कुछ प्रत्यय-परसर्ग प्रवाह-पतित अथवा अप्रचलित हो गए और कुछ नए आ मिले; फिर भी व्याकरण का ढाँचा बहुत कुछ वही रहा। उच्चारण और ध्वनि-विकार संबंधी छोटे मोटे स्थानीय भेदों के बावजूद अवधी ब्रजभाषा और खड़ी बोली एक ही हिंदी भाषा के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली

लेकिन यह न भूलना चाहिए कि इन तीनों बोलियों का एक जातीय भाषा के रूप में संगठित होने का कार्य अभी अच्छी तरह पूरा नहीं हुआ है। कारण स्पष्ट है। गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल की तरह मध्यदेश का जातीय

विकास नहीं हुआ, इसीलिए इस क्षेत्र में एक जातीय भाषा का विकास भी यथोचित नहीं हो सका। जिस समय आधुनिक भाषाओं का उदय हो रहा था, उस समय मध्यदेश अत्यंत अव्यवस्थित और अशान्त था। विदेशी आक्रमणकारियों के कारण राजनीतिक स्थिति बराबर अस्थिर रही। राजवंशों का परिवर्तन जितना जल्दी-जल्दी इस क्षेत्र में हुआ, उतना गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में नहीं हुआ। छोटे-छोटे राजवंशों के शासन-क्षेत्रों में विभाजित रहने के कारण समस्त प्रदेश विभिन्न जातीय इकाइयों और बोलियों में बँटा रहा। सोलहवीं सदी के आस-पास इस अव्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन हुआ। मुग़ल बादशाह अकबर महान के शासन-काल में सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हुआ; विकेन्द्रित मध्यदेश केंद्रोन्मुख हुआ। नये ढंग की भूमि-व्यवस्था ने बिखरे हुए गाँवों में कुछ एकसूत्रता स्थापित करने की पृष्ठभूमि तैयार की। सामरिक उपयोग के लिए बड़ी-बड़ी छावनियों के रूप में नगर स्थापित हुए। इन छावनियों में परस्पर यातायात की सुविधा होने से वाणिज्य की प्रगति हुई। इस तरह उस मध्ययुग में भी जातीय भावना के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई। एक ओर ये आर्थिक और राजनीतिक आधार निर्मित हो रहे थे और दूसरी ओर भक्ति-आन्दोलन के द्वारा संपूर्ण मध्यदेश में सांस्कृतिक एकता की लहर फैल रही थी। इन दुहरे प्रयत्नों ने जातीय भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। फलतः अवधी और ब्रजभाषा के मिश्रण से एक सामान्य काव्य-भाषा का प्रादुर्भाव हुआ और साथ ही नगरों में खड़ी बोली का भी अभ्युदय दिखाई पड़ा। आगे चलकर अंग्रेजों के आने से रेल, तार, डाक के द्वारा जब जातीय भावना के विकास के लिए और भी सुविधा प्राप्त हुई तो ब्रजभाषा और खड़ी बोली की सम्मिलित भाषा से आधुनिक खड़ी हिंदी का रूप सामने आया। जातीय एकता का यह कार्य नगरों में तो संपन्न हुआ, किन्तु उस सतह से नीचे गाँवों में दुराव बहुत कुछ बना ही रहा। फलतः जो आधुनिक जातीय भाषा मध्यदेश में बनी वह ऊपर ही ऊपर नगर-निवासी पढ़े लिखे मध्यवर्ग तक ही सीमित रह गई, उसकी जड़ें गाँवों की मिट्टी में

न जा सकीं। इसी आधारभूत कमजोरी के कारण आज भी इस क्षेत्र की भाषा-समस्या उलझी हुई है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर हिंदी बोलियों के उदय की भाषा-विषयक अवस्थाओं पर विचार किया जाना चाहिए।

जब से अपभ्रंश का प्रचुर साहित्य प्राप्त हुआ है, अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का संबंध जोड़ने और उनका आविर्भाव दिखाने का फ़ैशन-सा चल पड़ा है। जहाँ तक इस दिशा में शोध-भावना से प्रयत्न करने की बात है, वहाँ तक तो ठीक है; लेकिन पहले से ही एक निश्चित धारणा के अनुसार अपर्याप्त तथ्यों को जब अनुमान के साँचे में ढालने की चेष्टा की जाती है अथवा कुछ अनुमानित अपभ्रंशों की कल्पना की जाती है तो यह कार्य वैज्ञानिक विचार की सीमा से बाहर जा पड़ता है। जब तक 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण', 'वर्ण रत्नाकर' आदि परवर्ती अपभ्रंश के ग्रंथ प्राप्त नहीं हुए थे तब तक पश्चिमी अपभ्रंश के साहित्य के आधार पर हिंदी बोलियों के उदय की चर्चा करना बहुत कुछ अनुमानित ही था। वस्तुतः अपभ्रंश का जो अधिकांश साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमें प्रायः गुजराती और कुछ-कुछ राजस्थानी के ही आरम्भिक बीज अधिक हैं। पश्चिमी अपभ्रंश की कुछ सामग्री—विशेषतः परवर्ती काल की—ऐसी अवश्य है जिससे ब्रजभाषा के आविर्भाव का आभास मिल सकता है; जैसे संदेश रासक, प्राकृत पैंगलम् आदि। लेकिन सारी सामग्री इतनी परिपाटी-विहित और साहित्यिक है कि उससे उस समय की लोक-बोलियों का पता लगाना कठिन प्रतीत होता है।

हिंदी बोलियों के उदय पर प्रकाश डालने वाली सामग्री

इसकी अपेक्षा 'उक्ति-व्यक्ति' की भाषा में लोक-बोली के अविकृत तत्व कहीं अधिक हैं। अवधी की उत्पत्ति मालूम करने में यह सामग्री जितनी अधिक उपादेय है, उतनी विश्वसनीय और समृद्ध सामग्री ब्रजभाषा के लिए अभी तक सुलभ नहीं हो सकी है।

लेकिन खड़ी बोली के प्राचीनतम रूप पर प्रकाश डालने वाली सामग्री

तो सबसे कम है। आम तौर से शौरसेनी अपभ्रंश तथा अवहट्ट में ऐसा कुछ नहीं मिल सका है, जिससे खड़ी बोली का सीधा संबंध स्थापित किया जा सके। 'दखिनी हिंदी' नाम से अवश्य ही बहुत सा साहित्य प्राप्त हुआ है जो काफी पुराना है, (यहाँ तक कि उसमें से कुछ रचनाएँ तेरहवीं-चौदहवीं सदी ईस्वी की हैं) और जिससे खड़ी बोली के प्राचीनतम रूप पर प्रकाश पड़ता है। तेरहवीं-चौदहवीं सदी में दखिन में जाकर उत्तर की जिस बोली में साहित्य रचा गया, उस बोली को परवर्ती युग की अपभ्रंश अथवा अवहट्ट ही समझना चाहिए। रचना करनेवालों ने उस बोली को चाहे बोली या भाषा ही कहा हो, लेकिन उसे परवर्ती अपभ्रंश समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। फ़ारसी के पंडितों से यहाँ की लोक-बोली के लिए अपभ्रंश संज्ञा की उम्मीद नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके लिए वह अपभ्रंश न थी, 'अपभ्रंश' तो थी वह संस्कृत के पंडितों के लिए। जो हो, यदि अरबी-फारसी शब्दों से मिश्रित 'कीर्तिलता' जैसी पुस्तकों की भाषा व्याकरण के कारण अवहट्ट कही जा सकती है, तो तथाकथित 'दखिनी हिंदी' को भी अवहट्ट क्यों न कहा जाय। डा० मौलवी अब्दुलहक़ ने '**उर्दू की इब्तिदाई नशो व नुमा में सूफियाय कराम का काम**' नामक पुस्तक में खड़ी बोली के आरंभ का विस्तृत वर्णन किया है। उसमें उन्होंने शेख़ फ़रीदुद्दीन शकरगंजी (११७३-१२६५ ई०) का कुछ कलाम उद्धृत किया है। उनमें से एक यह है—

खड़ी बोली की प्राचीनतम सामग्री

तन धोने से जो दिल होता पूक।
पेशरू असफ़िया के होते गूक॥
रीश सबज़त से गर बड़े होते।
बोकड़ओं से न कोई बड़े होते॥
ख़ाक लाने से गर ख़ुदा पाएँ।
गाय बैलाँ भी वासलाँ हो जाएँ॥
गोश गीरी में गर ख़ुदा मिलता।

गोश चोयाँ कोई न वासिल था ॥
इश्क का रमूज़ न्यारा है।
जुज़ मदद पीर के न चारा है ॥[1]

इस तरह की और भी पंक्तियाँ उर्दू भाषा और साहित्य के इतिहास-कारों ने इतिहास के आदि काल में उद्धृत की हैं। उन विवरणों से पता चलता है कि दखिनी के पहले ग्रंथकार ख्वाजा बंदानवाज़ गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२ ई०) हैं और उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से 'मीराजुल आशंकीन' काफी महत्त्वपूर्ण है। यह उन्नीस पन्नों का अरबी फ़ारसी मिश्रित हिंदी गद्य है। इसकी जो प्राचीनतम प्रति प्राप्त हुई है वह भी १५०० ई० की लिखी हुई है इसलिए इसे १५ वीं सदी की बोली की प्रामाणिक सामग्री माना जा सकता है। इसके कुछ नमूने निम्नलिखित हैं—

१. इंसान के पूजने कूँ पाँच तन, हर एक तन को पाँच दरवाज़े हैं, होर पाँच दरवान हैं, पैला तन वाजिब-उल-वजूद, मुक़ाम इसका शैतानी, नफस इसका अम्मारह यानी वाजिब-उल-वजूद की आँख सों ग़ैर न देखना सो। हिर्स के कान सों ग़ैर न सुनना सो, हसद तक सों बदबोई न लेना सो, बाज की ज़बान सों बदगोई न करना सो...पीर तबीयत कामुल होना नब्ज़ पहचान दवा लेना।[2]
२. इसमें आपकूँ देखिया सो खालिक में ते ख़ालिक की इज़हार किया।
३. मुहम्मद हमें ज्यों दिखलाए त्यों तुम्हें देखो।
४. ऐ भाई सुनो जे कोई दूध पीवेगा सो तुम्हारी पैरवी करेगा शरियत पर कायम अच्छेगा। पानी पीवेगा सो विश्वास के कतरया में डूबेगा।
५. जबराईल हज़रत कूँ बोले ऐ मुहम्मद दुरस्त।
६. ये तीनों झाड़ हर एक मोमिन के तन में है।
७. हदीस व नबी फ़रमाय है।

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना : दखिनी हिंदी, पृ० ३१ पर उद्धृत, १९५२ ई०
२. हामिद हसन क़ादरी : दास्ताने तारीख़े उर्दू

८. इसका माना न देख सकेंगे मपने अँखियाँ सूँ मगर देखेंगे मेरे अँखियाँ सूँ औ सूरत साहब की ।[1]

इसी तरह अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) की रचनाओं से भी उभरती हुई खड़ी बोली के नमूने लिए जा सकते हैं। जहाँ तक खुसरो की पहेलियों का संबंध हैं, उनकी भाषा को प्रायः लोग आधुनिकता के रंग-रँगी मानते हैं। लेकिन खुसरो का 'ख़ालिक बारी', जो एक पद्यबद्ध शब्द-कोश है और फ़ारसी शब्दों को समझाने के लिए लिखा गया है, कुछ विश्वसनीय माना जा सकता है। 'ख़ालिक बारी' की भाषा व्याकरण की दृष्टि से आरंभिक खड़ी बोली ही है। कुछ वाक्यों से इस कथन की सचाई देखी जा सकती है—

१. इस्म असद ख़ुद का नूर।
२. दोश कल्ह रात जो गई। वो शब आज रात जो भई॥
३. तर अबगफ़तम में तुझ कह्या। कजा बमा मुज़ी तू कत रह्या॥
४. अस्प मीरान हिन्दवी घोड़ा चलाव।
५. ख़ाक धूल जो बाद उड़ानी।
६. दरिया बहर समुन्दर कहिए जाको नाहीं थाह।
७. चाँद बटा रात का ताज़ी ज़बान।
८. हुई ज़िन्दह् जानियो तुम जीवता।
९. बेदार बदाँ कि जागता है। हम ख़ुफ़्तह् बदाँ कि सोवता है।
१० शरम लाज पोशीदन ढाँकना। कार है काज खवास्तन माँगना।
११. है जनूब दखिन का ओर। हम शुमाल उतर का छोर॥

तथाकथित 'दखिनी हिंदी' के इन नमूनों को देखते हुए उसकी व्याकरण संबंधी विशेषताओं का भी उल्लेख आवश्यक है।[2]

१. डा० रामकुमार वर्मा: हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास द्वितीय संस्करण, पृ० ८७५ पर उद्धृत।

२ दखिनी हिंदी के व्याकरण की रूपरेखा अधिकांशतः डा० सक्सेना की 'दखिनी हिंदी' पर आधारित है।

१. सभी कारकों में बहुवचन में प्रायः अकारान्त शब्दों के विकारी रूप — आँ कारान्त होते हैं तथा इकारान्त-ईकारान्त संज्ञाएँ — याँ कारान्त हो जाती हैं; जैसे—

बातों के बन्दाँ, दोस्ताँ ने बोले हैं, औरताँ ख़ातिर ।
अपनियाँ एतियाँ मूरतियाँ, अँखियाँ सों, सीपियाँ समाँ ।

२. कर्तृ वाचक परसर्ग 'ने' का प्रचलन हो गया था लेकिन आधुनिक खड़ी बोली की भाँति निश्चित न था कि भूतकालिक सकर्मक क्रिया के कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग होगा और अकर्मक के कर्त्ता के साथ न होगा । जैसे—

'दोस्ताँ ने बोले हैं' और 'बादशाह शराब पिया' ।

इस तरह कर्तरि और कर्मणि दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं ।

३. कर्मवाचक परसर्ग 'को' मिलता अवश्य है, लेकिन अधिकांशतः उसका सानुनासिक रूप—कों ही प्रचलित था; जैसे किसी कों नैं मिले ।

४. करण-अपादान वाचक परसर्गों में से सों ते, सेती आदि के बीच से 'से' के प्रयोग की ओर उन्मुखता तो दिखाई पड़ती हैं परन्तु 'से' की अपेक्षा 'सों' की अधिकता है; जैसे सब सों, जिस सों ।

५. सम्प्रदान के लिए तईं ∠ तण का ही प्रयोग प्रायः मिलता है; जैसे — 'समुन्दर के तईं' लेकिन एक नया परसर्ग 'ख़ातिर' भी लोक-व्यवहार में आ गया था; जैसे — अपनी ख़ातिर को ।

६. संबंध कारक के परसर्ग 'का' की अपेक्षा अवधी वाले 'केरा', 'केरी', 'केरे' रूप अधिक प्रचलित थे; जैसे —

मोहब्बत केरा मय जो पीता अहै ।
अजब तेरे कुदरत केरे काम हैं ।

वैसे 'उनन के मोछयाँ' जैसे रूप भी यत्र तत्र मिलते हैं ।

७. अधिकरण का परसर्ग 'में' स्थिर हो चुका था; जैसे इन दोनों में ।

८. सामान्य वर्तमान काल की क्रिया में शतृ वाले कृदन्त-तद्भव रूप खूब

प्रचलित हो गए थे जैसे होता, होती, होते आदि। लेकिन केवल – त वाले प्राचीन अवशेष भी रह गए थे; जैसे – देखत, आवत।

९. भूतकालिक क्रिया के रूप अपभ्रंश के निष्ठा वाले रूपों के ही विकासित रूप थे; जैसे – दौड़ाए, पैदा किया, नेकी की, कबूल किए हैं आदि। लेकिन कह्या, सह्या, जान्या, बोल्या जैसे रूप भी मिलते हैं। साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्म वाच्य में भूतकालिक क्रिया को कर्म के लिंग-वचन के अनुरूप बदलने की प्रवृत्ति तब तक स्थिर नहीं हुई थी; जैसे

इस छिनाल ने मुझे मारी।
जिसे खुदा दिया सफाई उसे आई।
काम बहुत खास किया हूँ।

१०. भविष्यत् काल की क्रिया के रूप – गा, – गी अन्त वाले होने लगे थे ; जैसे – दिखलाएगा, जाएगा, सकेगा।

यद्यपि – स वाले प्राचीन अवशेष भी रह गए थे; जैसे – जासी, आसी (जो मारवाड़ी में अब भी होते हैं)

११. पूर्वकालिक क्रिया के रूप – ल्यप > – य + कर वाले अधिक मिलते हैं, जैसे—आय कर, होय कर।

तात्पर्य यह कि आकर, होकर जैसे आधुनिक रूप प्रचलन में नहीं आए थे। इसी तरह कर + कर = कर के जैसे रूप का भी प्रचलन उतना नहीं हुआ था; प्रायः 'तसलीम कर-कर' जैसे रूप ही अधिक मिलते हैं।

१२. सहायक क्रियाओं में है, हैं, हो, हूँ, था, थे, थी, होगा, होगे, होंगे, होंगी, होगी रूप प्रचलित तो हो चुके थे लेकिन इनके साथ ही अछ, अह, अथ के प्राचीन अवशेष और 'हैंगी', हैंगा जैसे रूप भी मिलते हैं।

१३. प्रेरणार्थक क्रिया में यदि एक ओर 'दिखलाता' जैसे आधुनिक रूप मिलते हैं तो दूसरी ओर 'कहवाता' जैसे प्राचीन रूप भी दिखाई पड़ते हैं।

१४. √सक् धातु के साथ संयुक्त क्रिया बनाते समय जहाँ आज कल पूर्वकालिक क्रिया का रूप इस्तेमाल किया जाता है, वहाँ उस समय क्रियार्थक संज्ञा के प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है; जैसे—'कर सके' की जगह 'करने सके'।

इस प्रकार तथाकथित 'दखिनी हिंदी' की भाषा-संबंधी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उसमें अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली तथा राजस्थानी, पंजाबी आदि दूसरी अनेक बोलियों का मिश्रण है। निःसन्देह उस भाषा की प्रवृत्ति मुख्यतः खड़ी बोली की ओर उन्मुख है, लेकिन उससे खड़ी बोली के आरंभिक अस्थिर तथा अव्यवस्थित रूप का ही पता चलता है। हिंदी की यह स्थिति लगभग सोलहवीं सदी ईस्वी के आस-पास की है।

इस तरह परवर्ती अपभ्रंश में अलग-अलग हिंदी की विविध बोलियों के बीज का दिग्दर्शन कर चुकने के बाद सामान्य रूप से अपभ्रंश और हिंदी के संबंध पर विचार किया जा सकता है।

३. अपभ्रंश से हिंदी का उद्भव और विकास

कारक-विभक्ति

१. निर्विभक्तिक शब्द मात्र — अपभ्रंश से लेकर आधुनिक हिंदी तक अनेक कारकों में परसर्ग-सहित अथवा परसर्ग-रहित निर्विभक्तिक शब्द मात्र का प्रयोग होता आ रहा है।

कर्ता कारक, एक वचन

केहउ मग्गण एहु। (हेम०)
अहिर गोरू वाग मेलब। (उक्ति०)
बहुरि राम मायहि सिरु नावा (मानस)
छात्र पढ़ता है। (ख० बो०)

कर्त्ता कारक, बहु वचन

सुपुरिस कंगुहे अणुहरिहिं। (हेम०)
बहुतु पूत भए। (उक्ति०)
सुनत निसाचर मारन धाए। (मानस)
छात्र पढ़ते हैं। (ख० बो०)

कर्म कारक, एक वचन

लेवि महव्वय सिवु लहहिं। (हेम०)
केवट नाव घटाव। (उक्ति०)
अस विचारि गवनहु घर भाई (मानस)
वह घर जाता है। (ख० बो०)

कर्म कारक, बहु वचन

जो गुण गोवइ अप्पणा। (हेम०)
बह्मण इं पर निर्वतेसु। (उक्ति०)
अस कहि चारन गहे वैदेही। (मानस)
उसने अनेक नगर देखे। (ख० बो०)

अधिकरण कारक, एक वचन

महुजि घर सिद्धत्था बन्देइ। (हेम)
दुआर पइसति निहुड। (उक्ति०)
बड़े भाग उर आवइ जासू (मानस)
बैठ शिला की शीतल छाँह (कामायनी)

इस प्रकार अन्य कारकों में भी निर्विभक्तिक पद मिलते हैं। परंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में अन्य कारकों में इस ढंग के निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग कम दिखाई पड़ते हैं, विशेषतः करण और अपादान कारकों में। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश में अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गई थी और आधुनिक बोलियों के उदय के साथ जब सभी कारकों के लिए नये नये परसर्ग आ गए तो निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो उठी। हेम० व्याकरण के उदाहरणों की तुलना में 'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' और कीर्तिलता में निर्विभक्तिक पद कहीं अधिक मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में परसर्ग के पूर्व निर्विभक्तिक पद-प्रयोग के उदाहरण खोजे हेरे ही मिल सकते हैं जब कि आधुनिक बोलियों में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। अपभ्रंश में तण, हुँत, केर, मज्झि के पूर्व कोई न कोई सविभक्तिक पद ही रहता है; जैसे—

बड्डुतणहो तणेण, तसु केरअ, तुहम्हं होन्तउ, जीवहिं मज्झे आदि (हेम०)

इसके विपरीत परवर्ती भाषा में—

गाँव हुँत आव। (उक्ति)
ओझा पास वीदा ले। (उक्ति)
का किह (उक्ति)
मृत्यु सओ कलकल करइते अछ। (वर्ण०)
जनि अमृत सरोवर सओ पंक उद्धरि आनल (वर्ण०)
जुआर संग (वर्ण०)

सुरुतान के फरमाने । (कीर्ति०)

सेना मजु । ,,

मानिनि जीवन मान सजो । ,,

हिंसि हिंसि दाम से ,,

पश्चात् अवधी, व्रज और खड़ी बोली में इसके पुष्कल प्रयोग मिलते हैं। मन महँ, उर माहीं, गुरु सन, सुख लगि, जल ते, जल को इत्यादि।

२.—उ विभक्ति—उकार बहुला भाषा के रूप में अपभ्रंश प्रसिद्ध है। यों तो अपभ्रंश में कृदन्त-तद्भव क्रियाओं के रूप भी उकारान्त होते हैं लेकिन कारक-विभक्ति के रूप में—उ का प्रयोग अपभ्रंश में प्रायः कर्त्ता और कर्म कारक के एक वचन में ही होता है; जैसे—

सायरु उप्परि तणु धरइ । (हेम०)

जइ भग्गा घरु एन्तु । ,,

अन्य कारकों में—उ विभक्ति का प्रयोग अपभ्रंश में नहीं मिलता। हेमचन्द्र के बाद 'उक्ति व्यक्ति' से होती हुई यह प्रवृत्ति अवधी और व्रज भाषा तक अबाध गति से प्रचलित रही।

धर्मु कीज । कूड गाल । (उक्ति०)

उपजा हिय अति हरषु विसेखा । (मानस)

आश्रमु देखि नयन जलु छाए । ,,

स्यामु हरति दुति होवु (विहारी०)

पापु (विहारी, २६६), उसासु (विहारी, ३३४)

पश्चात् आधुनिक खड़ी बोली में इस विभक्ति का लोप हो गया। संभवतः खड़ी बोली की अपभ्रंश में—उ विभक्ति आरम्भ से ही न थी, क्योंकि तथाकथित 'दखिनी हिंदी' की रचनाओं में भी उकारान्त संज्ञाएँ नहीं मिलतीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उकार की यह प्रवृत्ति कोसल में ही अधिक सुरक्षित रही। व्रजभाषा में भी सूर-सागर में इसके प्रयोग कम मिलते हैं, विहारी आदि व्रजभाषा के परवर्ती कवियों में इसका जो प्रयोग दिखाई देता है, उसे अवधी का प्रभाव समझा सकता है। 'वर्णरत्नाकर'

में भी यह उकार प्रवृत्ति नहीं मिलती; 'कीर्तिलता' में यह प्रवृत्ति मिलती तो है लेकिन कम और जो उदाहरण मिलते भी हैं उनमें अधिकांश कर्तृवाचक और कर्मवाचक ही हैं; जैसे—

तबहु पिआजु पिआजु पइ ।

जसु पत्थावे पुण्डु

कीर्तिलता में ही अन्यत्र कहीं कहीं सम्बन्ध कारक में भी—उ विभक्ति का प्रयोग मिलता है; जैसे

मुहु भीतर, सेण्डु संख, महामासु खंडो ।

३.— हि,—हिं विभक्ति और उसके विविध रूपान्तर—

अपभ्रंश में यह करण और अधिकरण, बहुवचन की विभक्ति है ।

अत्थिहिं ठाउ फेडइ । (करण) : हेम०

अंगहिं अंगु न मिलिउ ,, ,,

अंगिहि गिम्ह (अधि०) ,,

कभी कभी अधिकरण, एक वचन में भी—हिं का प्रयोग हुआ है—

एक्कहिं अक्खिहिं सावणु (हेम०)

इसी तरह —हि विभक्ति का प्रयोग सामान्यतः इकारान्त शब्दों के अधिकरण, एक वचन में होता है—

अद्धा वलया महिहिं गय (हेम०)

लेकिन जैसा कि डा० चैटर्जी ने लिखा है, आगे चलकर यह विभक्ति विविधि कारकों के लिये 'ए सॉर्ट ऑव मेड-ऑव-ऑल-वर्क' हो गई ।[1] अपने अविकल रूप में भी करण और अधिकरण के अतिरिक्त कर्म, सम्प्रदान, अपादान आदि कारकों में इस्तेमाल की जाने लगी ।

कर्मकारक :—

भीचहि ताड़ । (उक्ति०)

सत्रुहि मित्र कए । (कीर्ति०)

१. उक्ति व्यक्ति : स्टडी, पृ० ३७

चाँटहि करै हस्ति सरि जोगू। (पद्मा०)
सतरूपहि बिलोकि कर जोरे (मानस)
और सबहिं कर जोरे। (सूर०)

सम्प्रदान कारक—

बरहि कन्या दे। (उक्ति०)
देस देस के वर मोहिं आवहि। (पद्मा०)
तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं (मानस)

अपादान कारक—

बाघहि उर (उक्ति०)
राजा गरबहि बोलै नाहीं (पद्मा०)

संबंध कारक—

रायघरहि का पव्व खेत। (कीर्ति०)
पङ्खिहि तन सब पाँख (पद्मा०)
अपर सुतहिं अरिमर्दन नामा (मानस)

करण कारक—

वेवहार मुल्लहिं वणिक विक्कण (कीर्ति०)
वज्रहिं तिनकहि मारि उड़ाई। (पद्मा०)
लीलहि हते कबंध। (मानस)

अधिकरण कारक—

विहांणहिं आदितु रफा। (उक्ति०)
तारु-जिह्वाहिं विवाड। (वर्ण०)
की संसारहिं सार। (कीर्ति०)
ज्यों बिंबहि प्रतिबिंब समाना। (कबीर०)
तेहि चढ़ि हेर कोइ नहि साथा। (पद्मा०)
तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ (मानस)
तहँहि जाहु जहँ भाए हौ (सूर०)

यद्यपि—हि (-हिं) विभक्ति के उदाहरण सभी कारकों में मिलते हैं, तथापि गणना करने से पता चलता है कि अपभ्रंश में इसका प्रयोग जहाँ करण—अधिकरण में अधिक होता था, वहाँ अवधी और ब्रजभाषा में कर्म- सम्प्रदान में विशेष होने लगा।

(क)—हि (—हिं) विभक्ति का पहला रूपान्तर—इ और—ए के रूप में मिलता है। ध्वनि-दुर्बलता के कारण —हि के 'ह' का लोप हो जाना स्वाभाविक प्रवृत्ति है। फलतः अपभ्रंश के अनुसार—हि का अवशिष्ट रूप—इ कहीं-कहीं करण कारक में भी कुछ दिनों तक प्रयुक्त होता रहा; जैसे—

गुरु **मुखि** बिना न भाजसी ये दून्यो बड़ रोग। (गोरख)
जाणे डसी **भुयङ्गि**। (ढोला०)
जिहि **सरि** मारी काल्हि। (कबीर)

लेकिन अवधी में इसका प्रयोग प्रायः भूतकालिक सकर्मक क्रिया के करण-वाचक एक वचन के कर्त्ता के रूप में विशेष मिलता है; जैसे—

राजै कहा सत्त कहु सूआ। (पद्मा०)
सुअँ कहा हमहू अस भूले। ,,
राजै लीन्ह ऊबि कै साँसा। ,,
गहनै गही चाँद कै करा ,,
गौरैं हँसि महेस सों कहा ,,

इस तरह के प्रयोग तुलसी की अपेक्षा जायसी में अधिक मिलते हैं, यह—ए अथवा—ऐ कहीं निरनुनासिक है और कहीं सानुनासिक। 'पद्मावत' के शुक्ल जी वाले संस्करण में ऐसे प्रयोग प्रायः निरनुनासिक हैं जब कि डा० माता प्रसाद गुप्त वाले संस्करण में सानुनासिक हैं। संज्ञा के इन रूपों ने सर्वनाम के ऐसे प्रयोगों को भी प्रभावित किया है—

केइँ न जगत जस बेंचा, केइँ न लीन्ह जस मोल। (पद्मा०) में 'केइँ' 'केहिं' (केहि) का ही रूपान्तर है।

—इ,—ए,—ऐ विभक्ति का प्रयोग कर्त्ता के अतिरिक्त कर्म-सम्प्रदान में भी मिलता है।

सखी एक तेइँ खेल न जाना। (पद्मा०)
कन माँगत बाँभनै लाज नहीं। (सुदामा०)

अनुमानतः कर्म-संप्रदान में जो इन्हैं, उन्हैं रूप चलते हैं, वे 'इनहिं' और 'उनहिं' के ही रूपान्तर हैं और उनकी—हिं विभक्ति घिसकर —अइँ7 ऐं हो गई है।

संभवतः आधुनिक खड़ी हिंदी की आकारान्त संज्ञाओं के एकारान्त विकारी रूप इसी—हि के अवशेष हैं।

लड़का का विकारी रूप लड़के, जो सभी कारकों में परसर्ग के पूर्व इस्तेमाल किया जाता है, वह अन्य किसी संतोषप्रद व्युत्पत्ति के अभाव में इसी—हि के अवशिष्ट रूप से निर्मित माना जा सकता है।

(ख) अपभ्रंश के बाद 'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर', 'कीर्तिलता' तथा पुरानी अवधी और ब्रज में कहीं कहीं अधिकरण कारक में अँ—आँ विभक्ति का प्रयोग मिलता है, जिसे डा० चैटर्जी ने इसी—हिं विभक्ति से संबद्ध मानने का सुझाव दिया है।[1]

सेजँ ओलर (उक्ति०)
तेहू करि सभाँ बहुतु गुणिया भए। (उक्ति०)
पात्रँ देयिते थभति। (वर्ण०)
सेवाँ बइसल छथि (वर्ण०)
लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ।
मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटाँ॥ (पद्मा०)
अस प्रभु हृदयँ अछत अविकारी। (मानस)

४—न्हि,—न्ह विभक्ति और उसके विविध रूपान्तर—

अपभ्रंश में—न्हि,—न्ह जैसी कोई विभक्ति नहीं मिलती। परंतु

१. वर्ण रत्नाकर : अंग्रेजी भूमिका, पृ० ५१

अपभ्रंश के बाद 'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' 'कीर्तिलता' तथा अवधी और ब्रज भाषा के ग्रंथों में इसका प्रयोग व्यापक रूप से दिखाई पड़ता है। विद्वानों का अनुमान है कि यह मिश्रित विभक्ति है जो अपभ्रंश की दो भिन्न विभक्तियों (करण कारक, बहुवचन की––हिं ∠––भिः और संबंध कारक, बहुवचन की––ण ∠ आनाम्) के संयोग से बनी है।[1]

लेकिन अपभ्रंश में संबंध कारक, बहुवचन की विभक्तियों में––हं, ––ह वाले रूप अधिक मिलते हैं। इनके अतिरिक्त––आणं,––आण विभक्ति वाले प्राकृत-प्रभावित रूप भी यत्र तत्र दिखाई पड़ जाते हैं लेकिन परिनिष्ठित अपभ्रंश में इनका प्रचलन बहुत कम था। इस तरह न तो अपभ्रंश में और न प्राकृत में ही संबंध कारक, बहुवचन में ––ण जैसी कोई विभक्ति मिलती है। ऐसी दशा में––न्हि,––न्ह की व्युत्पत्ति के लिए प्राकृत––आण और अपभ्रंश––हि के संयोग का ही सहारा लेना पड़ेगा, जो अन्य किसी सन्तोषप्रद व्युत्पत्ति के अभाव में अब तक बहुमान्य है।

––न्हि,––न्ह का प्रयोग सामान्यतः कर्म, सम्प्रदान, करण, अधिकरण और संबंध कारकों में परसर्ग-सहित और परसर्ग-रहित दोनों स्थितियों में मिलता है; अपादान कारक में प्रायः इसका प्रयोग परसर्ग के साथ विकारी रूप में ही दिखाई पड़ता है।

कर्मकारक––

गुरु सीसन्ह ताड़। (उक्ति०)
गो बोल गमारन्हि छाड़। (कीर्ति०)
सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही (मानस)
एक एकन्ह तर्जहीं। ,,

सम्प्रदान––

जैंव बाम्हणन्ह दानु देइ। (उक्ति०)

1. वर्ण० अंग्रेजी भूमिका पृ० ४७

कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता। (मानस)
नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह। „

संबंध—

एँन्ह माँझ कवण तोर भाइ (उक्ति०)
उल्का मुखन्हि क उद्योत (वर्ण०)
अरिराअन्ह लच्छिअ छोलि ले (कीर्ति)
अबलन्ह उर भय भएउ बिसेखा। (मानस)
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता „

अधिकरण--

बिकसे सरन्हि बहु कंज। (मानस)

--न्ह,--न्हि का प्रयोग जब करण कारक में होता है, तो प्रायः भूतकालिक कृदन्त-तद्भव सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में होता है।

बायसन्हि कोलाहल करु। (वर्ण०)
भमरन्हि पद्म त्यजल। „
तब्बे मन्तिन्ह कियउ पथ्थाव (कीर्ति०)
उन बानन्ह आस को जो न मारा (पद्मा०)
जात पवनसुत देवन्ह देखा (मानस)
बात अस लरिकन्हि कही „

(क) आगे चलकर अवधी और व्रज में --'न्ह' का महाप्राणत्व लुप्त हो गया और वह केवल—न के रूप में अवशिष्ट रह गया। --न्ह 7—न की प्रवृत्ति का सूत्रपात 'वर्ण-रत्नाकर' के समय से ही हो गया था लेकिन प्रयोग की स्वल्पता देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक उस प्रवृत्ति का सूत्रपात ही हुआ था।

पूरे 'वर्ण रत्नाकर' में—न विभक्ति का केवल एक उदाहरण मिलता है।

काँचन गिरि-काँ शृंग मयूरन चरइतैं अछ।

अवधी और ब्रज में इस—न के दो रूप और मिलते हैं—नि और—नु।

निज निज मुखनि कही निज होनी (मानस)
सखी, इन नैनन ते घन हारे (सूर०)
पलन प्रकटि बरुनीन बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात। (बिहारी०)
अनियारे दीरघ दृगनि। (बिहारी)

(ख) अंत में—न्ह् विभक्ति घिसते घिसते खड़ी बोली में आकर केवल —ओं के रूप में अवशिष्ट रह गई, जिससे सभी कारकों के बहुवचन में परसर्गों के पूर्व विकारी रूप निर्मित होते हैं; जैसे आँखों को देखा, आँखों ने देखा, आँखों से देखा, आँखों देखा, आँखों के लिए देखा, आँखों का देखा, आँखों में देखा और आँखों से गिरा।

५. इनके अतिरिक्त अपभ्रंश की अन्य विभक्तियों का प्रयोग परवर्ती काल में बहुत कम हो गया और धीरे धीरे अवधी, ब्रज और खड़ी बोली का उदय होते होते वे सर्वथा अप्रचलित हो गईं। 'कीरति गई समुद्रहँ पारा' जैसे प्रयोग जायसी ने भी किए हैं; 'घरहँ जमाई लौं घट्यो खरो पूस दिन मान' जैसे प्रयोग बिहारी के समय तक दिखाई पड़ते हैं जिनमें अपभ्रंश के संबंध कारक, बहुवचन की विभक्ति—हँ अवशिष्ट है। इसी तरह पृथ्वीराज रासो में 'जादू कुलह् अभग्ग' जैसे प्रयोग मिलते हैं जिनमें अपभ्रंश के संबंध कारक एकवचन की विभक्ति—ह सुरक्षित है। कारण स्पष्ट है। भाषा में एक बार जो ध्वनि-संबंधी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, फिर उसका पुनरुद्धार प्रायः नहीं होता, किन्तु व्याकरणिक प्रवृत्तियों के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। प्राचीन विभक्ति, प्रत्यय अथवा परसर्ग बहुत दिनों तक अवशिष्ट और सुरक्षित रहते हैं।

अस्तु, 'घरहँ जमाई' और 'जादू कुलह' जैसे प्रयोग अपवाद ही माने जायँगे।

इन अपवादों के अतिरिक्त अपभ्रंश की—हु,—हुँ,—हो आदि विभक्तियाँ या तो अप्रचलित हो गईं, या लुप्त हो गईं अथवा यह कहा जाय कि वे अवधी, ब्रज भाषा और खड़ी बोली के विकारी प्रत्ययों में समाविष्ट हो गईं।

परसर्ग

६. अपभ्रंश कारकों की विभक्तियों का अध्यायन करते समय कुछ ऐसे स्वतंत्र शब्द मिलते हैं जो संज्ञा के साथ प्रत्यय की भाँति जुड़े नहीं होते, फिर भी वे कार्य करते हैं किसी कारक-विभक्ति का ही। अपभ्रंश से पूर्व प्राकृतों में ऐसे विभक्ति वाचक स्वतंत्र शब्दों की संख्या बहुत कम थी। इस प्रवृत्ति का और भी विश्लेषण करने से पता चलता है कि अपभ्रंश में सबसे अधिक जिस कारक में परसर्ग की आवश्यकता अनुभव हुई, वह संबंध कारक है। उसमें केरअ, केर, कर, का, की इत्यादि का प्रयोग संबंध सूचित करने के लिए खूब हुआ है। इसके बाद अधिकरण का स्थान है। उसमें भी मज्झे, मज्झु, मज्झ, माँझ का खूब प्रयोग किया गया है। इन दोनों के बाद तीसरा नाम सम्प्रदान कारक लिया जा सकता है, जिसके लिए हेमचन्द्र ने केहिं, रेसिं, तरण परसर्ग परिलक्षित किए हैं। इन तीनों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अपादान कारक में होन्तउ परसर्ग का उल्लेख किया है।

सामान्यतः अपभ्रंश में इतने ही परसर्गों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

कुछ और ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इन परसर्गों का प्रयोग संज्ञा शब्दों के साथ अधिक हुआ है। यह तथ्य इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इससे परसर्गों के आविर्भाव का कारण मालूम होता है। संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनामों में ध्वनि-परिवर्तन अत्यधिक दिखाई पड़ता है; अनेक सर्वनाम तो इतने घिस गए हैं कि उनके तत्सम रूप से उनका संबंध स्थापित करना कठिन हो गया है। इस घिसाई में सर्वनामों से संलग्न

विभक्तियों का भी रूप-परिवर्तन स्वाभाविक है। ऐसी दशा में, बहुत संभव है, क्षति-पूर्ति के लिए लोगों ने नए वाचक शब्दों की आवश्यकता अनुभव की होगी और फिर यथास्थान उनका उपयोग भी किया होगा। अस्तु, विभक्ति -चिह्नों की असमर्थता में ही परसर्गों का आगमन संभव है।

इन परसर्गों में भी ध्वनि-परिवर्तन बहुत हुआ है। इसीलिए अनेक परसर्गों की व्युत्पत्ति संदेहास्पद बनी हुई है। इस विषय में ज्यूल्स ब्लाश का मत है कि परसर्गों में अत्यधिक ध्वनि-परिवर्तन होने का मुख्य कारण यह है कि सहायक शब्द के रूप में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें प्रयत्न लाघव का शिकार अधिक होना पड़ता है। मुख्य शब्द झटके के साथ उच्चरित होता है तो उस स्वरपात का प्रभाव परवर्ती परसर्ग पर भी पड़ता है, फलतः वह परसर्ग धीरे धीरे मुख्य शब्द का ही एक अक्षर (सिलेबुल) बन जाता है।[1] मैथिली परसर्ग क इस नियम का ज्वलंत उदाहरण है। किस प्रकार अपभ्रंश का **राम केर** घिसते-घिसते **राम क** हुआ और अंत में **रामक** हो गया!

इसीलिए अधिकांश परसर्ग सर्वनामों के साथ अभिन्न रूप में जुड़ कर उनके अंग हो गए; लेकिन संज्ञा शब्दों से उनकी वैसी अभिन्नता स्थापित न हो सकी। इसका एक ही कारण सम्भव हो सकता है। सर्वनाम प्रायः एकाक्षरिक (मोनो-सिलेबिक) होते हैं, इसलिए उनके साथ एक और अक्षर के रूप में परसर्ग का जुड़ जाना स्वभाविक है। लेकिन संज्ञा शब्दों के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। अनेक संज्ञा शब्द एकाधिक अक्षरों के होते हैं, इसलिए उनके स्वरपात के प्रभाव में परसर्ग प्रायः नहीं आते। वस्तुतः स्वरपात की दृष्टि से परसर्ग बड़े संज्ञा शब्दों से भिन्न ही रहते हैं।

अब एक एक करके अपभ्रंश के इन परसर्गों का विकास देखना चाहिए।

१. लांग मराते § १६७

७. केरअ,—केर परसर्ग तथा उसके विविध रूपान्तर :—यह लिंग वचन कारक से भी प्रभावित होता है।

जसु केरअ हुँकारडएँ (हेम०)
लोचन केरा वल्लहा। (कीर्ति०)
काहू केर बिकाइ (पद्मा०)
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। (मानस)

यह 'केर' रामकेर जैसी व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं में आज तक सुरक्षित है।

(क) केर का पहला रूपान्तर है कर—हेमचन्द्र के व्याकरण में 'कर' परसर्ग का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

वणिएँ कर धणु धर। (उक्ति०)
तान्हि करो पुत्र। (कीर्ति०)
पद्म करे आकारे। ,,
कोउ काहू कर नाहिं निआना। (पद्मा०)
राम ते अधिक राम कर दासा। (मानस)

(ख) कै∠ कइ∠करि∠कर :—

आस असवार कइ। (कीर्ति०)
सिर नवइ सब्ब कइ। ,,
परै रकत कै आँसु। (पद्मा०)
पलुही नागमती कै बारी। ,,
जेहि पर कृपा राम कै होई (मानस)

(ग) क∠कर :—

जुबतिन्हि क उत्कंठा। (वर्ण०)
शक्ति क परीक्षा। (कीर्ति०)
धनपति उहै जेहि क संसारू। (पद्मा०)
पितु आयसु सब धरम क टीका। (मानस)

इस क के लिंग, वचन, कारक के अनुसार का, के, की तीन

रूपान्तर होते हैं; आधुनिक खड़ी बोली में **केर, कर, कें** और **क** रूप अप्रचलित हैं। इन सबके स्थान पर **का, के, की** रूप ही चलते हैं।

ब्रजभाषा में इसीके रूपान्तर **कौ, कौ** रूप अधिक प्रचलित रहे हैं।

८. अधिकरण परसर्ग—**मज्झे** और उसके रूपान्तर :—

जामहिं विसमी कज्ज गति जीवहिं **मज्झे** एइ (हेम०)
तेन्हु **मांझ** का कालिदास माघ किरात प्रभृति केतौ एक खातिं गए। (उक्ति०)
युवराजन्हि **मांझ** पवित्र। (कीर्ति०)
माँझ मँदिर जनु लाग अकासा। (पद्मा०)
कूदि पड़ा तब सिंधु **मँझारी**। (मानस)

(क) **माँह, मँह** :—अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश में इसके प्रयोग प्रायः नहीं मिलते। पुरानी अवधी और ब्रज में इसके अवशेष बहुत दिनों तक सुरक्षित रहे।

सरग आइ धरती **महँ** छावा (पद्मा०)
राम प्रताप प्रकट एहि **माँही**। (मानस)
मन **महँ** तर्क करै कपि लागा। ,,
ज्यों जल **माँह** तेल की गागरि। (सूर०)

(ख) **मैं, में** :—आगे चलकर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में **'मँह'** का 'ह' लुप्त हो गया और इस तरह जो उद्वृत्त स्वर बचा, वह संभवतः **य** या **इ** श्रुति में बदलकर फिर पूर्ववर्ती 'म' के 'अ' के साथ संयुक्त हो गया। इस प्रकार ब्रजभाषा में **'मैं'** और खड़ी बोली में **'में'** रूप प्रचलित हो गए।

हमको सपनेहू **में** सोच (सूर०)
झिलमिल पट **मैं** झिलमिली। (बिहारी)

९. **उप्परि, परि, पर** :—

सायरु **उप्परि** तणु धरइ। (हेम०)
रह **वरि** चडिअउ। ,,

आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर (सूर०)
हम पै कोप कुपावति (सूर०)

१०. सम्प्रदान सर्ग परकेहिं और उसके रूपान्तर :—
हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ (हेम०)
पर केहँ, आपणु केहँ, पढ़बे किहँ (उक्ति०)

सम्भवतः अवधी के कर्म-सम्प्रदान का परसर्ग—कहुँ अथवा कहँ इस केहिँ और केहँ का रूपान्तर है—
तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू। (मानस)
पहुँचि न सके सरग कहँ गए (पद्मा०)

विद्वानों ने प्रायः कहँ का संबंध संस्कृत के कल्पित रूप 'क क्षं' से जोड़ा है लेकिन अभी तक इसका प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया। कर्म और सम्प्रदान के परसर्ग प्रायः परस्पर-विनिमेय हैं, साथ ही अर्थ की दृष्टि से भी दोनों कारक एक दूसरे के अत्यधिक निकट हैं इसलिए अवधी कहँ का संबध हेमचन्द्र के केहिँ से जोड़ना अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

(क) काँ, कौं, कूं और को :—
हम काँ ओढ़ावै चदरिया हो चलै की बेरिया। (कबीर)
जस यह समुद दीन्ह दुख मो काँ। (पद्मा०)
देबे कौं कछु नाहिं। (कबीर)
मेरा मन सुमिरै राम कूं ,,
करौं भरोसो का को (गीतावली)

११. तण और उसके रूपान्तर :—अपभ्रंश में तण का प्रयोग करण, सम्प्रदान और संबंध तीन कारकों में हुआ है; जैसे—
करण : केहि तणेण, तेहिं तणेण (हेम०, ४।४२५)
महुँ तणइ (परमात्म प्रकाश २।१८६)
सम्प्रदान : बड्डतणहो तणेण (हेम०, ४।३६६)
सिद्धतणहो तणेण (पाहुड़० ८८)

संबंध : अह भग्गा अम्हहँ तणा (हेम० ४।३६६)
इमु कुल तुह तणउं (हेम० ४।३६१)
तसु तणइँ (सावयधम्म२ २०५)
गय दिट्ठि तासु तणइ देहि (भवि० कहा ८।४)
अन्तर रोगह तणइ (सनत्कुमार चरिउ)

अपभ्रंश के बाद इस परसर्ग के तन, तईं, तैं, तें, ते और त्यो रूपान्तर दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से तन और त्यो का प्रयोग ओर के अर्थ में होता है, तथा तईं का प्रयोग सम्प्रदान में लिए के अर्थ में, और तैं, तें, ते का प्रयोग क्रमशः करण और अपादान में से के अर्थ में। इन सबके प्रयोग क्रमशः निम्न लिखित हैं—

तन : पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। (मानस)
मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी। (तईं के अर्थ में)--पद्मा०
मोहि तन दीन्हेसि जय और बरता। (लिए के अर्थ में)-,,

त्यो : सबही त्यो समुहाति छिनु। (बिहारी)
चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै। (कविता०)

तें, ते :
राम ते अधिक रामकर दासा। (मानस)
जल समूह बरसत अँखियन तें। (सूर०)

इन रूपान्तरों के अतिरिक्त तण का ही एक रूपान्तर थैं भी हुआ था जो प्रायः गोरख और कबीर की रचनाओं में ते के अर्थ में मिलता है।

नाद ही थैं पाइए। (गोरख)
पाऊँ थैं पंगुल भया। (कबीर)
कहाँ थैं आया। ,,

१२. सम्प्रदान-परसर्ग लागि और उसके रूपान्तर :—लागि का प्रयोग परिनिष्ठित अपभ्रंश में तो नहीं मिलता, लेकिन उसके बाद वर्ण-रत्नाकर और कीर्तिलता में इसका प्रयोग बहुतायत से मिलता है। आगे चलकर अवधी में भी यह प्रचलित दिखाई पड़ता है।

जनि एहि आलिंगए लागि एक कृष्ण चतुर्भुज भए गेलाह। (वर्ण०)

तेसरा लागि तीनू उपेक्खिअ। (कीर्ति०)

को ओहि लागि हिवंचल सीझा। (पद्मा)

छन सुख लागि जनम सत कोटी (मानस)

पर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में लागि का प्रयोग नहीं हुआ। इसके स्थान पर खड़ी बोली में प्रायः लिए का प्रयोग मिलता है। विद्वानों के अनुसार लिए का संबंध संस्कृत के लग्न से है और यदि यह अनुमान सही है तो लग्न और लिए के बीच की कड़ी निश्चय ही लागि होनी चाहिए।

१३. अपादान परसर्ग होन्तउ और उसके रूपान्तर :—यह परसर्ग संभवतः √भू के शतृ कृदन्त रूप होन्त+स्वार्थिक प्रत्यय क 7 अ 7 उ से बना है जिसका मूल अर्थ है 'होते हुए'। अपभ्रंश में इसका प्रयोग अधिक नहीं मिलता। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में इसके केवल तीन उदाहरण दिए हैं—

तहाँ होन्तउ आगदो (हेम० ४।३५५)

तुज्झ होन्तउ आगदो (हेम० ४।३७२)

तुम्हहं होन्तउ आगदो (हेम० ४।३७३)

आगे चलकर कीर्तिलता में इसका रूपान्तर हुन्ते के रूप में हो गया।

दूरु हुन्ते आआ वड वड राआ। (पृ० ४६)

अवधी में यही हुन्ते हुँत हो गया और इसका प्रयोग अपादान के अतिरिक्त करण और सम्प्रदान में भी किया गया।

अपादान : जल हुँत निकसि मुवै नहिं काछू (पद्मा०)

सास ससुर सन मोरि हुँति विनय करब कर जोरि (मानस)

करण : उन्ह हुँत देखै पाएउँ दरस गोसाइं केर। (पद्मा०)

सम्प्रदान : तुम हुँत मंडप गयउँ परदेसी। (मानस)

हुँत का संबंध √ भू के कृदन्तज रूप से होने के कारण हिंदी बोलियों में इसके और भी रूप प्रचलित हो गए, जिनमें से कुछ तो—ह् मूलक हैं और कुछ—भ मूलक; जैसे

बैठि तहाँ होइ लंका ताका (पद्मा०)

ऊपर भए सो पातुर नाचहिं (पद्मा०)

भरत आइ आगे भए लीन्हे। (मानस)

संभवतः ये दोनों रूप √ भू के पूर्वकालिक रूप के तद्‌भव हैं। इनका प्रयोग केवल अवधी में ही दिखाई पड़ता है; ब्रजभाषा और खड़ी बोली में ये अप्रयुक्त हैं।

१४. करण परसर्ग सहुँ और उसके रूपान्तर :—इसका संबंध संस्कृत सह् से स्पष्ट है। अपभ्रंश में करण कारक के लिए प्रायः विभक्ति-प्रत्यय का ही प्रयोग होता था, संभवतः उसके लिए किसी परसर्ग की आवश्यकता बहुत बाद में अनुभव की गई। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में करण कारक के लिए सहुँ का प्रयोग एक स्थान पर मिलता है—

जइ पवसन्ते सहुँ न गय (हेम० ४।४१९)

(क) 'उक्ति व्यक्ति' में इसके लिए सउँ और सेउँ दो रूप मिलते हैं—

दूजने सउँ सव काहु तूट। (३७।२३)

घिएँ सँकरे सेउँ सातु। (२१।३१)

(ख) 'वर्ण-रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' में इसके लिए सञो रूप मिलता है

मृत्यु सञो कलकल करइतें अछ। (वर्ण०)

मानिनि जीवन मान सञो। (कीर्ति०)

(ग) ब्रज और अवधी में संधि की प्रक्रिया से सञों का सों हो गया।

औ विनती पंडितन्ह सों भजा। (पद्मा०)

कर सों पद पलुटावति। (सूर०)

(घ) अवधी में सहुँ 7 सउँ का एक और रूपान्तर **सन** भी मिलता है।

सो मो **सन** कहि जात न कैसे। (मानस)

(ङ) जिस प्रकार कहुँ के 'कों' और 'कूं' दो रूप मिलते हैं, उसी तरह सहुँ का भी 'सों' के अतिरिक्त कहीं कहीं सूं रूप भी मिलता है।

(च) स्वर-परिवर्तन तथा निरनुनासिकता के द्वारा सों से **से** रूप भी बन गया जो कीर्तिलता से ही मिलता चला आ रहा है। इसका प्रयोग करण और अपादान दोनों कारकों में होता है—

विपक्ख केन मेन हेरि हिंसि हिंसि दाम **से**। (कीर्ति)

निसान सद्द भेरि संग खोणि खुन्द तास **से**। (कीर्ति०)

१५. ब्रज तथा खड़ी बोली में एक कर्तृवाचक परसर्ग **ने** है जो भूतकालिक सकर्मक क्रिया के कर्त्ता के साथ लगता है; जैसे वाने कही, उसने कही। विद्वानों ने इस **ने** को संस्कृत की तृतीया, एकवचन की विभक्ति—एण से सम्बद्ध किया है; लेकिन—एण से **ने** तक के विकास की अन्य अवस्थायें प्रायः उपलब्ध नहीं होतीं। परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी **ने** का कोई प्रारूप प्राप्त नहीं होता। सुझाव के तौर पर कीर्तिलता के **जेन्हे, जेन्ने** अथवा **जेने** जैसे सर्वनाम-रूपों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है; जैसे—

जेन्ने जाचक जन रंजिअ।
जेन्हे रिउँ वड्डिम भंजिअ।
जेन्हे तुलिअओ आखण्डल।
जेन्हे धवलिअ महिमण्डल।

लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इस तरह के रूप एक तो संज्ञा शब्दों के साथ बिल्कुल नहीं मिलते और सर्वनामों में भी कम ही मिलते हैं।

१६. अपभ्रंश से आधुनिक खड़ी बोली तक के परसर्गों के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली के अधिकांश

परसर्गों के मूल आधार अपभ्रंश में ही हैं। इसके अतिरिक्त क्रमशः अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली की तीन अवस्थाओं से गुजरने पर एक ही परसर्ग काफ़ी घिस घिसाकर परिमार्जित हो गया। 'सहुँ' से 'से', 'कहुँ', से 'को', 'महँ' से 'में', 'केरअ' से 'का' आदि क्रमशः परिमार्जन के प्रमाण हैं। हर्ष का विषय है कि परसर्गों के इन विविध रूपान्तरों की प्रायः सभी अवस्थाओं के अवशेष हिन्दी की किसी-न-किसी बोली में मिल जाते हैं। प्रयोग की दृष्टि से जो तीसरा तथ्य सामने आता है वह यह है कि अपभ्रंश के बाद से कारक विभक्तियों की अपेक्षा परसर्गों का प्रयोग क्रमशः अवधी से परवर्ती ब्रज में और ब्रज से खड़ी बोली में बढ़ता गया।

सर्वनाम

१७. गुरु[1] के अनुसार आधुनिक हिंदी में कुल मिलाकर ११ सर्वनाम हैं—मैं, तू, आप, यह, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन और क्या। प्रयोग के अनुसार इनके छः भेद किए जाते हैं—पुरुषवाचक, निजवाचक, निश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक, प्रश्नवाचक और अनिश्चयवाचक। इन ११ सर्वनामों के कई विकारी रूप भी होते हैं। नीचे अपभ्रंश से लेकर आधुनिक हिंदी तक के उपर्युक्त सभी सर्वनामों के अविकारी, विकारी रूपों तथा उनके समकक्ष अन्य रूपों का इतिहास दिया जा रहा है।

१८. हउँ और हौं :—उत्तम पुरुष, एकवचन, कर्त्ता कारक में अपभ्रंश में अधिकांशतः इसी का प्रयोग मिलता है। आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा में भी इसका प्रचलन रहा; परन्तु खड़ी बोली में इसका प्रयोग बन्द हो गया।

हउँ झिज्जउँ तउ केहिं। (हेम०)

---

१ कामता प्रसाद गुरु : हिंदी व्याकरण (संशोधित संस्करण, २००९ वि०), पृ० ६०

विश्रालि को हउँ मागिहउँ। (उक्ति० २२/५), हौं (उक्ति०२१)
देखि एक कौतुक हौं रहा। (पद्मा०)
जीवित विवाह न हौं करौं। (मानस)
हौं लै आई हौं। (सूर)

कभी-कभी हौं का प्रयोग कर्मकारक में भी हुआ है—

हौं इन बेची बीच ही। (बिहारी)

१६. मइँ और मैं :—यह मूलतः करणकारक, एकवचन का रूप है और इसे संस्कृत मया का रूपान्तर माना जाता है। अपभ्रंश में इसका प्रयोग कम हुआ है परन्तु अवधी और ब्रज में हौं के बराबर ही इसका प्रचलन दिखाई पड़ता है। आगे चलकर खड़ी बोली में कर्त्ता के रूप में हौं के स्थान पर केवल इसी का प्रयोग होने लगा। यह विकारी और अविकारी दोनों रूपों में इस्तेमाल किया जाता है—

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया। (हेम०)
को मै भोजन मागव। (उक्ति०)
भाषाबद्ध करब मैं सोई। (मानस)
औरनि जानि जान मैं दीन्हे। (सूर)
• मैं सोया, मैंने सपना देखा। (ख० बो०)

अपभ्रंश में मइँ के साथ कोई परसर्ग नहीं लगता था, लेकिन खड़ी बोली में भूतकालिक सकर्मक क्रिया के सभी कर्त्ताओं की भाँति मैं में भी ने परसर्ग लगने लगा।

२०. हम और उसके अन्य रूप :—अपभ्रंश में मूल अथवा विकारी किसी रूप में हम दृष्टिगोचर नहीं होता है। हौं का बहुवचन अपभ्रंश में अम्हे है। 'उक्ति व्यक्ति' में भी उत्तम पुरुष, कर्त्ताकारक, बहुवचन में अम्हे ही मिलता है। फलतः विद्वानों ने अवधी, ब्रज और खड़ी बोली के 'हम' का सम्बन्ध प्राकृत के हमुं से जोड़ा है। लेकिन हम के लिए अपभ्रंश के अम्हे की उपेक्षा करके एक डग पीछे प्राकृत की ओर जाना वैज्ञानिक प्रतीत नहीं

होता। अम्ह से हम बनना कठिन नहीं है। इसके पीछे या तो वर्ण-विपर्यय की प्रवृत्ति है अथवा आदि में 'ह' का आगम हो गया है। इस तरह अम्ह>हम्ह>हम्म>हम हो सकता हैं।

अम्हे थोवा रिउ बहुतु। (हेम०)
हम जो कहा यह कपि नहि होई। (मानस)
हम वै बास बसत यक नगरी। (सूर०)

इसके अतिरिक्त हम से हमें, हमको, हमहिं, हमारे आदि रूप बनते हैं जिनमें विभिन्न कारकों की विभक्तियाँ लगी हुई हैं।

२१. मो और मोहिं :—परिनिष्ठित अपभ्रंश में इनमें से कोई रूप नहीं मिलता, लेकिन अवहट्ट में मिलता है।

मोहिं तहिं के बढाविहंति। (उक्ति)
धरणि सुण रणि बल नाहि मो। (कीर्त्ति०)
ते मोञे भलओ निरूढ़ि गए। (")
सो मो सन कहि जात न कैसे। (मानस)
सुनि मैया याके गुन मो सों। (सूर०)
झूटहिं मोहिं लगावत धगरी। (")

खड़ी बोली में मो और मोहिं में से किसी का प्रचलन न हो सका। मो में को, सों, में, पै, पर तथा कर आदि परसर्ग जोड़कर विभिन्न कारकों के अनुसार मोको, मोसों, मोपै, मोमैं, मोर (=मोअर<मोकर) आदि रूप बनाए गए हैं। इनमें मोर का प्रयोग केवल अवधी तथा अन्य पूर्वी बोलियों तक ही सीमित है, यद्यपि 'सूरसागर' में भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग मिलता है।

मोर छेम को करिह। (उक्ति०)
मोर वअन आकण्णे करहु। (कीर्ति०)
होइ दोसु नहिं मोर। (मानस)
जीवन धन मोर। (सूर०)

२२. मुज्झ>मुझ : यह मूलतः सम्प्रदान, एकवचन का रूप है जिसमें

विविध कारकों की विभक्तियाँ जुड़कर मुझे, मुझको, मुझसे, मुझमें, मुझपर आदि रूप बनाती हैं।

सो प्रिय होइ न मुज्झ। (हेम०)
भेअ-कहन्ता मुज्झु जइ। (कीर्ति०)
मुझ मैं रही न हूँ। (कबीर)

२३. उत्तम पुरुष, सर्वनाम के रूपों की तरह मध्यम पुरुष के भी रूप होते हैं। हउँ, मइँ, हम, मो, मज्झु की ही तरह इसमें भी तुहुँ, तेइँ, तुम या तुम्ह, ता और तुज्झ आधारभूत रूप होते हैं। इनमें से प्रत्येक के प्रयोग का इतिहास निम्नलिखित है—

(क) तुहुँ>तुउँ>तूँ>तू :

मइँ भणिय तुहुँ। (हेम०)
तुं करसि। (उक्ति०)
को तूँ मींत मन चित्त बसेरू। (पद्मा०)
तूं माय के मूड़ चढ़ कित मौड़ी (रसखान०)
तू ल्याई काको (सूर०)
तू क्या कर रहा है? (ख० बो०)

खड़ी बोली में तू रूप ही प्रचलित है।

(ख) तइँ>तैं :—

महु हिअउँ तइँ ताए। (हेम०)
अरे एति बार तैं काह किअ तांहा। (उक्ति०)
अतिहिं कृपण तैं है री। (सूर०)

बोल चाल की खड़ी बोली में कभी-कभी 'तैंने क्या किया' जैसे प्रयोग सुनाई पड़ते हैं, अन्यथा साहित्यक हिंदी में अब यह लुप्त है।

(ग) तुम्ह, तुम :—

अपभ्रंश में तुम नहीं मिलता, प्रायः तुम्ह वाले ही रूप मिलते हैं

तुम्हेहिं अम्हेहिं जं कियउं। (हेम०)
अहो पितरहो को तुम्ह तारिह (उक्ति०)

तुम्हे सेवइ सवराए। (कीर्ति०)
की तुम्ह हरि दासन महँ कोई। (मानस)
तुम हौ बीच भुलाने। (सूर)

खड़ी बोली में प्रायः तुम का प्रयोग बहुवचन के अतिरिक्त एकवचन में भी होता है। जब तुम के बाद ने, को, से, पर परसर्गों का प्रयोग होता है तो इसका रूप यथावत् रहता है, लेकिन कर्म, सम्प्रदान और संबंध कारक में यह तुम्ह हो जाता है और तुम्हें, तुम्हारे, तुम्हारे लिए आदि रूप बनते हैं।

(घ) तउ7तो और तोहिः—

तउ मूलतः संस्कृत संबंधकारक के तव का रूपान्तर है—

तउ गुण सम्पइ (हेम०)

आगे चलकर तउ तो हो गया और इसमें अन्य कारकों की विभक्तियाँ लगाकर तोहि (कर्म०), तोर (संबंध०) आदि रूप बनाए जाने लगे।

तोहि (उक्ति० २२।४)
अरु तोहि मारइ से पुनु काअर। (कीर्ति०)
तोहिं बड़ी कृपण मैं पाई। (सूर०)
की तोहिं लागहिं राम प्रिय (दोहा०)
एन्ह मांझ कवण तोर भाइ। (उक्ति०)
पुन्यसिलोक तात तर तोरे। (मानस०)

(ङ) तुज्झ7तुझ:

तुज्झ मदि। (हेम०)
तुज्झु दिअउँ जिवदान। (कीर्ति०)

खड़ी बोली में तुझे और तुझको का प्रयोग कर्म-सम्प्रदान में होता है।

२४. अन्य पुरुष सर्वनाम के लिए अपभ्रंश में संस्कृत सः (तत्) वाले रूपों के अवशेष ही अधिक चलते हैं। लेकिन आगे चलकर अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम वह के रूप अन्य पुरुष के लिए भी प्रचलित हो गए। अपभ्रंश में ठीक-ठीक वह

का प्रयोग तो नहीं मिलता, लेकिन उसका प्रारूप ओइ दृष्टिगोचर होता है। हेमचन्द्र ने इसे अदस् का आदेश बतलाया है;

जैसे—

> वड्डा घर ओइ। (हेम० ४।३६४),

कीर्तिलता में भी—

> ओ परमेसर हर शिर सोहइ (पृ० ४)
> ओ जिगीषु, ओ सधम्म, पुहवीपति सुरुतान ओ (पृ० ६०)
> इबराहिम साह पआन ओ (पृ० ६८)

कीर्तिलता में ओ के साथ ही ओहु का भी प्रयोग मिलता है—

> ओहु षास दरबार सएल महिमंडल उप्परि। (पृ० ५०)
> ओहु राओ विअक्खण। (पृ० ६४)
> ओहु सदए (पृ० ६४)

इस ओहु से वह् का बनना कठिन नहीं है।

वह् का प्रयोग कर्त्ता कारक, एकवचन में होता है; इसके अन्य रूप वे, उस और उन संस्कृत तद्, यद् किम् के अपभ्रंश अवशेषों से प्रभावित होकर बनते हैं। अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में इनके उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं।

> वह् मथुरा काजर की कोठरि (सूर०)
> उधो हम न होहिं वे बेली (सूर०)
> भोजन करत तुष्टि घर उनके (सूर०)

ब्रजभाषा में उस वाले रूप नहीं मिलते। उसके स्थान पर वा वाले रूप प्रचलित हैं; जैसे वाने, वाकौ, वामैं, वाहि् आदि।

वह् वाले रूपों के साथ ही अवधी और ब्रज में बहुत दिनों तक अन्य पुरुष के लिए तद् वाले तासु, तसु, तिन, ते आदि रूप भी प्रच-लित रहे, किन्तु धीरे-धीरे यह अप्रचलित हो गए।

२५. निज वाचक सर्वनाम अप्पण>आपन>अपना तथा उसके अन्य रूपों का प्रयोग अपभ्रंश से परम्परया आज तक चला आ रहा है।

इसे सर्वसम्मति से संस्कृत 'आत्मन्' का अपभ्रंश माना जाता है।

फोडेन्ति जे हिअडउँ अप्पणउँ (हेम०)
निलज्जु, अपाण वान। (उक्ति०)
आपण पूनु हराव। (उक्ति०)
सिष्ट आपणें बोलें न चलइ। (उक्ति०)
मैं अपनी दिसि किन्ह निहोरा। (मानस)
अपनी चाँड़ आनि उड़ि बैठ्यो (सूर०)

अवधी और ब्रज में अप्पण का ही एक रूप आप हो जाता है

आपु विरचि उपरोहित रूपा। (मानस)
आप खाय तो सहिए। (सूर०)

आगे चलकर खड़ी बोली में मध्यम पुरुष सर्वनाम के लिए आदरार्थ इस आप का प्रयोग होने लगा जैसेः—आपका शुभनाम क्या है? आप कहाँ जायँगे। आदि

२६. निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के लिए अपभ्रंश में दो प्रकार के रूप मिलते हैं—एह वाले रूप और आय वाले रूप।

जैसे :—

एह कुमारी एहो नरु (हेम०)
आयइँ लोअहो लोअणइ (हेम०)

परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि परिनिष्ठित अपभ्रंश में एह वाले रूपों का ही प्रचलन अधिक था। आगे चलकर अवहट्ट, अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में इसी की परंपरा चली। एह के अन्य रूप यह, ये, इस, और इन हैं।

'उक्ति व्यक्ति' में 'यह' का प्रयोग तो नहीं मिलता लेकिन इसके बहुवचन ए (=ये) का प्रयोग अत्यधिक है। इसके अतिरिक्त 'एन्ह माँझ' जैसे उदाहरणों में एन्ह > इन्ह, इन, विकारी रूप भी मिलते हैं।

'कीर्तिलता' में ए (ये) के स्थान पर ई मिलता है, जो पूर्वी प्रदेशों की विशेषता है।

ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ । (पृ० ४)

इसके अतिरिक्त कर्तिलता में एहु, एही और एहि रूप भी मिलते हैं—

राय चरित्त रसाल एहु (पृ० ८)
एहि दिएण उँद्धार के (पृ० १८)
जनि अद्य पर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य छल । (पृ० ५०)

अवधी और ब्रज में में इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा । (मानस)
मैं जो कहा यह कपि नहिं होई । (मानस)
कंचन मृग खोजन ये आए । (मानस)
सूर श्याम को चोरी के मिस देखन को यह आई । (सूर०)
ये बतियाँ सुनि रूखीं । (सूर०)
ए छवि छाके नैन । (बिहारी)

२७. संबंध वाचक सर्वनाम जो तथा इसके अन्य विकारी रूप अपभ्रंश से ज्यों के त्यों आज तक चले आ रहे हैं ।

जो गुण गोवइ अप्पणा । (हेम०)
जो सुमिरत सिधि होइ । (मानस)
सूर श्याम को जब जो भावै । (सूर०)
जो लिखा जाता है वह पढ़ा जाता है । (ख० बो०)

२८. प्रश्न वाचक सर्वनाम के लिए अपभ्रंश में काइं और कवण दो रूप चलते थे; (हेम० ४।३६७) । इन दोनों में से काइं कालान्तर में अप्रचलित हो गया और केवल कवण के रूपान्तर ही प्रचलित रहे । अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में इसका परिवर्तित रूप कौन चलता है ।

ताहँ पराई कवण घृण (हेम०)
कवण ए छाती (उक्ति०)
कारन कवन भरतु बन जाहीं । (मानस)

निर्गुन कौन देस को वासी। (सूर०)
कौन तुम हो वसंत के दूत (कामायनी)

२८. अनिश्चय वाचक सर्वनाम कोई और कुछ भी अपभ्रंश से यत्किंचित् रूपान्तर के साथ चले आ रहे हैं 'कोई' के साथ ही अवधी और ब्रज में कोउ, कोऊ भी मिलता है।

कोई : देहु म मग्गहु कोइ। (हेम०)
कोइ नहिं होइ बिचारक (कीर्ति०)
सुनि आचरज करै जनि कोई। (मानस)
और सहाय न कोई। (रास पंचाध्यायी)

कोउ : राजा जइ कोउ। (उक्ति०)
कोउ कछु कहा न कोउ कछु पूछा। (मानस)
कहुँ कोउ चल नहिं सकत डराहिं। (सूर०)

कुछ : बोलए न जाय किछु धाइ। (कीर्ति०)
कोउ कछु कहा न कोउ कछु पूछा।। (मानस)
अविगत गति कछु कहत न आवै (सूर०)

सार्वनामिक विशेषण

२९. पुरुष वाचक और निज वाचक सर्वनामों के अतिरिक्त शेष सभी सर्वनाम वस्तुतः विशेषण हैं; लेकिन स्पष्टतः विशेषण वे तभी प्रतीत होते हैं जब उनके साथ विशेष्य संज्ञा का भी प्रयोग कर दिया जाता है, जैसे यह लड़का, वह लड़की इत्यादि। फिर भी प्रायः यह, वह, जो, सो, कुछ, कोई आदि मूल सार्वनामिक विशेषणों को 'सार्वनामिक विशेषण' के भीतर ग्रहण करने की परंपरा नहीं है। उपर्युक्त मूल सार्वनामिक विशेषणों के साथ कुछ प्रत्यय लगाकर जो विशेषण बनाए जाते हैं, उन यौगिक सार्वनामिक विशेषणों को ही प्रायः इसके अन्तर्गत लिया जाता है। इनमें दो प्रत्यय—अइस और —एत्त मुख्य हैं। आधुनिक हिंदी में इनके रूप क्रमशः ऐसा, और एत्ता अथवा इतना जैसे होते हैं। इनके रूप विशेष्य संज्ञा

के लिंग, वचन और कारक के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरण स्वरूप ऐसा के संभावित रूप ऐसी, ऐसे हैं और इतना के इतनी, इतने तथा एत्ता के एत्ती, एत्ते आदि। इन सार्वनामिक विशेषणों के रूप अपभ्रंश से ही किंचित् रूपान्तर के साथ आधुनिक हिंदी तक चले आए हैं।

३०. – अइस>ऐस वाले रूप —

हेमचन्द्र (४।४०३) के अनुसार इसके जइसो, तइसो, कइसो और अइसो रूप हो सकते हैं। 'उक्तिव्यक्ति' में इसके – अस और – ऐस दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं—

को कस इहाँ (३२।१)

कैसें काह करत (३२।१)

अवधी में ये कस और कैसे दोनों रूप सुरक्षित रहे—

सो कासी सेइय कस न। (मानस)

सो मो सन कहि जात न कैसे (मानस)

ब्रज में ऐसे और ऐसो वाले रूप ही अधिक मिलते हैं

कैसे चरित किए हरि अबहीं। (सूर०)

—अइस वाले प्रत्यय के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने (४।४०२) —एह्उ वाले रूपों का भी उल्लेख किया है; जैसे—

केह्उ मग्गण एहु।

लेकिन ये रूप स्वयं अपभ्रश साहित्य में भी कम मिलते हैं और संभवतः इसीलिए परवर्ती बोलियों में इनका प्रचलन न हो सका।

३० —एत्तिय वाले रूप :—हेमचन्द्र (४।४०७) के अनुसार परिमाण वाचक और संख्यावाचक विशेषण 'इतना', 'उतना', 'जितना', 'तितना' के लिए—एवडु और—एत्तुल दो प्रत्यय अपभ्रंश में होते हैं। इनके रूप क्रमशः जेवडु, तेवडु और जेत्तुल, तेत्तुल होंगे। इन दोनों प्रकार के रूपों में अपभ्रंश के अधिक प्रचलित रूप जेत्तुल, तेत्तुल ही दिखाई पड़ते हैं। आगे चलकर परवर्ती अपभ्रंश में

इनकी—उल स्वार्थिक प्रत्यय निकल गई और—एत्त वाले रूप चल पड़े। यही परंपरा अवधी और ब्रज में भी चली, परंतु इसमें—उल की जगह—ना प्रत्यय जोड़ दी गई।

एतेँ कालेँ, एति वार (उक्ति०)
अंमह एत्ता दुक्ख सुनि किमि जिज्जिह सुकुमारे। (कीर्ति०)
जान प्रीति रस एतनेइ माहीं। (मानस)
अवधि गनत इक टक मोग जोवत तब एती नहीं भूखी। (सूर०)
ऊधो, इतनो कहियौ जाइ। (सूर०)

संख्या वाचक विशेषण

३१. पूर्णांक बोधक :—हिंदी के प्रायः सभी पूर्णांक बोधक संख्या वाचक विशेषण संस्कृत के उन्हीं विशेषणों के रूपान्तर हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की कतिपय ध्वनि-संबंधी प्रवृत्तियों के कारण हिंदी पूर्णांक संख्याओं के रूप बहुत पहले ही बन चुके थे; अन्तर केवल इतना ही है कि प्राकृत-अपभ्रंश के संख्या-वाचक रूपों में जहाँ संयुक्त व्यंजनों और उद्वृत्त स्वरों की प्रधानता है, वहाँ हिंदी ने क्षतिपूरक दीर्घीकरण, समीकरण, स्वर-संधि आदि नियमों के द्वारा उन्हें अपने उच्चारण के अनुकूल बना लिया। उदाहरण स्वरूप—अपभ्रंश के चउदह और चोद्दह को हिंदी में चौदह बना लिया गया। नीचे अपभ्रंश और हिंदी की कुछ संख्याओं के रूप तुलना के लिये दिए जा रहे हैं।[1]

अप०	हिंदी
एक्क-वीस	एकइस, इक्कीस
वावीस	वाईस
अट्ठावीस	अठाइस

१. अपभ्रंश की संख्याओं के रूप डा० तगारे के हि० ग्रै०, अप० §११४ से दिए गए हैं।

चउतीस	चौंतीस
अट्ठतीस	अड़तीस
छायालीस	छियालीस
पण-पण्णास	पचपन
छप्पण	छप्पन
सट्ठि	साठ
छावट्ठि	छाछठ
पंच-सत्तर	पचहत्तर, पछत्तर
चउरासी	चौरासी
छण्णवइ	छानबे, छियानबे
णवणउयइ	निन्यानबे

सौ से ऊपर की संख्यायें अपभ्रंश में संस्कृत के अनुकरण पर —उत्तर लगाकर बनाई जाती हैं जो अब भी हिंदी में विकल्प से चलती हैं; जैसे—

एक्कोत्तर सय=एकोतर सै

अट्ठोत्तर सय=अठोतर सै

कभी कभी इस क्रम को उलट भी दिया जाता है; जैसे

चउदह सयइं छहुत्तरइं मुंजहं गयहं गयाइँ ।(प्रबंध चिन्तामणि)

चउदह-सय-छहुत्तर=चौदह सै छिहत्तर

आधुनिक हिंदी में प्रायः सौ के बाद की संख्याओं के ऐसे ही रूप प्रचलित हैं और बोलियों में **एकोतर सै** जैसे रूप सुरक्षित हैं ।

३२. **अपूर्णांक बोधक** :—अपभ्रंश में इसके अधिक रूप नहीं मिलते; लेकिन जो मिलते हैं वे थोड़े से रूपान्तर के साथ हिंदी में भी चलते हैं; जैसे

अद्ध=आधा; दियड्ढ=डेढ़; अउट्ठ=अहुठ ।

३३. **क्रमवाचक** :—

(क) प्रथम के लिए अपभ्रंश में **पढम** और **पहिल** दो रूप मिलते

हैं। इन दोनों में **पढम** का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है; लेकिन हिंदी में **पढम** की जगह **पहिल** का ही प्रचलन हुआ। लिंग वचन के अनुसार हिंदी में इसके **पहला, पहली, पहले** आदि रूप हो जाते हैं।

(ख) द्वितीय के लिए अपभ्रंश में प्रायः **बिय** रूप मिलता है, कहीं कहीं **दुइज्ज** भी दिखाई पड़ता है। इनमें **बिय** वाले रूप गुजराती में आज भी सुरक्षित हैं, और दुइज्ज > दूज तिथियों की गणना में तथा '**भैयादूज**' जैसे पर्व के नामों में हिंदी में भी दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त पुरानी हिंदी में दूजा, दूजी, दूजे रूप बहुत दिनों तक प्रचलित रहे।

(ग) तृतीय के लिए अपभ्रंश में तइज्ज और तीज रूप मिलता है—

तणहं **तइज्जी** भंगि नवि (हेम०)

कज्ज करेवा माणुसहं **तीजउ** मग्गु न अत्थि (हेम०)

हिंदी में तिथि-गणना में तीज तथा क्रम-गणना में तीजा (पुरानी हिंदी) दृष्टिगोचर होता है।

(घ) दूजा और तीजा की जगह आधुनिक हिन्दी में—**सर** प्रत्यय वाले दूसरा और तीसरा जैसे रूप मिलते हैं। परिनिष्ठित अपभ्रंश में ये रूप तो नहीं मिलते; लेकिन अवहट्ट में इनके प्रयोग दिखाई पड़ते हैं; जैसे—

जनि **दोसरी** अमरावती क अवतार भा। (कीर्ति० पृ० २८)

दोहाए पेलिअ दोसरें माथें। (कीर्ति० पृ० ६८)

तेसरा लागि तीनू उपेक्खिअ (कीर्ति० पृ० ३४)

(ङ) चतुर्थ के लिए अपभ्रंश में चउट्ठ और चोत्थअ दो शब्द मिलते हैं इनमें से चोत्थअ > चौथा ही हिंदी में प्रचलित हुआ।

३४. आवृत्ति वाचक—

हिंदी में पूर्णांक बोधक विशेषण के आगे 'गुना' लगाकर आवृत्तिवाचक

विशेषण बनाए जाते हैं; जैसे दुगुना, चौगुना आदि। इनमें से दुगुना मध्यग – ग – के लोप होने से दुउना > दूना हो जाता है। अपभ्रंश में दूना के लिए दोन और चौगुना के लिए चउग्गुण शब्द मिलते हैं—

जामिणि जं वयणिज्ज तुअ, तं तिहुयणि णहु माइ।
दुक्खिहि होइ चउग्गुणी, झिज्जइ सुहसंगाइ॥
—(संदेश रासक, १५६)

३५. समुदाय वाचक—

किसी पूर्णाङ्क बोधक संख्या में—ओं लगाकर प्रायः समुदाय का बोध कराया जाता है; जैसे दोनों आदमी चले गए। इस तरह के प्रयोग अपभ्रंश में भी प्राप्त होते हैं—

दोण्ण वि अवसर निवडिअइँ तिण सम गणइ विसिट्ठु। (हेम०)
अर्थात् दोनों ही अवसर आ पड़ने पर विशिष्ट तृण समान गिनता है।
तीनुहु शक्तिक परीक्षा जानलि (कीर्ति० १४)

क्रिया

३६. सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की तरह हिंदी की भी क्रियायें प्रायः तद्भव हैं। जो क्रियायें तत्सम प्रतीत भी होती हैं, वे वस्तुतः किसी न किसी तद्भव क्रिया की सहायता से ही क्रिया का कार्य करने में समर्थ होती हैं; जैसे 'वह दर्शन करता है' वाक्य में क्रिया के लिए तत्सम संज्ञा 'दर्शन' का प्रयोग किया गया है, लेकिन वह अपने आप 'दर्शना' नहीं सकती; क्रिया का कार्य करने योग्य होने के लिए उसे हिंदी की तद्भव धातु 'कर' के तद्भव रूप की सहायता लेनी पड़ी है। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए ग्रियर्सन[1] ने कहा

1. ऑन द माडर्न इंडो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स (फरवरी १६३१ से दिसम्बर १६३३ ई० तक) § ७०

है कि हिंदी में जो तत्सम शब्द हैं, वे हिंदी के अपने नहीं हैं, बल्कि पराये और उधार लिए हुए हैं क्योंकि वे भाषा की प्रकृति के अनुरूप व्याकरणिक परिवर्तन स्वीकार नहीं करते; जैसे 'घोड़ा' जैसी तद्भव संज्ञा का विकृत रूप 'घोड़े' हो जाता है, परन्तु 'राजा' जैसी तत्सम संज्ञा का 'राजे' नहीं होता। इसीलिए हिंदी में अधिकांशतः संज्ञा विशेषण, और अव्यय ही सच्चे अर्थों में तत्सम हैं; क्रियाएँ तत्सम नहीं हो सकतीं। यदि उनमें से कुछ की धातु किसी प्रकार तत्सम हो भी तो काल-रचना, वाच्य-परिवर्तन आदि के कारण वे तद्भव रूप धारण कर लेती हैं।

३७. तद्भव होने के कारण हिंदी की क्रियाओं को संस्कृत की संपूर्ण संपदा प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से मिली है, इनमें भी विशेषतः अपभ्रंश के माध्यम से। संस्कृत से प्राकृत तक क्रिया की रूपावली में किस प्रकार क्रमशः ह्रास होता गया और क्रिया-रूपों की संख्या में कमी होती गई इसे विद्वानों ने गणना करके सोदाहरण समझाया है।[1] प्रयोग, काल, वचन आदि की संख्या में क्रमशः कमी होने के कारण संस्कृत में जिस धातु के रूप ५४० होते थे, पाली में लगभग २४० हो गए और प्राकृत में यह संख्या ७२ के आसपास पहुँच गई। निरन्तर रूप-क्षय होते रहने पर भी प्राकृत तक क्रियाएँ प्रायः संयोगात्मक थीं; प्राकृत में कुछ-एक कृदन्तज क्रियाओं के बावजूद अधिकांशतः तिङन्त-तद्भव रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्राकृत के बाद अपभ्रंश से क्रियाओं के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ; वे संहिति से व्यवहिति की ओर तीव्र गति से उन्मुख हुईं। धीरे धीरे इस दिशा में इतनी प्रगति हुई कि हिंदी आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के क्रिया-रूप अधिकांशतः व्यवहित हो गए। काल-रचना प्रायः कृदन्त अथवा कृदन्त और सहायक क्रियाओं के तिङन्त-तद्भव रूपों के संयोग

१. देखिए, डा० धीरेन्द्र वर्मा का हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० २८८-९०

से होने लगी; संयुक्त कालों और संयुक्त क्रियाओं की संख्या बढ़ गई। इससे क्रिया की रूपावली में सरलता आई। यद्यपि हिंदी में कालों की संख्या बढ़ गई अर्थात् संस्कृत में जहाँ केवल दस लकार होते थे, वहाँ हिंदी में लगभग पन्द्रह काल हो गए, तथापि रूप-रचना की दृष्टि से कोई उलझन नहीं बढ़ी; क्योंकि सहायक क्रियाओं की संख्या निश्चित है और उनके रूप भी स्थिर हैं; इसी तरह क्रिया के शेषांश कृदन्त रूप भी लगभग स्थिर है; क्योकि उनमें भी केवल लिंग वचन और पुरुष के अनुसार ही परिवर्तन होता है।

तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश ने हिंदी क्रियाओं के निर्माण में दुहरा योग दिया—धातु-निर्माण में और रूप रचना में।

३८. धातु—हिंदी धातुओं में से अधिकांश के रूप अपभ्रंश काल में ही प्रायः बन चुके थे। होर्नले[1] ने हिंदी धातुओं की जो सूची वर्गीकरण तथा व्युत्पत्ति के साथ दी है, उससे हिंदी धातुओं में अपभ्रंश के योग-दान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यदि उस सूची में से अपभ्रंश धातुओं को अलगाकर और फिर हेमचन्द्र 'प्राकृत व्याकरण' (४।१—२५६) के धात्वादेश के साथ अच्छी तरह उसे मिलाकर व्युत्पत्ति की दृष्टि से अपभ्रंश धातुओं का वर्गीकरण किया जाय तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं। 'प्राकृत धात्वादेश' पर थोड़ा सा कार्य ग्रियर्सन ने भी किया है[2] जो अग्रणी कार्य होते हुए भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उतना उपयोगी नहीं है। यहाँ संक्षेप में उन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा रहा है जिन्होंने अपभ्रंश और हिंदी के उभयनिष्ठ धातुओं के निर्माण में कार्य किया।

1. बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, जिल्द ४६, खण्ड १ (१८८० ई०) पृ० ३३-८१
२. बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी मेम्वायर्स, जिल्द ८, संख्या २ (१९२४ ई०)

(क) समान्य ध्वनि-परिवर्तन द्वारा निर्मित होने वाले धातु; जैसे खा∠खाद्, चू∠च्युत, तोड़∠तुट, टूट∠त्रुट, पड़∠पत्, जुट∠जुड्, चूम∠ चुम्ब्, नहा∠स्ना, ताक∠तर्क, डूब ∠ब्रुड्, जल (बल) ∠ ज्वल् आदि ।

(ख) विकरण-विशिष्ट धातुः—संस्कृत में एक-रूप धातुओं को एकत्र कर उस गण (समूह) के प्रथम धातु के साथ आदि शब्द जोड़कर उस गण का नाम रख दिया गया था। इन गणों में से प्रत्येक के लिए कुछ निश्चित विकरण (मध्य-प्रत्यय) हैं जो धातु में समाविष्ट होकर रूप-रचना करते हैं। इस तरह संस्कृत में धातु और विकरण दो भिन्न व्याकरणिक इकाइयाँ मानी जाती हैं। अपभ्रंश ने संस्कृत के विकरण-युक्त धातु-रूप को धातु स्वीकार कर लिया और आगे चलकर हिंदी में भी वे धातु उसी रूप में स्वीकृत हुए; जैसे—सुन∠श्रु+नु, नाच∠नृत्+य, बूझ∠बुध+य, जान∠ज्ञा+ना, रूँध∠रुध्+न सुमिर∠स्मृ+अ, हर∠हृ, कर∠कृ, धर∠धृ, डर∠ दृ, गिर ∠गृ, आदि ।

इनमें से अंतिम ऋकारान्त धातुओं में होनेवाले विकरण-जनित परिवर्तन की प्रवृत्ति अपभ्रंश में अत्यंत व्यापक दिखाई पड़ती है। संस्कृत के प्रायः सभी 'ऋ' कारान्त धातु अपभ्रंश और हिंदी में 'र' कारान्त हो गए। इसके अतिरिक्त 'इगुपध' (इ, उ, ऋ, लृ कारान्त) धातुओं में स्वरावस्थान (वॉवेल ग्रैडेशन) अथवा 'गुण' के द्वारा इ, उ का क्रमशः ए और ओ हो गया; जैसे चेत∠चित्, पोस∠पुष्, सोध∠शुध्, जोड़∠जुड्, खोद∠खोद् आदि।

(ग) गण-परिवर्तन से प्रभावित धातुः—संस्कृत के दस गणों में भी 'भ्वादि' गण में सब से अधिक धातु थे और उसी गण के रूप प्रभावशाली दिखाई पड़ते थे। अपभ्रंश तक आते आते यह प्रभाव अत्यंत व्यापक और सक्रिय हो गया। जैसे—रो (रोव) ∠रुद्, पाव∠आव्, ले∠ला, दे∠दा आदि।

(घ) काल-परिवर्तन से अविर्भूत धातुः—कभी-कभी भविष्यत् काल के रूप को ही धातु का आधार बना लिया गया; जैसे दृश् का लृट् लकार में द्रक्ष्यति होता है; फलतः अपभ्रंश और हिंदी की √देख 'द्रक्ष्य' के आधार पर बनी; √दृश से उसका कोई संबंध नहीं।

(ङ) कृदन्त युक्त धातुः— अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के कृदन्त रूप (धातु+कृत् प्रत्यय) से बने हैं। ऐसे धातुओं की संख्या बहुत अधिक है; जैसे—चुक<√च्युत्+क्त, पैठ<प्र + √ विश+ क्त (प्रविष्ट), रूठ∠ रुष्ट, ∠हाँक<हक+क्त, सटक∠सत्र (सद्+ क्त), लुक∠लुप्+क्त, भूल∠भ्रष्ट, भाग∠भग्न, मढ़ ∠मृष्ट, बेढ़∠वेष्ट, बैठ∠ उपविष्ट, पीट∠पिष्ट, फूँक∠फूत्+क्त, पलट ∠पर्यस्त, पकड़∠प्रकृष्ट, थक∠स्तम्भ्+क्त, ठाढ़∠स्तम्भ, जुट∠ युक्त, काढ़∠कृष्ट आदि।

ऐसे धातुओं में से अधिकांश भूत-कृदन्तज हैं।

(च) सोपसर्गोपपद धातुः—अपभ्रंश और हिंदी के अनेक धातु संस्कृत के सोपसर्गज (उपसर्ग+धातु से उत्पन्न) हैं। जैसे—ओढ़∠उप+ विष्ट, उखाड़∠उत्+कृष्ट, बैठ∠उप+विष्ट, पैठ∠प्र+विष्ट आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी धातु हैं जिन्हें देशज कहा जा सकता है क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति के लिए अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। हेमचन्द्र के 'धात्वादेश' में से कुछ ऐसे ही आदेशों का उनके हिंदी रूपों के साथ यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

अंच=ऐंच (कृष्), अफ्फुण=अफन, उफन; अब्भिड=भिड़ (सम्+गम्), उक्कुस=उकस (गम्), ओगाह=उगाह (अव+गाह), ओहाव=(बरखा का) ओहाव (आ+क्रम्), कोक्क=कूक, (वि+आ+ हृ), खिर=घिसने के अर्थ में (त्वर), घोट्ट=घोंट (पा), चक्ख=चख (आ+स्वद्), चड=चढ़ (आ+रुह), छज्ज=छाज (राज्), छड्ड=छोड़ (मुच्), छिव=छू (स्पृश्), छोल्ल=छोल छील (तक्ष्), जिम=जीम

(भुज्), झंख = झंख (वि+लप्, सम्+तप्, निस्+श्वस्), झएट = झाँट (हिलाना) (भ्रम्), झूर = झूर (स्मृ), झौंस = झँस (क्षिप्), ढक्क = ढँक (छादय्), ढएढोल = ढँढोर (गवेष्), ढंस = ढाँस (वि+वृ) पञ्जर = पजर (देखिए पृ० रासो) (कथ्), पलोट्ट = पलोट, (पलोटत राधिका पायन) (परि+अस्), पार = पार (शक्), पुञ्छ = पोंछ (मृज्), विसूर (खिद्), सार (प्र+हृ), सिह = एक देखै नौ सिहाय (स्पृह्, कांक्ष्)।

काल रचना

३६. व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिंदी के विविध कालों की क्रियाएँ अपभ्रंश के उन क्रियापदों से विकसित हुई हैं जिनमें से (क) कुछ तो संस्कृत के तिङन्त रूपों के तद्भव हैं; (ख) कुछ संस्कृत के कृदन्त रूपों के तद्भव हैं और (ग) शेष, इन तिङन्त-तद्भव और कृदन्त-तद्भव रूपों के संयोग हैं।

अब इनमें से एक-एक को लेकर विचार किया जा रहा है।

तिङन्त-तद्भव—

४०. **सहायक-क्रिया**—हिंदी में है, हैं, हूँ, हो तथा था, थे, थी, थीं आदि जो सहायक क्रियाएँ हैं, वे संस्कृत के तिङन्त रूपों के अवशेष हैं और उन्हें वर्तमान रूप अपभ्रंश, अवधी, ब्रजभाषा आदि कई अवस्थाओं के माध्यम से प्राप्त हुआ है। इनका इतिहास निम्नलिखित है।

है तथा उसके अन्य रूपः—विद्वानों ने है का संबंध संस्कृत के √अस के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है। अनुमानतः अस्ति और है के बीच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति 7 असति 7 अछइ 7 अहइ 7 अहै 7 है।

इनमें से अपभ्रंश में है, अहै और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता। इनके स्थान पर अच्छ अथवा अच्छि अवश्य मिलता है; जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४/३८८)

'उक्ति व्यक्ति' 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' के क्रिया पदों का

अध्ययन करने से भी पता चलता है 'अवहट्ट' में भी अछ् वाले रूपों की ही प्रधानता थी।

देखत आछ, चाखत आछ, सूँघत आछ (उक्ति, ६)
होइतेँ अछ (वर्ण० १३ क), चरइतेँ अछ (वर्ण०)

आरंभिक अवधी में भी कहीं कहीं अछ वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित प्रतीत होता है—

भलहि जो आछै पास। (पद्मा०)
कँवल न आछै आपनि बारी। (,,)
कहा निचिंत रे मानुष आपन चीते आछु। (पद्मा०)

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र अह् वाले रूप भी मिलते हैं; जैसे—

करइतेँ आह् (वर्ण० ३७ ख, ५६ क)

अवधी और ब्रज में अह् वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

भाट अहै ईसर कै कला। (पद्मा०)
एहि घाट ते थोरिक दूर अहै। (कवितावली)
वासों अहैं अनन्वया। (काव्य निर्णय, १६)

लेकिन अहै वाले रूप प्रधानतः अवधी के ही हैं।

है का प्रयोग परवर्ती अवधी तथा ब्रज से ही मिलने लगता है।

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं। (मानस)
आवत है दिन गारि। (सूर०)

कीर्तिलता में भी एक स्थान पर है का प्रयोग मिलता है—

खिसियाय खाए है (पृ० ४०)

(ख) था तथा उसके अन्य रूपः—भूतकालिक सहायक क्रिया था का संबंध कुछ लोग √अस् से और कुछ √ भू—अभूत से मानते हैं। अभूत से था तक पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है।

अभूत> अहूत> हूत> हुतो = हो, तो, था (त+ह)

भाषा में था के पूर्व-रूप की ये सभी अवस्थाएँ नहीं मिलतीं। ब्रजभाषा में हुतो, हो (ही, हे), तो (ती, ते) आदि रूप मिलते हैं; था वाले रूप अपभ्रंश से लेकर ब्रज भाषा तक कहीं नहीं मिलते।

एक हुतो सो गयो स्याम सँग। (सूर०)
पौन सो जागति आगि सुनी ही। (घनानंद)
मैं हो जान्यो लोयनुन जुरत बाढ़ि है जोति। (बिहारी०)
चरजि गई ती फेरि चरजन लागी री। (पद्माकर)

था वाले रूपों का प्रयोग खड़ी बोली की अपनी विशेषता मालूम होती है 'दखिनी हिंदी' में ये रूप बहुतायत से मिलते हैं—

अथे दो जने। रतन यो अथे। अथ्या, अथी, थ्यां आदि[१]।

(ग) होगा और उसके अन्य रूप—

अपभ्रंश में भविष्यत् काल बनाने वाली सहायक क्रिया होगा अथवा उसकी तरह का कोई रूप नहीं मिलता। 'उक्ति व्यक्ति', 'वर्ण रत्नाकर' और 'कीर्तिलता' में इस तरह के रूप नहीं हैं। अवधी के ग्रंथों में भी इसका प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पश्चिमी हिंदी में सोलहवीं सदी के आसपास विकसित और प्रचलित हुआ। संभवतः आरंभिक ब्रजभाषा में भी इसका प्रयोग नहीं होता था। 'ग्रंथ साहब' में इसका प्रारूप मिलता है—

ना को मेरा किस गही ना को होआ न होग।
तिस बिन दूसर होआ न होग।
जो कर पाया सोई होग।
नित नित जीअजे समालीअन देखैगा देवणहार।
काहु बोल न पहुचग प्रानी।

मिर्ज़ा खाँ ने अपने 'ब्रजभाषा व्याकरण'[२] (१६७६ ई०) में भविष्यत्

१. डा० सक्सेना द्वारा 'दखिनी हिंदी' पृ० ६१ पर उद्धृत।
२. ज़ियाउद्दीन—मिर्ज़ा खाँन'स ग्रैमर ऑव ब्रजभाषा (१६३५ ई०),

के लिए गा वाले रूप करैंगे, करौगे, करूँगी, करैगी, करैंगी आदि लक्षित किए हैं।

दखिनी हिंदी में भी हैंगी, सकेगा, अछेगा जैसे प्रयोग मिलते हैं। गा वाले रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में सन्देह है। संभवतः सहायक क्रिया होगा तथा उसके अन्य रूप के हो और गा दो भिन्न क्रियाओं से उत्पन्न हुए हैं और फिर संयुक्त हो गए।

४१. सामान्य वर्तमान काल—अपभ्रंश में सामान्यतः सामान्य वर्तमान काल के रूप निम्नलिखित प्रकार के होते हैं।

	एक०	बहु०
अ० पु०	करइ	करहिं
म० पु०	करहि	करहु
उ० पु०	करउँ	करहुँ

अवधी और ब्रज में प्रायः ये रूप ज्यों के त्यों प्रचलित रहे; परंतु इनके साथ ही इनके कुछ विकृत रूप भी चल पड़े। इन विकृत रूपों का इतिहास निम्नलिखित है।

—अइ > —ऐ :—

गरल सुधा रिपु करै मिताई। (मानस)
ऊधो विरहौ प्रेम करै। (सूर०)

—अइ > —ए :—

काहू काहू अइसनओ संगत करे। (कीर्ति० ३४)

—अइ > —अ :—

इसका प्रयोग विशेषतः अवधी में मिलता है।

मेघु गाज, वाउ डाल डोलाव, केवट नाव घटाव।
(उक्ति० ३८, ३९)
तवे मन कर, तन्हि केस कुसुम वस। (कीर्ति० ३४, ३६)
श्रुति पुरान मुनि गाव (मानस)

—अहिं> —एँ :—

बार बार प्रभु चहैं उठावा । (मानस)
कैसे रहैं रूप रस राँची । (सूर०)

—अउँ> —औं :—

बंदौं गुर पद पदुम परागा (मानस)
बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन । (रसखान)

—अउँ> —ऊँ :—

संतौ कहाँ बुझाऊँ । (कबीर)
जो जग और बियो हौं पाऊँ । (सूर०)

४२. सामान्य भविष्यत् काल—अपभ्रंश में भविष्यत् काल के रूप दो प्रकार के मिलते हैं :—

(क)—स प्रकार; जैसे—करिसइ, करिसहि, करिसुं, करसहुँ आदि

(ख)—ह् प्रकार; जैसे=करिहइ, करिहहिं, करिहहि, करिहहु, करिहउँ, आदि ।

दोनों ही संस्कृत के—ष्य—वाले रूपों के अपभ्रंश हैं । इनमें से—स प्रकार के रूप राजस्थानी बोलियों में सुरक्षित हैं; जैसे

उहाँ लगे मो लग्गसी (ढोला०)

कभी कभी अवधी में भी ऐसे रूप मिलते हैं; जैसे

बिकल होसि तैं कपि के मारे । (मानस)

और—ह प्रकार के रूप अवधी, ब्रज आदि बोलियों में प्रचलित हो गए; जैसे—

ह्वै है सोइ जो राम रचि राखा । (मानस)
पति रहिहै ब्रज त्यागे । (सूर०)
मग जोग न कोमल क्यों चलिहैं । (कवितावली)
जैहौं अवध कवन मुँह लाई । (मानस)

४३. वर्तमान आज्ञार्थ—हेमचन्द्र ने आज्ञा के लिए—इ, —उ और

—ए प्रत्ययों का आदेश दिया है (प्रा०व्या० ४।३८७)। इस प्रकार सुमरि, विलम्बु और करें तीन प्रकार के रूप बनते हैं; जैसे—

कुंजर **सुमरि** म सल्लइउ।
के वि दियहडा **विलम्बु**।
प्रिय एम्वहिं **करें**।

ये वस्तुतः—हि प्रत्यय के विकार हैं। हिंदी बोलियों में इनके रूप इस प्रकार हैं—

बार हजार लै देखु परिच्छा। (सुदामा चरित)
अली जिय जानि। (विहारी)
गोरस बेंच री आज तूँ। (रसखान)

इनके अतिरिक्त—हु और—ओ प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं

प्रिय तहिं देसहिं जाहु। (हेम०)
द्वारिका जाहु जू। (सुदामा चरित)
श्रवण **सुनो** तिनकी कथा। (भक्तमाल)

खड़ी हिंदी में इनमें से केवल—अ और—ओ वाले रूप ही मिलते हैं; जैसे—तू कर और तुम करो।

कृदन्त तद्भव रूप

४४. **वर्तमान कालिक कृदन्तः**—अपभ्रंश में संस्कृत शतृ प्रत्यय वाले रूप—अत लगाकर बनाए जाते थे और ऐसे वर्तमानकालिक कृदन्त कभी किसी सहायक क्रिया की सहायता से तथा कभी अकेले ही सामान्य वर्तमान काल का संकेत करते हैं जैसे—होसइ **करत** म अच्छ। (हेम०)

यहाँ **करत** के साथ अच्छ सहायक क्रिया आवश्यक हो उठी है। यह प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश से होती हुई अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में भी पहुँची।

करत, पढ़त, जेंवत (उक्ति० ११)

कइसे लागत आँचर बतास। (कीर्ति० ३६)
राजत लोचन लोल। (मानस)
हरि अहार चलि जात। (सूर०)
राम को रूप निहारति जानकी (कविता वली)

४५. भूतकालिक कृदन्त—अपभ्रंश में भूत काल में प्रायः निष्ठा के ही रूप प्रचलित थे; तिङन्त रूप नहीं। यही परम्परा भूत काल के विषय में हिंदी बोलियों में भी दिखाई पड़ती है।

गयउ सु केहरि। (हेम० ४।४२२)
अम्बणु लाइवि जे गया। (हेम० ४।३७६)
पुरुष हुअउं बलिराय। (कीर्ति०, ८)
चन्दन क मूल्य इंधन बिका। (कीर्ति०, ६८)
लषन सकोप बचन जब बोले (मानस)
आयो घोस बड़ो व्यापारी। (सूर०)

भूत कृदन्त के इन रूपों में लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तन भी होते हैं। कुछ धातुओं में भूत कृदन्त के रूप ने परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया है; जैसे √दा+क्त अपभ्रंश में 'दिएण' होता है और √कृ+क्त7किय लेकिन एक दूसरे को प्रभावित करने के कारण ब्रज-अवधी में √ दा √ कृ के भूत-कृदन्त रूप दीनो, दियो तथा कीनो, कियो दोनों तरह के होते हैं।

४६. भविष्यत् कृदन्तः—अपभ्रंश में कभी कभी—अव्व ∠ —तव्यत् प्रत्यय वाले रूप सामान्य भविष्यत् काल का कार्य करते थे; जैसे—

महु करिएव्वउँ किं। (हेम० ४।४३८)

अपभ्रंश के इस रूप का प्रचलन अवधी तथा अन्य पूरबी बोलियों में दिखाई पड़ता है।

वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासबि, पुराण देखब, धर्म करब (उक्ति०, १२)

झंख करिव्वउं काह। (कीर्ति०, ६४)
नैहर जनम भरब बरु जाई। (मानस)
हमहुं कहब अब ठकुर सोहाती ,,

इस तरह के प्रयोग ब्रज भाषा में भी मिल जाते हैं, किन्तु खड़ी बोली में ये रूप सर्वथा अप्रचलित हो गए।

४७. पूर्वकालिक कृदन्तः—हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में पूर्वकालिक के लिए –इ, –एवि, –अवि, – इवि, – इउ, –एप्पि, – एप्पिणु, एविणु आठ प्रत्ययों का विधान किया है (प्रा० व्या० ४।४३९-४०) लेकिन इनमें –इ प्रत्यय का ही विशेष चलन दिखाई पड़ता है; जैसे–कर्+इ=करि। हिन्दी बोलियों में –इ प्रत्यय वाले रूपों के अतिरिक्त इसके कुछ अन्य विकृत रूपों का भी प्रचलन रहा।

पकरि के (सूर०)
प्रभु सों निषाद ह्वै के बाद न बढ़ाइहौं। (कवितावली)
करकें (चौरासी वैष्णवन की वार्ता)

खड़ी हिंदी में अधिकतर –अ वाले रूप तथा उनके साथ √ कर्ँ+अ = कर का प्रयोग करके पूर्वकालिक रूप बनाया जाता है; लेकिन जहाँ दो बार **कर कर** आता है वहाँ दूसरे **कर** का **के** हो जाता है और इस तरह **करके** रूप बनता है। इस तरह खड़ी हिंदी में **चल कर** और **चल कर के** दोनों रूप चलते हैं।

संयुक्त काल

४८. सामान्य वर्तमान काल—यद्यपि अपभ्रंश में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया अधिकांशतः चलइ, करइ जैसे तिङन्त-तद्भव रूप वाली हुआ करती थी, तथापि कभी कभी वह कृदन्त और तिङन्त-तद्भव रूपों के संयोग से भी काल रचना करती थी; जैसे—

करत म अच्छु = म करत अच्छ। (हेम० ४)

इस तरह संयुक्त ढंग से सामान्य वर्तमान काल बनाने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे जोर पकड़ती गई और आज स्थिति यह है कि आधुनिक खड़ी बोली

में सामान्य वर्तमान काल के रूप केवल इसी तरह बनते हैं ; जैसे **करता है, करते हैं, करती है, करती हैं, करता हूँ, करते हो** आदि। यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा में ही जोर पकड़ गई थी, अन्तर इतना ही है कि उसमें कृदन्त वाले रूप आकारान्त या दीर्घ स्वरान्त नहीं हुए थे ; जैसे—

ताको कहाँ अब देति है सिच्छा। (सुदामा चरित)

सालति है नटसाल सी। (विहारी)

४६. **अपूर्ण भूत कालः**—वर्तमान कालिक कृदन्त के बाद भूतकालिक सहायक क्रिया का तिङन्त रूप जोड़ देने से अपूर्ण भूत काल का बोध होता है जैसे **करता था, करते थे, करती थी,** आदि। अपभ्रंश में भूतकालिक सहायक क्रिया का विकास न होने के कारण इस काल के संयुक्त रूप प्रायः नहीं मिलते, लेकिन परवर्ती अपभ्रंश से इसके उदाहरण मिलने लग जाते हैं।

को तहाँ जेवँत आछ = कस्तत्र भुञ्जान आसीत। (उक्ति०, २१)

काल्हि हमहिं कैसे निदरति ही = निदरती थी (सूर०)

५०. **आसन्न भूत (पूर्ण वर्तमान) कालः**—भूतकालिक कृदन्त के बाद वर्तमान-कालिक सहायक क्रिया के तिङन्त-तद्भव रूप को जोड़ने से पूर्ण वर्तमान अथवा आसन्न भूत काल की क्रिया बनती है ; जैसे **किया है, किए हैं,** आदि।

इस तरह के रूप ब्रजभाषा से ही प्रचलित दिखाई पड़ते हैं।

हम पढ़े एक साथ हैं = हम एक साथ पढ़े हैं। (सुदामा०)

मुकुट धरे माथ हैं = माथे मुकुट धरे हैं। ,,

जिनको विधि दीन्ही है टूटी सी छानी। ,,

५१. **पूर्ण भूत कालः**—भूतकालिक कृदन्त के बाद भूतकालिक सहायक क्रिया के तिङन्त-तद्भव रूप को जोड़ने से पूर्ण भूत काल की क्रिया बनती है, जैसे **किया था, किये थे** आदि। खड़ी बोली के ये रूप ब्रजभाषा काल से ही चले आरहे हैं ; जैसे—

आजु गई हुती भोरहिं हौं। (रसखान)

मैं हो जान्यो नाहिं। (विहारी)

संयुक्त क्रिया

५२. संयुक्त काल के अतिरिक्त अपभ्रंश में संयुक्त क्रिया बनाने की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ये क्रियाएँ प्रायः वर्तमान-कालिक कृदन्त, भूत-कालिक कृदन्त, पूर्वकालिक कृदन्त और क्रियार्थक संज्ञा के विकारी रूपों की सहायता से बनाई जाती हैं। इनमें से प्रत्येक का इतिहास यथासंभव अपभ्रंश से लेकर खड़ी बोली तक दिया जा रहा है।

(क) वर्तमान-कालिक कृदन्त-निर्मित—

अब्भा लग्गा डुँगरहि पहिउ रडन्तउ जाइ=रटता जाता है (हेम० ४।४४५)

मिलि न जाइ नहि गुदरत बनई। (मानस)

अविगत गति कछु कहत न आवै (सूर०)

(ख) भूतकालिक कृदन्त-निर्मित—

जइ भग्गा घर एन्तु = भग्गा एन्तु = भागा आता। (हेम० ४।३५)

जहिं पुणु सुमरण जाउं गउ = जाया गया (चला गया) (हेम० ४।४२६)

तहअ गंध सज्जा किआ। (प्राकृत पैंगलम्, ५०७)

सो चलि गा पाताल तुरंता। (मानस)

बहे जात माँगत उतराई। (सूर०)

(ग) पूर्वकालिक कृदन्त-निर्मित—

धाए असवारहिं मारि अ=धाए मारिअ = धाइ मारिअ (कीर्ति०,६६)

ओहु सैच्चान खोदि खा = खोद कर खा डालेगा। ,,

पकलि देव्यो असलान = पकड़कर देता हूँ। (कीर्ति०, १००)

रकत कराङ्गन माँथ उफरि फेरवी फोरि खा। (कीर्ति०, १०८)

पुनि संभारि उठी सो लंका। (मानस)

अपनी चाँड आनि उड़ि बैठो। (सूर)

(घ) क्रियार्थक संज्ञा-निर्मित—

पयोधर के भरे भागए चह = भागना चाहती हैं। (कीर्ति०, ३६)
उपर चढ़ावए चाह घोर = चढ़ाना चाहता है। (कीर्ति०, ३६)
सबै सहेली देखै धाईं। (पद्मा०)
तपै लागि अब जेठ असाढ़ी। (,,)
सत्य कहौं मोहि जान दे माई (मानस)
लगे सँवारन सकल सुर (,,)
मन ही मन मीर पिरैबौ करै (बोधा)
खेलन फिरन देव। (ठाकुर)

उपर्युक्त संयुक्त काल और संयुक्त क्रिया के उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय आर्य भाषा अपभ्रंश से व्यवहिति की ओर क्रमशः अग्रसर होती गई।

अव्यय

५३. क्रिया-विशेषण—कुछ-एक को छोड़कर अपभ्रंश के अधिकांश-विशेषण संस्कृत के तद्भव हैं और थोड़े से ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ उनमें से कई-एक अवधी, व्रज तथा खड़ी बोली में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। नीचे ऐसे ही विविध क्रिया-विशेषणों की सूची दी जा रही है।

(क) काल वाचक—अज्जु = अजु, आज ; एवहिं (अधुना) = अबहिं, अब ; कइयहँ (कदा) = कहिया (अवधी, भोजपुरिया) ; जइय (यदा) = जहिया ; जब्बे (यद्वा) = जब ; जाँव (यावत्) = जौं (लौं) ; तइय (तदा) = तहिया ; तब्बे (तदा) = तब ; तो (ततः) = तो; पच्छए (पश्चात्) = पाछे, पीछे।

(ख) स्थान वाचक—

कहिं (कुत्र) = कहँ, कहाँ ; जहिं (यस्मिन्) = जहँ, जहाँ ; तहिं (तत्र) = तहँ, तहाँ ; बाहिर (बहिः) = बाहिर, बाहर।

(ग) रीति वाचक—

एउँ, इउँ, एवँ (एवम्) = यों ; णिरु, णिराइउ (नितराम्) =

निरा ; णहिँ (नास्ति)=नाहिं, नहिं, नहीं ; फुडु (स्फुटम्)=फुर, फुरै (अवधी)।

(घ) विविध—

अवस (अवश्यम्)=अवस, अवसि (अवधी) ; इ (अपि)= इ ; जणि, जणु (इव)=जनि, जनु (अवधी) ; णं (इव, अथवा वैदिक न)=लौं, इत्यादि।

५४. समुच्चय-बोधक अव्यय—

अनु (अन्यथा) :—

विरहाणल-जाल-करालिअउ पहिउ को वि बुड्डिव ठिअउ।
अनु सिसिर-कालि सीअल-जलहु धूमु कहन्तिहु उट्ठियउ।

—(हेम० ४।४१५)

देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं। (मानस, अयोध्या कांड, पृ० १६६)

अपभ्रंश के अनु का प्रयोग हिंदी में बहुत कम मिलता है ; 'मानस' में जहाँ अनु मिलता है, वहाँ उसके लिए 'अरु' पाठ भी मिलता है ; अनु पाठ पं० शम्भूनारायण चौबे के संस्करण में ही सुरक्षित है।

जइ, जो (यदि) ; कि (वा) ; जैसे—अज्ज कि कल्लि।

वाक्य-विन्यास

५५. अब तक वाक्य के एक-एक अवयव (पद और पदमात्र) को लेकर अपभ्रंश से हिंदी का उद्भव और विकास देखा गया। हमने देखा कि किस प्रकार हिंदी संज्ञाओं की कारक-विभक्तियाँ और परसर्ग, सर्वनाम, सार्वनामिक विशेषण और संख्या-वाचक विशेषण, क्रिया के धातु और उनके प्रयोग तथा अव्यय अपभ्रंश से विकसित हुए हैं। लेकिन किसी भाषा में 'वाक्य के अवयवों का केवल रूपान्तर और प्रयोग' जानना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि उन अवयवों का 'पारस्परिक संबंध' जानना भी आवश्यक है। वाक्य में शब्दों के पारस्परिक संबंध का अर्थ है एक दूसरे से उनका अन्वय, एक दूसरे पर उनका अधिकार और अंत में उनका क्रम। इन्हीं सब बातों के द्वारा किसी भाषा की वाक्य-विन्यास संबंधी विशेषताओं का पता चलता है। नीचे हिंदी वाक्य-विन्यास की उन थोड़ी सी विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है जिन्हें अपभ्रंश ने या तो अपनी अर्जित सम्पत्ति के रूप में हिंदी को दिया है अथवा संस्कृत की परंपरा को थोड़ा सा परिवर्तित करके आगे बढ़ाया है।

५६. **विभक्ति व्यत्यय**—कारक-विभक्तियों का व्यत्यय संस्कृत से ही होता आ रहा है। हेमचन्द्र ने प्राकृत-अपभ्रंश वाक्य-रचना में इस व्यत्यय को लक्षित किया है। उनके अनुसार संबंध कारक की षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर्म, करण, सम्प्रदान और अधिकरण के लिए भी होता है।[1] इसके अतिरिक्त अधिकरण कारक की सप्तमी विभक्ति का प्रयोग कर्म और

१. चतुर्थ्याः षष्ठी (३।१३१); क्वचिद् द्वितीयादेः (३।१३४)—अत्र द्वितीयायाः षष्ठी ··· अत्र तृतीयायाः ··· अत्र पञ्चम्याः ··· अत्र सप्तम्याः। (प्राकृत व्याकरण)।

करण के लिए होता है,[1] अपादान कारक की पंचमी विभक्ति का प्रयोग करण कारक के लिए[2] और कर्म कारक की द्वितीया विभक्ति का प्रयोग अधिकरण के लिए होता है।[3] ये नियम हेमचन्द्र ने प्राकृत वाक्य-विन्यास के लिए बताए हैं ; अपभ्रंश की चर्चा करते हुए उन्होंने इस विषय में अलग से और कुछ नहीं कहा है ; फिर भी उनके दिए हुए अपभ्रंश उदाहरणों में उपर्युक्त विभक्ति-व्यत्यय तथा उसी तरह के कुछ और व्यत्यय पर्याप्त मिलते हैं। अपभ्रंश की इस प्रवृत्ति का विकास क्रमशः हिंदी में किस प्रकार हुआ—यह नीचे के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है।

(क) संबंध कारक के विशिष्ट प्रयोग

(१) कर्म कारक के अर्थ में—

तोवि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करंति। (हेम) = शकुनियों को।

वेस विसिट्ठह वारियइ। (कुमार० प्रतिबोध) = वेष-विशिष्ट लोगों को

तुअ हिययट्ठियह छड्डिवि। (सं० रास०, ७५) = तुम हृदयस्थित को

पिउ आणि मज्झ संतोसिहइ। (सं० रास०, १९७) = मुझको

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोचु मेरे। (कवितावली) = मुझे

शरीर का तपाना व्यर्थ है = शरीर को

(२) करण कारक के अर्थ में—

कंत जु सीहहो उवमियइ (हेम०) = सिंह से

सत्थावत्थहं आलवणु साहुवि लोउ करेइ। (हेम०) = स्वस्थावस्था वालों से।

क्या करना है प्रकाश का हमको (साकेत) = प्रकाश से।

आँख का अंधा, विपत्ति का मारा, दूध का जला।

(३) सम्प्रदान के अर्थ में—

दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं। (हेम०) = शकुनियों के लिए

१. द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी, २. पञ्चम्यास्तृतीया च ३. सप्तम्या द्वितीया। (हेम० प्राकृत व्याकरण—३।१३५, १३६, १३७)

जीविउ कासु न वल्लहउं। (हेम०) = किसके लिए
कितने पैसे तुम्हारे चाहिए। (सुनीता) = तुम्हारे लिए।
ब्राह्मण का दिया व्यर्थ नहीं जाता। = ब्राह्मण के लिए।

(४) अपादान के अर्थ में—
तेहिं नीहारिय घरस्स। (कुमार० प्रतिबोध) = घर से
कुछ का कुछ हो गया = कुछ से कुछ हो गया।
बात का चूका आदमी, डाल का चूका बंदर = बात से, डाल से

(५) अधिकरण के अर्थ में—
पिउ संगमि कउ निद्डी पिअहो परोक्खहो कँव (हेम०) = प्रिय के परोक्ष होने पर
कुजरु अंनहं तरुअरहं कुड्डेण घल्लइ हत्थु (हेम०) = अन्य तरुवरों पर।
सिरु ल्हसिउं खंधस्सु (हेम०) = कंधे पर
इन बातों का विचार मत कीजिए = बातों पर
पेड़ का चढ़ना कठिन है = पेड़ पर

(६) संबंध, स्वतंत्र कारक के अर्थ में—
महु कन्तहो गुट्ठट्ठियहो कउ झुम्पड़ा वलंति (हेम०) = मेरे कंत के के घर रहते या रहने पर।
तुअ हिअयट्ठियह, विरह विडम्बइ काउ (सं० रास०, ७६) = तुम्हारे हृदयस्थित होने पर

(ख) करण कारक के विशिष्ट प्रयोग :—
अधिकरण कारक के अर्थ में—
निद्दएं गमिही रत्तड़ी (हेम०) = निद्रा में।
वरिस-सएण वि जो मिलइ (हेम०) = वर्ष-शत में।
खणेण पहुँच्चइ दूअडउ (पु० हिं०) = क्षण में।
मीरां मुझसूं मिहर कर (कबीर) = मुझ पर।
फिर और काम से लगेगा (सुनीता) = काम में।

(ग) अधिकरण कारक के विशिष्ट प्रयोग—

करण के अर्थ में—

तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहवि न पूरिअ आस (हेम०)
=जल से, वल्लभ से।

आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाइ (कबीर)=मुझसे।

मो पै किमि कहि आवै (सूर०)=मुझसे।

हिंदी में अधिकरण परसर्ग 'पर' या 'पै' का प्रयोग सम्प्रदान और अपादान में भी होता है; जैसे—

अब कापर हम करब सिंगारा (पद्मा०)=किसके लिए।

कापर करौं सिंगार पुरुष मोर आँधर = किसके लिए।

जापै सुख चाहत लियो (विहारी)=जिससे

इसी तरह अन्य कारकों में भी व्यत्यय होता रहता है।

(घ) संस्कृत में √कथ् का कर्म सदैव द्वितीया विभक्ति में रहता है, परंतु हिंदी में उसके साथ करण-परसर्ग से लगाया जाता है; जैसे—

मैंने उससे कहा।

हिंदी में 'मैंने उनको कहा' जैसा प्रयोग नहीं होता। हिंदी में यह विशेषता अपभ्रंश से आई है; जैसे—

मुणिवि नंदु वुत्तंतु यह सयडालस्स कहेइ (कुमार० प्रति०) यहाँ सयडालस्स में यद्यपि संबंध कारक की विभक्ति-स्स दिखाई पड़ती है, परंतु है वह—से का अर्थ देने वाली।

५७. कर्म-वाच्य के प्रयोग की विशेषता—हेमचन्द्र ने विध्यर्थक – ज्ज प्रत्यय वाले रूपों के प्रयोग की व्याप्ति वर्तमान काल, भविष्यत् काल तथा आज्ञार्थे बतलाने के बाद भाववाच्य और कर्मवाच्य में भी उसके प्रयोग का विधान किया है[1]। हिंदी कर्मवाच्य के अनेक रूपों में

१. ईअ-इज्जौ क्यस्य।
चिजि प्रभृतीनां भावकर्मविधिं वक्ष्यामः। येषां तु न वक्ष्यते तेषां संस्कृतातिदेशा-

से एक यह भी है। इस कर्मवाच्य की, अपभ्रंश से हिंदी तक के विकास की अवस्थाएँ इस प्रकार है—

हउँ बलि किज्जउँ (हेम०) = मैं बलि [की] जाऊँ।
जाइज्जइ तहिं देसडइ (हेम०) = उस देश में जाया जाय।
जइ आवइ तो आणिअइ (हेम०) = यदि आवे तो आना जाय।
जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ (हेम०) = यदि प्रिय उबारा जाय।
करुए मुखन को **चहियत** यही सजाय (रहीम) = चाही जाती है।
मसक की पाँसुरी पयोधि **पाटियतु** है = पाटा जाता है।
बोलत **सुनियै** टेर (सूर०) = टेर सुनी जाती है।
नैनन को **तरसैये** कहाँ लौं (दास) = तरसाया जाय।

(ख) कर्मवाच्य का दूसरा रूप हिंदी में वह है जिसमें करण कारक के परसर्ग ने युक्त कर्त्ता के साथ सकर्मक धातु का भूतकालिक कृदन्त रूप आता है; जैसे मैंने कहा। यह प्रयोग भी अपभ्रंश से ही चला आ रहा है।

ढोल्ला **मइँ** तुहुँ **वारिया** (हेम०) = मैंने वारया, वारा।
विट्टीए **मइँ भणिय** तुहुँ (हेम०) = मैंने भन्या।
जेन्हे रिउँ वड्डिम **भंजिअ**। (कीर्ति)
जेन्ने जाचक जन **रञ्जिअ**। (कीर्ति)
बहुवचन कर्ता के साथ—
उन **बानन्ह** अस को जो न **मारा**। (जायसी)

५८. क्रिया-संबंधी कुछ अन्य विशिष्ट प्रयोग—क्रियार्थक संज्ञा और जाइ क्रिया के साथ अपभ्रंश में कभी-कभी निषेधवाचक वाक्य बनाया जाता है जो भाव वाच्य के अनुरूप होता है; जैसे—

रप्राप्तस्य क्यस्य स्थाने ईअ इज्ज इत्येतावादेशौ भवतः। हसीअइ। हसिज्जइ। हसीअन्तो। हसिज्जन्तो। हसीअमाणो। हसिज्जमाणो। पढीअइ। पढिज्जइ। होईअइ। होइज्जइ॥ बहुलाधिकारात् क्वचित् क्योपि विकल्पेन भवति। मए नवेज्ज। मए नविज्जेज्ज। तेण लहेज्ज। तेण लाहिज्जेज्ज। तेण अच्छेज्ज। तेण अच्छिज्जेज्ज। तेण अच्छीअइ॥—(प्रा० व्या० ३।१६०)

पर भुजणहं न जाइ (हेमा) = भोगा नहीं जाता।

हिअउ न धरणउ जाइ (सं० रास०)।

पर मइँ कहण न जाइ (सं० रास०)

इसके समान हिंदी में 'हमसे न कहा जाय', 'हमसे न भरा जाय' जैसे प्रयोग मिलते हैं। पुराने साहित्य में भी—

और गनी नहिं जात (सूर)

तौ काहू पै मेटी न जाति अजानी (सुदामा चरित)

५६. संयुक्त क्रिया—अपभ्रंश से हिंदी की संयुक्त क्रियाओं का जो विकास हुआ है, वह भी रूप और अर्थ की दृष्टि से वाक्य-विन्यास की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास में सबसे पहले अपभ्रंश में ही दिखाई पड़ता है; लेकिन रूप और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से अपभ्रंश की संयुक्त क्रियाएँ अत्यंत सरल और आरंभिक अवस्था में हैं। उनकी अपेक्षा आधुनिक हिंदी में संयुक्त क्रियाओं का गठन बहुत पेचीदा हो गया है। अपभ्रंश और हिंदी की संयुक्त क्रियाओं का कुछ तुलनात्मक परिचय 'क्रिया' के प्रसंग में दिया जा चुका है, अतः पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

६०. वाक्य-गठन संबंधी अन्य विचार—अपभ्रंश में प्रायः छोटे-छोटे साधारण वाक्य ही मिलते हैं; एक से अधिक वाक्य अथवा उपवाक्यों वाले मिश्रित और संश्लिष्ट वाक्य बहुत कम मिलते हैं। मिश्रित वाक्य प्रायः वहीं आते हैं जहाँ एक वाक्य शर्त वाला होता है; जैसे—

जइ आवइ, तो आणिअइ (हेम०)

जइ ससणेही, तो मुइअ (हेम०)

जइ पुच्छह घर बड्डाइँ, तो बड्डा घर ओइ (हेम०)

जइ केवइँ पावीसु पिउ, अकिया कुड्डु करीसु (हेम०)

परवर्ती अपभ्रंश में एक से अधिक विशेषण उपवाक्यों को जोड़ने के

लिए संबंधवाचक सर्वनाम 'जो' तथा उसके अन्य रूपों से मदद लेने की अपेक्षा 'एनाफोरिक' ढंग से स्वतंत्र वाक्यों में रखने की ओर प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है[1]; जैसे—

णव-घण-रेह-विणग्गय निम्मलकरु सरयरयणि-पच्चक्खु अमियभरु झरंतउ फुरइ तह चंदह जिणणत्थु पियह संजणिय-सुहु मुहु विरहग्गिधूमिं कइयलग्गि झंपियउ । (सं० रा०, १२२)

(नवघन-रेखा-विनिर्गत-निर्मल कर : शरद्रजन्यां प्रत्यक्षममृतभरं क्षरन् स्फुरति, तस्य चन्द्रस्य जयनार्थं प्रियस्य संजनितसुखं मुखं विरहाग्निधूमेन कं दिनमारभ्य झम्पितम् ।)

विद्युल्लता का तरंग, ते पथ-दिश-ज्ञान होइते अछ (वर्ण०, ३१ क) मदेँ जो उन्मत्त हाथि, तन्हि के जे दाँते आघातल सरल-वृक्ष ता सञो च्युत भेल जे निर्यास, तकर परिमल : से कइसन अखलु ? जनि-वन देवताँ काँ आयतन धूप देल अछ । (वर्ण० ५० क)

पदाति-क घर्म, एन्हि बाट कादव भइ गउ । (वर्ण०, ४६ क)

किसी भाषा की आरम्भिक अवस्था में ऐसी सरल वाक्य-योजना का मिलना स्वाभाविक है ? लेकिन आगे चलकर खड़ी बोली में जब गद्य-साहित्य का काफ़ी विकास हुआ तो अनेक प्रकार के मिश्रित वाक्यों की योजना हुई । अपभ्रंश वाक्य-गठन की उक्त विधि हिंदी की मिश्रित और संयुक्त वाक्य रचना की ओर आरंभिक प्रयत्न है ।

१. संदेश-रासक : स्टडी § ७६, वर्ण-रत्नाकर : अंग्रेजी भूमिका § ३८

शब्दकोश

६१. हिंदी शब्द-कोश में अपभ्रंश की देन तद्भव शब्दों के विषय में ही हो सकती है; क्योंकि अपभ्रंश में प्रायः तत्सम शब्दों का बहिष्कार किया गया है। यद्यपि उद्योतन सूरि ने 'कुवलयमाला कहा' (७७८ ई०) में अपभ्रंश के आकर्षण का वर्णन करते हुए कहा है कि 'यह शुद्ध और मिश्रित संस्कृत और प्राकृत शब्दों का समानुपातिक और आनंददायक मिश्रण है' [1] और राजशेखर (१० वीं सदी ई०) ने भी लक्षित किया है कि संस्कृत से युक्त होने पर अपभ्रंश लालित्य पूर्ण हो जाता है; [2] फिर भी अपभ्रंश साहित्य में संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता। इस बहिष्कार के दो ही कारण हो सकते हैं। या तो धार्मिक प्रतिक्रिया के कारण अपभ्रंश के जैन मुनियों और बौद्ध सिद्धों ने संस्कृत शब्दों की उपेक्षा की, अथवा नितान्त लोकव्यवहृत बोली होने के कारण अपभ्रंश सचमुच ही तत्सम शब्दों से रिक्त रही। जो हो, यह तथ्य है कि साहित्यिक अपभ्रंश में तत्सम शब्द नहीं मिलते।

लेकिन परवर्ती अपभ्रंश में तत्सम शब्दों के आगमन की बाढ़ दिखाई पड़ती है। 'उक्ति व्यक्ति' के छोटे-छोटे बिखरे हुए वाक्यों, कीर्तिलता के गद्यों और पद्यों तथा वर्ण-रत्नाकर की शब्द-सूची से इस तथ्य का पता चलता है। अपभ्रंश में जहाँ 'गज' के लिए 'गय,' 'लोचन' के 'लोयण,' 'मदन' के लिए 'मयण' जैसे तद्भव शब्द चलते थे, वहाँ परवर्ती अपभ्रंश में इन तद्भव शब्दों के साथ-साथ उनके तत्सम रूप भी चलने लगे। यह प्रवृत्ति जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन हिंदी कवियों में भी मिलती है।

१. अपभ्रंश-काव्यत्रयी की संस्कृत भूमिका में उद्धृत
२. संस्कृतमपभ्रंशं ललित्यालिंगितं पठेत्—काव्य मीमांसा

हय-गय, लोयन, मैन, मयंक, अच्छरा-अच्छरी जैसे अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग अवधी और ब्रज में भी बहुत दिनों तक होता रहा, लेकिन धीरे-धीरे इनके तत्सम शब्दों के प्रयोग की रुचि बढ़ती गई। निःसन्देह यह प्रवृत्ति हिंदी बोलियों के उदय-काल में उतनी प्रबल न थी; जैसे जायसी में सूर की अपेक्षा तथा सूर में तुलसी की अपेक्षा तत्सम शब्दों के प्रयोग कम हैं। आगे चलकर आधुनिक युग में जब खड़ी हिंदी का उत्थान हुआ तत्सम शब्द आधे से अधिक आ गए; यहाँ तक कि अपभ्रंश में जिस प्रकार तत्सम शब्दों का बहिष्कार किया गया था, उसी प्रकार आधुनिक हिंदी में तद्भव शब्दों का बहिष्कार किया गया। कविता में कभी-कभी कोमलता के लिए कुछ-एक तद्भव शब्दों को ग्रहण कर भी लिया जाता है, लेकिन गद्य में तो प्रायः उनसे बचने की ही कोशिश की जाती है।

हिंदी में इस निरन्तर तत्सम बहुलता के कारणों पर विचार करते हुये विद्वानों ने प्रायः एकमत होकर निर्णय किया है इसके मूल में पुनरुत्थान-भावना है। अपभ्रंश के बाद हिंदी का उदय भक्ति-आन्दोलन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और भक्ति-आन्दोलन की प्रेरक शक्तियों में प्राचीन हिंदू शास्त्रों, पुराणों और काव्यों का बहुत बड़ा हाथ है। अपभ्रंश युग की लोक भावना ने प्राचीन शास्त्रों का सहारा पाते ही भक्ति आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इस पुनरुत्थान भावना के फल-स्वरूप लोक-जीवन तथा शिक्षित समुदाय में फिर से संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन श्रवण-मनन आदि का कार्य आरंभ हो गया। इससे तत्कालीन साहित्यिक भाषा में संस्कृत के तत्सम तथा अर्धतत्सम शब्दों का प्रचलित होना स्वाभाविक है। इस प्रथम सांस्कृतिक पुनरुत्थान में हिंदी में काफ़ी संस्कृत शब्द आए, परंतु अनुपात की दृष्टि से तत्सम और तद्भव शब्द लगभग बराबर थे—अथवा तद्भव शब्द ही बीस पड़ते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने रहे-सहे तद्भव शब्दों को भी निकाल बाहर किया। कुछ लोगों की यह धारणा है कि खड़ी बोली के कारण ही हिंदी में तत्सम शब्दों की इतनी अधिकता हो गई।

लेकिन बात ऐसी नहीं है। तथाकथित 'दखिनी हिंदी' की रचनाओं के शब्द-समूह का विश्लेषण करने से पता चलता है कि आरंभिक खड़ी बोली में भी तद्भव शब्दों का प्रयोग कम नहीं होता था।

अपछरी, अछरी (अप्सरा), कुजात (विजाति), दुकाल (दुष्काल) धरती (धरित्री), घिउ (घृत), जिउ (जीव), नहँ (नख), पत (इज्ज़त), पहिराना (परिधान करना), उमस ऊष्मा, उसांस (उच्छ्वास), पायक (दूत, सेवक), पेखना (प्रेक्षण), फोकट, बाट (वर्त्मन्), रसरी (रश्मि + डी), राकस (राक्षस), रैन (रजनी), उपासी (उपवासी), संघाती (संगी) आदि[1]।

इससे प्रकट होता है कि आरंभिक हिंदी (चाहे वह अवधी, हो या ब्रज अथवा खड़ी बोली) अपभ्रंश शब्द-समूह पर स्थित होकर नई परिस्थियों से प्रभाव ग्रहण कर रही थी। यही कारण है कि एक ओर कीर्तिलता, वर्ण-रत्नाकर, पद्मावत, रामचरित-मानस आदि में संस्कृत शब्दों के साथ ही अरबी-फारसी शब्दों को भी ग्रहण किया गया, तो 'दखिनी हिंदी' में अरबी-फारसी के साथ ही संस्कृत शब्दों को भी सुरक्षित रखा गया। 'दखिनी हिंदी' में—

अंग, अंगन, अखंड, अधर, अचल, अम्बर, अन्तर, अपार, अवतार, आदि, आधार, अनन्त, उपकार, उपचार, अपरूप, उत्तम, काच, काल, कला, कुच, कुन्तल, गगन, गज, गम्भीर, मास, घन, छल, छन्द, तुरंग, दानी, दिक, धरित्री, धनी, धीर, चतुर, दल, देह, नारी, पवन, वर, परमेश, पुरुष, वस्तु, भानु, मान, रोमावलि, वादी, सन्मुख, सूर, सेवक, हस्ति, तेज, दार, दया, दिवाकर, संभोग, स्वाद, सम, संग्राम, सुरंग आदि[2], संस्कृत शब्दों का प्रयोग अक्सर मिलता है। 'दखिनी हिंदी' में इन संस्कृत शब्दों के प्रयोग का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि

१. दे० डा० बाबूराम सक्सेना : दखिनी हिंदी, पृ० ७४-७५
२. दे० 'दखिनी हिंदी' पृ० ७३०

जिन ग्रंथों में ये शब्द मिलते हैं, वे उर्दू भाषा के बताए जाते हैं और जो कवि इनके प्रयोक्ता हैं, वे मुसलमान हैं।

इस समता का कारण स्पष्ट है। तेरहवीं सदी का पुनरुत्थान (रेनेसाँ) हिंदू और मुसलमान जातियों में अपनी अपनी परंपरा के अनुसार उत्पन्न और विकसित होने पर भी भावना की दृष्टि से एक था। सूफी मत ने इस्लाम की धार्मिक कट्टरता, बाह्याडंबर आदि अंध-रूढ़ियों के विरुद्ध वही कार्य किया, जो भक्ति भावना ने हिंदू धर्म की रूढ़ियों के विरुद्ध किया। ऊपर से देखने पर दो तरह की प्रतीत होती हुई भी दोनों के भीतर काम करने वाली चेतना मूलतः एक ही थी, क्योंकि वह चेतना एक ही स्तर के सामान्य जन-समूह के असंतोष से पैदा हुई थी। भले ही कुछ सूफी शायर अपनी लाचारी के कारण अरबी-फारसी शब्दों के पुराने संस्कार से अपने को मुक्त न कर सके हों, फिर भी उन्होंने सामान्य जन समूह की बोली में लिखने की कोशिश की। 'दखिनी हिंदी' ऐसे ही मौलवी शायरों के परिश्रम से पनपी। लेकिन जायसी, कुतुबन, मंझन जैसे जो ग्रामवासी सूफी संत थे और जिनके संस्कार अरबी-फारसी के उतने न थे जितने अपभ्रंश आदि के, उन्होंने स्वभावतः अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं किया। अवधी ऐसे ही संत कवियों के कंठ से कूजी।

इसी तरह भक्त कवियों में से जिनके संस्कार अधिक शास्त्रीय थे, वे विवशतावश संस्कृत शब्दों को छोड़ने में असमर्थ थे; फिर भी उन्होंने संस्कृत में न लिखकर 'भाषा' में ही अपनी भावना भनी। उनके लिए इतना ही बहुत था। तुलसीदास नंददास आदि की विवशता ऐसी ही थी। इनमें भी तुलसी ने अपने को जो संस्कृत से बहुत कुछ मुक्त कर लिया, उसका मुख्य कारण उनका अत्यधिक लोक-सम्पर्क ही समझना चाहिए। दूसरी ओर सूरदास ऐसे भावुक भक्तों के लिए जहाँ शास्त्रीय सीमाएँ न थीं, लोक-बोली ने अपने वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन किया।

तात्पर्य यह है कि हिंदी बोलियों के उदय काल में जो संस्कृत और फ़ारसी-तत्सम शब्दों के आगमन के बावजूद तद्भव शब्दों का जोर है,

वह तेरहवीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लोकोन्मुखी प्रकृति का प्रभाव है और उसमें जो संस्कृत और फ़ारसी के तत्सम शब्दों का आगमन है, वह हिंदुत्व और इस्लाम के शास्त्रीय संस्कारों के पुनरुत्थान का परिणाम है।

इन द्विविध संस्कारों से प्रभावित शब्द-समूह के खोल में एक सामान्य शब्द-समूह और व्याकरण के आधार पर कतिपय प्रादेशिक भेदों के साथ साहित्यिक हिंदी का उदय हुआ। परंतु अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियों के अभाव में यह कार्य आज तक पूरा न हो सका। उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने जहाँ सबसे बड़ा कार्य यह किया कि खड़ी बोली को साहित्यिक हिंदी के रूप में प्रतिष्ठित करके प्रादेशिक बोलियों के भेद को दूर करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार की और दूसरी ओर उर्दू तथा हिंदी शैलियों के समीप आने का अवसर दिया, वहाँ दूसरी ओर उसमें निहित हिंदू और मुस्लिम पुनरुत्थान भावना ने दो भिन्न शब्द-समूहों के द्वारा एक ही भाषा को दो शैलियों में विभाजित कर दिया। भावना में जहाँ तक एकता थी, भाषा का भी आधार एक था; लेकिन भावना में जहाँ भेद उत्पन्न हुआ, भाषा के रूप में भी भेद आ गया। विदेशी अपमान के विरुद्ध जातीय सम्मान और प्रचीन रूढ़ियों के विरुद्ध आधुनिकता का आकर्षण—ये दोनों बातें शहरों के पढ़े लिखे मध्यवर्ग में एक सी आईं और इस मामले में भाव और भाषा से दोनों एक दूसरे के करीब आए। लेकिन जातीय गौरव की खोज में जब वे अपनी अतीत संपदा की ओर मुड़े तो अलग अलग जा पड़े। इस तरह वे एक जगह से चलकर दो राहों में जा निकले। निःसन्देह विदेशी शक्तियों ने भी इस भेदभाव को बढ़ाने में मदद की।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अधिक से अधिक भाषा के शब्द-समूह में ही हेर फेर कर सकती हैं और हिंदी भाषा में इन दो पुनरुत्थानों ने अपने अपने ढंग से काम किया।

६२. इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर यहाँ हिंदी के तद्भव और देशी शब्द-समूह के क्षेत्र में अपभ्रंश के योग-दान का लेखा उपस्थित किया

जा रहा है। आरंभ में हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में आए हुए उन महत्त्वपूर्ण शब्दों की सूची दी जा रही है जो थोड़े से ध्वनि-परिवर्तन के साथ साहित्यिक हिंदी तथा उसकी किसी बोली में मिलते हैं ; फिर 'देसी नाम माला' तथा अपभ्रंश की कुछ अन्य रचनाओं के कुछ देसी शब्दों की तालिका दी गई है, जो हिंदी बोलियों में आज भी प्रचलित हैं।

अच्छरा	१।२०	अछरा, अछरी
अच्छरिज्ज	१।५८	अचरज
अनु	४।४१५	अन्यथा
अन्त्रडी	४।४४५	अँतड़ी
अंधलो	२।१७३	आँधरो
असड्ढल	४।४२२	असड्ढल (अवधी)
आसीसा	२।१७४	असीस
उज्जोउगरा	१।१७७	उजागर
ओक्खल	१।१७१	ओखल, ओखली
कंसालो	२।९२	कंसेरा
कुम्पल	१।२६, २।५२	कोंपल
कुम्भार	१।८	कुम्हार
कोहण्डी	१।१२४, २।७३	कोहँड़ा
खम्भो	१।१८७, ४।३९९	खम्भा
खाइं	४।४२४	खाईं
खोडि	४।४१९	खोट (दोष)
गड्डो	१।३५, २।३५	गडढा
गहिर	१।१०१	गभीर
गाई	१।१५८	(गौः)
घंघल	४।४२२	झगड़ालू
घट्ठा	२।१७४	(घृष्ट)
घाउ	४।३४६	घाव (घात)

घुग्घिउ	४।४२३	घुड़की
घुएट	४।४२३	घूँट
चिहुर	१।१८६	(चिकुर)
चूडल्लउ	४।३९५, ४३०	चूड़िला
चोव्वारो	१।१७७	चौवारा (चतुर्वाङ्क)
छइल्ल	४।४१२	छैल, छइल
छावो	१।२६२	छौना (शाव)
छाही	१।२४९	छाही, छाँह (छाया)
छिछि	२।१७४	छी छी
छुच्छं	२।२०४	छूँछा (तुच्छ)
झोंण	२।३	झीना (क्षीण)
झुम्पडा	४।४१६, ४१८	झोंपड़ा
ठाउ	४।३५८	ठाँव (स्थानम्)
डाल	४।४४५	डाल (शाखा)
डोङ्गर	४।४२२	डूंगर (पहाड़),
डुंगर	४।४४५	,,
ढोल्ला	४।३३०	(दुल्हा),
तिक्ख	२।८२	(तीक्ष्णं)
तिरिच्छी	४।४१४	(तिर्यक्)
तूर	२।६३	(तूर्य)
थू	२।२००	(कुत्सायां निपातः)
थूणा	१।१२२	थूनी (स्थूणा)
दाहिणे	१।४५	दक्षिणो
दुवार	२।११२	द्वार
देउल	१।२७१	(देवकुल)
दोहला	१।२१७, २२१	(दोहद)
धणुहं	१।२२	धनुहा, धनुही (धनुः)

नवखी	४।४२०, ४२२	नोखी (नवा)
नवल्लो	२।१६५	नवल (नवः)
नाव	४।४२३	(नौः)
निच्चट्टु	४।४२२	निचाट
पराई	४।३५०, ३६७	(परकीया)
पहा	१।६	पह, पौ (प्रभा)
पाइक्क	२।१३८	पायक (पदाति)
पाओ	१।५	(पादः) पाँव
पिआस	४।४३४	प्यास (पिपासा)
बप्पुडा	४।३८७	बापुरा
बेल्ल	१।८५	बेल (बिल्व)
भल्ला	४।३५१	भला (भद्र)
मउड़	१।१०७	मौर (मुकुट)
मग्गणु	४।४०२	मंगन (मार्गण)
मयगल	४।४०६	मैंगल (मदकल)
माउसिआ	२।१४२	मौसी (मातृसा)
मुग्गड़ा	४।४०६	मूँग (मुद्ग)
मोत्था	(१।११६)	मोथा (मुस्ता)
रणण	१।६६	रन-बन (अरण्य)
रस्सी	१।३५	(रश्मि)
राउल	१।२६७	राउर (राजकुल)
रुक्ख	२।१६	रुख, रूख (वृक्ष)
रूसणा	४।४१८	रूसना (रोषयुक्ताः)
लज्जालुआ	२।१५६	(लज्जावती)
लट्ठी	१।२४७	लाठी (यष्टिः)
लोअडी	४।४२३	लुगरी
लोग	१।१७७	(लोक)

वक्कल	२।७६	बोकला (वल्कल)
वक्खाय	२।६०	बखान (व्याख्यान)
वणे	२।२०६	बन्नै (अवधी) (निश्चयाद्यार्थे निपातः)
वाउल	१।१२१	(वातुल, व्याकुल)
विच्चि	४।३५०, ४२१	बीच (वर्त्मनि)
विसाहिउ	४।३८६, ४११	बेसाह (विसाधितम्)
विहाण	४।३३०	विहान
संकलं	१।१८६	साँकल (शृंखला)
संघारो	१।२६४	(संहार)
संझा	१।६,	(सन्ध्या)
सलोणी	४।४२०	(सलावण्या)
सहरी	१।२३६	(शफरी)
सुक्ख	२।५	(शुष्क)
सोहिल्लो	२।१५६	सोहिला (शोभावान्)
हरडइ	१।६६	हर्रे
हलद्दी	१।८८	हल्दी (हरिद्रा)
हेट्ठ	४।४४८	हेठ (अधः)

६३. हेमचन्द्र की 'देसी नाम माला' में आए हुए वे शब्द, जो थोड़े से ध्वनिपरिवर्तन के साथ आज भी हिंदी बोलियों में मिलते हैं :—

अग्घाणो,	१।१९	अघाना (तृप्त होना)
आइप्पण,	१।७८	ऐपन (तंदुलपिष्टक्षीरं गृहमण्डनमित्यन्ये)
इंगाली,	१।७९	इंगारी, अंगारी (इक्षुखण्ड)
उक्खली,	१।८८	ओखली
उग्गाहिअं,	१।१०४	उगाहा (गृहीतम्)
उच्चाडो,	१।६७	उचटना
उज्जड,	१।९६	ऊजड़
उडिदो,	१।९८	उड़द

उड्डुसो, १।६६ उड़स (खटमल)
उड्डास, १।६६ उड़ास (उड्डास, संताप)
उप्फुणं, १।६२ उफनना (आपूर्णम्)
उंबी, १।८६ उम्मी (पक्वगोधूमः)
उल्ली, १।८७ ऐल, अलाव (चूल्ह, चूल्हा)
उव्वरिअं, १।१३२ उबरना, उबरुवा (अधिकम्)
उव्वाओ, १।१०२ ऊबना (तु० हेम०प्राकृत व्याकरण ८।४।२४०)
ऊसत्थो, १।१४३ ऊसठ (जृम्भितं, मनहूस)
ओज्झरी, १।१५७ ओझरी (अन्त्रावरणम्)
ओड्ढणं, १।१५५ ओढ़ना, ओढ़नी (उत्तरीयम्)
ओल्लरिअं, १।१६३ ओलरना (सुप्तम्)
ओसणं, १।१५५ ओसाना (उद्वेगः; जैसे, अनाज ओसाना)
ओसरिआ, १।१६१ ओसारी (अलिन्द)
ओसा, १।१६४ ओस
ओहट्टो, १।१६६ ओहटना, (अपसृतम्)
ओहरणं, १।१७४ ओहरना (विनिपातम्)
कउल, २।७ कौड़ (करीषं । तच्च गोमय खण्डं तच्चूर्णं च)
कट्टारी, २।४ कटारी
कडच्छू, २।७ करछुल (अयोदर्वी)
कतवार, २।११ कतवार (तृणाद्युत्करः)
करिल्ल, २।१० करिल (वंशाङ्कुरः)
कल्होड़ी, २।६ कलोर (वत्सतरी)
कसर, २।४ कसर, गरियार (अधमबलीवर्दः)
काहारो, २।२७ कहार (परिखन्धो, जलादिवाही कर्मकरः)
कुंडयं, २।६३ कुंडा (लघुभाण्ड)
कुल्लड़, २।६३ कुल्हड़ (,,)
कोइला, २।४६ कोयला (काष्ठाङ्गारः)

कोल्हुओ, २।६५ कोल्हू (इक्षुनिपीनयन्त्रम्)
कोसयं, २।४७ कोसा, कोसी (लघु शराव)
खट्टिको, २।७० खट्टिक (सौनिक)
खडं, २।६७ खरह (तृण)
खडक्की, २।७१ खिड़की (लघुद्वारम्, वातायनम्)
खड्डा, २।६६ खड्ड
खणुसा, २।६२ खुनिस (क्रोध), खेलत खुनिस न कबहूँ देखी—तुलसी, मानस।
खलइयं, २।७१ खाली, खली (रिक्तम्)
खल्ला, २।६६ खाल (चर्म)
खवओ, २।६७ } खवें (कांख)
खवो, २।७७ }
खाइआ, २।७३ खाई (परिखा)
खिंखणी, २।७४ खेखर (लोमड़ी)
खुट्टं, २।७४ खुट्टी (त्रुटितम्)
खुंपा, २।७५ खोंपा (केश, तृणादिमयं वृष्टिनिवारणम्)
गग्गरी, २।८६ गगरी (जलपात्रम्)
गड्डुरी, २।८४ गड़रिया (भेड़ रखने वाला), गड्डुलिक
गड्डी, २।८२ गाड़ी
गढो, २।८१ गढ़ (दुर्ग)
गंडीरी, २।८२ गंडेरी (इक्षु-खण्डम्)
गवत्त, २।८२ गव; कंद की गव
गुंजेल्लिअं, २।६२ गुंजलक (पिंडीकृतम्)
गुत्ती, २।१०१ गाँती (बन्धनम्)
गुंदा, २।१०१ गुंडा (अधमः)
गुम्मइओ, २।१०३ घुमाना
गोअला, २।६८ ग्वाला, ग्वालिन (दुग्धविक्रियकर्त्री)

गोआलिआ,	२।६८	ग्वालिन (प्रावृषि कीटविशेषः)
गोच्छा,	२।६५	गुच्छा
गोवर,	२।६६	गोब्र
गोहुरं,	२।६६	गोहरा, गोयँठा
घग्घरं,	२।१०७	घघरा (जघनस्थ-वस्त्रभेदः)
घट्टो,	२।१११	घाट (नदीतीर्थम्)
घम्मोइ,	२।१०६	घमोय (गण्डुत्संज्ञं तृणम्)
		तु० वेनुमूल सुत भएउ घमोई (तुलसी, मानस)
घरोली,	२।१०५	घरिला, घुरली, घरिया (गृह-गोलिका)
चउक्क,	३।२	चौक
चंगं,	३।१	चंगा
चाउला,	३।८	चावल
चासो,	३।१	चास (हलस्फाटित भूमिरेखा)
चिक्का,	३।२१	चिक्का (ढेला)
चित्तलं,	३।४	चीतल (मंडितम्)
चिल्लिरी,	३।२	चिल्लर (मशक विशेषः, जूँ)
चोट्टी,	३।१	चोटी (शिखा)
छइल्लो,	३।२४	छैल (विदग्ध)
छलिओ,	३।२४	छलिया (विदग्ध)
छल्ली,	३।२४	छाल, छिलका
छासी,	३।२६	छाँछ (तक्रम्)
छिछोली,	३।२६	छिछोल (लघुजल प्रवाहः)
		तु० छुटे पटे छिछोल—ढोला०
छिण्णालो,	३।२६	छिनाल (जारः)
जोण्णलिआ,	३।५०	जोन्हरी (ज्वार, धान्यविशेषः)
जोवारी,	३।५०	ज्वार (धान्यविशेष)
झंखरीं,	३।५४	झखड़ (शुष्कतरु)

झंखो,	३।५३	झंखना (पछताना)
झडी,	३।४३	झड़ी (निरन्तर वृष्टिः)
झंटिअं,	३।५५	झाँटना (प्रहृतम्, हिलाना)
झंटी,	३।५३	झोंटा (लघूर्ध्वकेशाः)
झलुंकिअं,	३।५६	झलका (दग्धम्, फफोला)
झलुसिअं,	३।५६	झुलसना (दग्धम्)
झाडं,	३।५७	झाड़ (लतागहनम्)
झिल्लिरिआ,	३।६२	झिल्ली (झींगुर)
झुट्ठं,	३।५८	झूठ
झुल्लरी,	३।५८	झालर, झलरी (गुल्मः)
झोलिआ,	३।५६	झोली
टुंटो,	४।३	टूँट (छिन्नकरः)
ठल्लो,	४।५	ठाला, निठल्ला (निर्धनः)
डंडओ,	४।८	पग-डंडी (रथ्या)
डलो,	४।७	डली, डला (ढेला, लोष्ठः)
डल्लं,	४।७	डलिया, डाली (पिटिका)
डाली,	४।६	डाल, डाली (शाखा)
डुंगरो,	४।११	डूंगर (शैल)
डुंबो,	४।११	डोम्ब, डोम (श्वपचः)
डोला,	४।११	डोला, डोली (शिविका)
ढंकणी,	४।१४	ढँकनी (पिधानिका)
ढेंका,	४।१७	ढेंकी, ढेंकुली (कूप-तुला)
तग्गं,	५।१	ताग (सूत्रम्)
तडफडिअं,	५।६	तड़फड़ाना
दोरो,	५।३८	डोरा (सूत्रम्)
पंखुडी,	६।८	पंखड़ी (पत्रम्)
पक्खरा,	६।१०	पक्खर (तुरङ्ग संनाहः)

पप्पीओ,	६।१२	पपीहा
परिहृण,	६।२१	पहिरन (परिधानम्)
पावो,	६।३८	पोवा (सर्प का बच्चा)
पेड्डा,	६।८०	पाँड़ा (भैंस का बच्चा)
पेंडारो,	६।५८	पिंडारे, पिंडारा (डाकुओं का दल)
पोट्टं,	६।६०	पोटरी (पेट)
		तु० माई निहारै पोटरी, मेहरिया निहारै मोटरी।
फग्गू,	६।८२	फाग, फगुआ (वसंतोत्सवः)
बइल्ल,	६।६१	बैल
बप्पो,	६।८८	बाप
बुक्का,	६।६४	बुक [भर] (मुट्ठी भर)
बुलंबुला,	६।६५	बुलबुला (बुदबुदः)
बेडो,	६।६५	बेड़ा (नौः)
बोक्कडो,	६।६६	बकरा (छागः)
बोहारी,	६।६७	बुहारी (झाड़)
बोहित्थो,	६।६६	बोहित (प्रवहणम्)
भउज्जा,	६।१०३	भौजी, भौजाई, भावज (भ्रातृजाया)
भेली,	६।११०	भेला (बेड़ा)
मक्कोडा,	६।१४२	मकोड़ा (कीड़ा-मकोड़ा, मकड़ा)
मम्मी, मामी,	३।११२	मामी (मातुलानी)
मल्हणं,	६।११६	मल्हना (लीला)
माउआ,	६।१४७	माई (सखी)
माहुरं,	६।१३०	माहुर (शाकविशेष)
मोग्गरो,	६।१३६	मोगरा (पुष्पविशेष)
राड़ी,	७।४	रार (झगड़ा)
रोट्टं,	७।११	रोट, रोटी

लसकं,	७।१८	लसका, लासा (तरुक्षीरम्)
वट्टं,	७।३१	बाट (पंथ, वर्त्म)
वड्डो,	७।२६	बड़ा,
वड्ढइओ,	७।४४	बढ़ई
वड्ढणसालो,	७।४६	बाँड़ (छिन्नपुच्छः)
ववणी,	७।३२	बनौ, बिनौला, सन सूक्यो बीत्यो बनौ (बिहारी)
वहोलो, वाहली	७।३६	बाहा, बहिया (लघु जल प्रवाहः)
वाउल्लो,	७।५६	बाउल, बावला (वातुल, प्रलपनशीलः)
वारिओ,	७।४७	बारी, नाऊ-बारी (नापितः)
विग्गोवा,	७।६४	बिगोवा (व्याकुलभावः, बिगाड़ना)
विच्छोहो,	७।६२	बिछोह (विरह, वियोग)
वोज्झओ,	७।८०	बोझ (भारः)
सइज्झो,	८।१०	साझी (हिस्सेदार, प्रातिवेशिमकः)
सोहणी,	८।१७	सोहनी (खेत निराना)
हरिआली,	८।६४	हरियाली
हिल्लूरी,	८।६७	हिलोर (लहरी, हिल्लोल)

६४. इनके अतिरिक्त अपभ्रंश काव्यों में प्रयुक्त कुछ अन्य तद्भव और देशी शब्दों की तालिका दी जा रही है जिनका प्रयोग किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ हिंदी बोलियों में आज भी होता है।

अक्खाडय	(प० च० ४।११)	अखाड़ा
उत्तावलिय	(प० च० ३६।१५)	उतावली
उम्मेट्ठ	(प० च० २५।१४)	उमेठ
कक्कर	(प० च० २४।३)	कंकड
कल्लूरिय	(प० च० ४५।१२)	कलवार
कल्लए	(प० च० २।१२)	(भावी) कल
कसेरु	(महा० १।३।१२)	कसेरू (तृण-विशेष)

कुट्ट	(सं० रा० १७३)	कूटना (प्रहार)
कुंड	(महा० ४।३।७)	कुंड (जलद्रोणी)
कुंडवाल	(सं० रा० १७५)	कुंडल, कुंडली (वर्तुल)
खञ्च	(प० च० ३।१२)	खींच
खाट	(शबरपा, चर्या० २८)	खाट (चारपाई)
खुरप्प	(महा० ११।१६)	खुरपा∠क्षुरप्र
खेड्डिय	(प० च० २०।८)	खेदना, भगाना
गिल्ल	(महा० २६।५।३)	गीला (आर्द्र)
गुज्झ	(प० च० १४।७)	गोझिया
घरवार	(प० च० २४।१२)	घर-द्वार
घल्लइ	(महा० ३।१६।१०, हेम० ८।४।३३४)	घालना (फेंकना)
चक्खइ	(महा० २।१६।४)	चखना (आस्वाद लेना)
चडई	(महा० २।१६।१)	चढ़ना
चडाविइ	(महा० ३०।१२।६)	चढ़ाना
चंगेड़ा	(कण्ह० चर्या० १०)	डलिया
चुणइ	(महा० १६।१३।२)	चुनना, चुंगना
चेल्लु	(सरह, दोहा० १०)	चेला (शिष्य)
चोज्ज	(महा० ८।७।२३)	चोज (कौतुक, आश्चर्य)
छज्जइ	(महा० ११४।३)	छाजै (राजते, शोभते)
छंडइ	(महा० ७।१६।१५)	छाँड़ना, छोड़ना
छाहि	(प० च० २६।१३)	छाँह
छिवइ	(महा० ४।५।१३)	छूना
छिंक	(महा० २६।४।२)	छींक
छोक्कर	(जस० पृ० ४)	छोकरा (लड़का)
जेंवइ	(महा० १८।७।११)	जेंव, जीमना (मुंक्ते)
जोक्खइ	(महा० ४।५।५)	जोख, (तोलयति)
झखड़	(सं० रा० १६२)	झखड़ (झंझा)

झडप्पइ	(महा० ३०।४।६)	झपट°
झडप्पण	(महा० २५।४।८)	झड़प (ताड़न)
झंपइ	(महा० १।११।४, सं० रा० २६)	झंप° (आच्छादयति)
झीण	(स० रा० १७१)	झीना (क्षीण, सूक्ष्म)
झुल्लइ	(महा० १४।५।१२)	झूल° (कम्पते)
झुंपड़ा	(हेम० प्रा० व्या० ८।४।४१६)	झोंपड़ा (कुटीर)
झुम्बुक्क	(प० च० ५५।५)	झूमक
टक्कर	(महा० ३१।१६।४)	टक्कर
टाल	(प० च० १२।२)	टालना
टोप्पी	(जस०, पृ० ६)	टोपी
डर	(सं० रा० १६३)	डर (भय)
डंकिय	(महा० ३०।१२।८)	डंक मारना
ढड्ढस	(प० च० ४६।१७)	ढाढ़स
ढलइ	(महा० ३११।१६।१२)	ढल° (च्यवति)
ढलिय	(महा० ८।६।१२)	ढीला (स्रस्त)
ढंकइ	(महा० १।१३।१०)	ढँक° (आच्छादयति)
ढुक्कय	(सं० रा० १८६)	ढुक° (छिपना)
ढोय	(प० च० २।१६)	ढोना
ढोर	(प० च० २।७)	पशु
णत्थ	(प० च० ४७।१)	नथ
ताँति	(कण्ह० चर्या० १०)	ताँत
तिम्मण	(प० च० ५०।११)	तीवन (भोजन विशेष)
तिया	(महा० १।१५।४)	तिया (स्त्री)
तुरन्त	(प० च० ४।३)	
तोंद	(महा० २०।२३।३)	तोंद
थट्ट	(प० च० २०।३)	समूह
थरहरिय	(सं० रा० ६६)	थरहरी (कम्प)

थाती	(भूसुक० चर्या० २१)	थाती (धरोहर)
थाह	(प० च० २०।४)	
दाय	(प० च० ५३।१०)	खेल का दाव
धंधा	(सरह० दोहा० १६)	धंधा
धूइण	(सं० रा० १६३)	धूनी
पडिवा	(प० च० २६।१)	परिवा
पइसार	(प० च० ७।४)	प्रवेश
पणाल	(प० च० १६।१०)	पनाला
पप्पड	(प० च० ५०।११)	पापड़
पायाल	(प० च० १२।८)	पायल
पागल	(शबर० चर्या० २८)	
पुट्टि	(प० च० ५।१६)	पुट्टा
पुंछिय	(सं० रा० १८)	पोंछना
पेल्लिय	(महा० १।१२।५)	पेल० (प्रेरित)
पोट्टल	(महा० २०।१०।१२)	पोटली
फिर	(सं० रा० १६८)	फिरना (वापस आना)
फुर	(सं० रा० १२२)	फुर (सत्य)
फुल्ल०	(सं० रा० १६३)	फूल, फूलना
बहुड़ि	(योग० ६०)	बहुरना (लौटना, लौटाना)
बापुड़ी	(कराह० चर्या० १०)	बापुरी (बेचारी)
बुड्डइ	(महा० ३३।११।११)	बूडइ, डूब०
बोहित्थ	(महा० १७।४।४)	बोहित (नौः)
भीड	(सं० रा० ६२)	भीड़ (संमर्द)
भेट्ट	(प० च० ४१।४)	भेंट
भुक्कइ	(महा० १।८।७)	भूँकना (बुक्कइ)
भोल	(महा० २।२०।७)	भोला, भोली
मच्छर	(सं० रा० १४६)	मच्छर (मशक)

मन्नाय	(सं० रा० ७१)	मना० (मनाना)
मेलअ	(महा० ३३।३।८)	मेला
मेहली	(प० च० ७८।७)	मेहरी (पत्नी)
मोड	(सं० रा० २५)	मोड़ना
रसोइ	(प० च० १७।१३)	रसोई
रंडी	(महा० १७।६।१०, सरह० दोहा ५)	रंडी (वेश्या)
रंगइ	(महा० ४।१।११)	रेंगइ (जानुभ्यां चलति)
रिल्ल	(सं० रा० १६२)	रेला (जलप्रवाह)
रेल्ल	(महा० १४।१०।१)	रेला
रोक्क	(प० च० १७।६)	रोक
रोग्ग	(प० च० २८।६)	रोग
लक्क	(सं० रा० २४)	लंक (कटि)
लड्डु	(प० च० ५०।११)	लड्डू
लुक्क	(महा० ६।१४।१२, हेम० ८।४।४०१)	लुकना (छिपना)
विसूरइ	(महा० १४।५।१०, हेम० प्रा० ८।४।१३१)	विसूरना (खेद करना)
वारिय	(प० च० ३८।१८)	वारी, क्रम
साडी	(महा० १२।५।३)	साड़ी (स्त्री-वस्त्र)
सालण	(प० च० ५०।११)	सालन (पक्व मांस)
सासु-नणद	(कण्ह चर्या० ११)	
साहार	(प० च० ६।११)	सहारा
साहुकार	(प० च० २।१७)	साहुकार
सिप्पि	(महा० ४।६।११)	सीपी, सीप (शुक्ति)
सुहाली	(नेमि० चौपई २४)	सोहारी (पूड़ी)
सुज्झ	(प० च० ८।२)	सूझ
सोहल	(प० च० ३३।१)	सोहर (उत्सव)

हट्ट	(महा० १।१६।१)	हाट
हल्लइ	(महा० १४।५।१२)	हिलना (कम्प०)
हाँड़ी	(तंतिपा, चर्या० ३३)	हाँड़ी (भाण्ड)
हुड्डु	(चर्चरी २२)	हुड्डु
होहल्लर	(महा० ४।४।१४)	होहल्ला (सामूहिक शोर)

द्वितीय खण्ड

(साहित्य)

अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का पहला संग्रह 'माटेरियालिएन त्सुर केंटनिस डेस अपभ्रंश' जिसे आज से लगभग पचास साल पहले १६०२ ई० में जर्मन विद्वान पिशेल ने अपभ्रंश के अध्ययन की सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया था। इन सामग्री को पिशेल ने अपने 'ग्रामेटिक डेर प्राकृत श्प्राखेन' का परिशिष्ट कहा था। इसमें हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण के सभी अपभ्रंश छंदों के अतिरिक्त पैंतीस पद्य और हैं। उन पैंतीस पद्यों में से पहला 'चंड' के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत यह दोहा है

कालु लहेविणु जोइआ, जिवँ जिवँ मोहु गलेइ।
तिवँ तिवँ दंसणु लहइ जो णिअमें अप्प मुणेइ॥

दूसरा दोहा 'ध्वान्यालोक', में इस प्रकार उद्धृत है—

महु महु त्ति भणन्तअहो वज्जइ काल जणस्सु।
तो वि ण देउ जणद्दणओ गोअरिहोइ मणस्सु॥

इसके बाद क्रमशः 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के अठारह और विक्रमोर्वशीय के पन्द्रह छंद और हैं। पूरी सामग्री व्याकरणिक टिप्पणी तथा किंचित् व्याख्या के साथ प्रस्तुत की गई है। विचार करने से इस संग्रह में कुछ ऐसे पद्य भी मिल सकते हैं, विशेषतः 'सरस्वती कण्ठाभरण' के, जिनकी भाषा अपभ्रंश न हो; फिर भी इस संग्रह का ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीय और यूरोपीय विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश की ओर आकृष्ट करने वाला यह पहला अपभ्रंश संग्रह है। इसने अपभ्रंश-साहित्य की शोध के लिए विद्वानों को प्रेरित किया। इस दिशा में जर्मनी के ही दूसरे विद्वान याकोबी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यह है धनपाल की 'भविस्सयत्त कहा' का संपादन (१६१८ ई०)। अपभ्रंश का यह पहला प्रबंध काव्य है, जिसने विद्वानों के सामने अपभ्रंश-साहित्य के सौन्दर्य और

अपभ्रंश साहित्य की सामग्री

गौरव की स्थापना की। पूर्ववर्ती बिखरी सामग्रियों की राशि पर 'भविस्सयत्त कहा' का प्रकाशन सुमेरु शिखर के समान प्रतीत हुआ। आगे चल कर श्री चमनलाल डाह्याभाई दलाल ने इस ग्रंथ की अन्य पांडुलिपियों को ढूँढ़कर एक दूसरे संस्करण के संपादन का कार्य आरंभ किया, जिसे उनके असमय देहावसान के बाद डा० पांडुरंग गुणे ने १९२३ ई० में सम्पन्न किया।

श्री दलाल ने 'भविस्सयत्त कहा' के संपादन के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया, वह है 'पाटण पुस्तक-भंडार' में पड़े हुए अनेक अपभ्रंश ग्रंथों का परिचय प्रकाशित करना। उन्होंने बड़ौदा के 'लाइब्रेरी मिसेलेनी' में 'पटणाना भंडारो अने खास करीने तेमां रहेलु' अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती साहित्य' शीर्षक विस्तृत निबंध के द्वारा सन्देश रासक, वज्रस्वामि रास, अंतरंग संधि, चउरंगसंधि, सुलसाख्यान, चच्चरी, भावनासार, परमात्म प्रकाश, आराधना, मयणरेहासंधि, नमयासुंदरिसंधि, भविस्सयत्त कहा, पउम सिरि चरिउ इत्यादि ७५-८० अपभ्रंश ग्रंथों का परिचय दिया।

पश्चात् जैन पुस्तक भंडारों तथा अन्य संग्रहों में अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का खोज-कार्य शुरू हुआ। इस दिशा में श्री दलाल के बाद श्री जिन विजय मुनि का कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। 'भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट' में प्राकृत नाम से घोषित पुष्पदंत के महापुराण' तथा स्वयंभू के 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' के उद्धार का श्रेय मुनि जी को ही है। मुनि जी ने अपभ्रंश पुस्तकों की खोज के अतिरिक्त उनके संपादन और प्रकाशन में भी बहुत बड़ा काम किया है।

दूसरी ओर प्रो० हीरालाल जैन ने 'कारंजा जैन भंडार' की छान बीन करके जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, करकंड चरिउ, पाहुड़ दोहा सिवयधम्मदोहा आदि अपभ्रंश काव्यों को प्रकाश में लाने का कार्य किया।

इन विद्वानों के शोध-कार्य के अतिरिक्त प्राप्त सामग्री के संपादन

में डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य और डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने महत्वपूर्ण काम किया है।

पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य की सामग्री के अतिरिक्त पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करनेवालों में म० म० हरप्रसाद शास्त्री का नाम अग्रणी है। 'बौद्ध गान ओ दोहा' (१६१६ ई०) इस तरह का पहला संग्रह ग्रंथ है। पीछे महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस दिशा में महत्वपूर्ण खोज का काम किया। पूर्वी अपभ्रंश साहित्य के संपादन में डा० शहीदुल्ला और डा० प्रबोधचन्द्र बागची का नाम उल्लेखनीय है।

अब तक अपभ्रंश की प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री इस मात्रा में ज्ञात हो चुकी है कि किसी भी बात में अपभ्रंश-साहित्य को सामान्य और महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता। यहाँ अपभ्रंश-साहित्य की ज्ञात पुस्तकों की सूची अकारादिक्रम से दी जा रही है।

१.	अंजना सुंदरी कथा	
२.	अनन्तव्रत कथानक	
३.	अनाथ संधि	जिनप्रभ सूरि
४.	अंतरंग रास	,,
५.	अंतरंग विवाह	,,
६.	अंतरंग संधि	रत्नप्रभ सूरि (सं० १३६२ वि०)
७.	अमरसेन चरित	माणिक्कराज
८.	आत्मसंबोधन कुलक	जिनप्रभ सूरि
९.	आदिनाथ फाग	पुष्पदंत
१०.	आदिपुराण (मेघेश्वर चरित)	सिंहसेन (रइधू)
११.	आराधना सार	वीर
१२.	उपदेश कुलक	देवसूरि
१३.	ऋषभ जिन स्तुति	
१४.	कथाकोश	श्रीचन्द्र (९४१-९९६ ई०)

*१५.	करकंड चरिउ	कनकामर मुनि
१६.	करकंड चरिउ	रइधू
*१७.	कालस्वरूप कुलक	जिनदत्त सूरि
*१८.	कालिकाचार्य कथा (अत्थि इह व जम्बू)	अंशतः अभ्रंश; ब्राउन द्वारा संपादित।
*१९.	कुमारपाल प्रतिबोध	सोमप्रभ सूरि (१२४१ वि०) अंशतः अपभ्रंश
*२०.	कुवलयमाला कहा	उद्योतन सूरि (सं० ८३५वि०) अंशतः अपभ्रंश
२१.	चन्द्रप्रभ चरिउ	यशः कीर्ति
२२.	चन्द्रप्रभ चरित	दामोदर
*२३.	चर्चरी	जिनदत्त सूरि
२४.	चर्चरी	सोलण
२५.	चर्चरी	जिनप्रभ सूरि
२६.	चैत्यपरिपाटी	,,
२७.	जम्बू चरित्र	(सं० १२६६ वि०)
२८.	जम्बूस्वामि चरित्र	वीर
२९.	जम्बूस्वामि चरित्र	सागरदत्त (सं० १०६० वि०)
३०.	जम्बू स्वामि रासा	धर्मसूरि (१२६६ वि०)
३१.	जयकुमार चरित्र	ब्रह्मदेव सेन
३२.	जयकुमार चरित्र	रइधू
३३.	जयतिहुअण	अभयदेव सूरि (११२९ वि०)
३४.	जिनजन्म मह	जिनप्रभ सूरि
३५.	जिनदत्त चरित्र	रइधू
३६.	जिन महिमा	जिनप्रभ सूरि
३७.	जिन रत्ति कथा	नरसेन

३८.	जीवानुशास्ति संधि	,,
*३६.	त्रिषष्ठि-महापुरुष-गुणालंकार (महापुराण)	पुष्पदन्त
४०.	दड्डड	
४१.	दश लक्षण जयमाला	सिहसेन (रइधू)
४२.	दानादि कुलक	प्रद्युम्न
*४३	दोहाकोश	सरह
४४.	दोहानुप्रेक्षा	लक्ष्मीचन्द्र
*४५	दोहा कोश	काण्ह
*४६.	दोहा पाहुड़	रामसिंह
४७.	दोहा मातृका	
४८.	धर्मसूरि स्तुति	
४६.	धर्माधर्म कुलक	जिनप्रभ सूरि
५०.	धर्माधर्म विचार	,,
५१.	नवकार फल कुलक	
*५२.	नागकुमार चरिउ	पुष्पदंत
५३.	नागकुमार चरित	माणिक्क राज
५४.	निर्दोष सप्तमी कथा	
५५.	नेमिनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
५६.	नेमिनाथ चउपई	विनयचन्द्र सूरि (१२५७ वि०)
५७.	नेमिनाथ चरिउ	हरिभद्र सूरि (८वीं से १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय)
५८.	नेमिनाथ चरित	दामोदर
५६,	नेमिनाथ चरित	लक्ष्मण देव
६०.	नेमिनाथ फाग	राजशेखर सूरि (१३७१ वि०)
६१.	नेमिनाथ रास	जिनप्रभसूरि
*६२.	पद्म चरित्र (पउम चरिउ)	स्वयंभू और त्रिभुवन

*६३.	पद्मश्री चरित्र	धाहिल (११६१ वि०)
६४.	पद्म पुराण	रइधू
*६५.	परमात्म-प्रकाश	योगीन्द्र
६६.	पांडव पुराण	यशः कीर्ति
६७.	पार्श्वनाथ चरित्र	विनयचन्द्र सूरि
६८.	पार्श्वनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
६९.	पार्श्वनाथ पुराण	रइधू
७०.	पार्श्वनाथ पुराण	पद्म कीर्ति
७१.	पुराण-सार	श्रीचन्द्र मुनि
७२.	प्रत्येक बुद्ध चरित्र	
७३.	प्रद्युम्न चरित्र	रइधू
७४.	प्रबंध चिंतामणि (अंशतः अपभ्रंश)—मेरुतुंग (१३६१ वि०)	
७५.	वृद्ध नवकार	जिनवल्लभ सूरि
७६.	बलभद्र चरित	रइधू
७७.	बारह खड़ी दोहा	महाचंद
*७८.	बाहुवलि राम	शालिभद्र सूरि
*७९.	भविस्सयत्त कहा	धनपाल
८०.	भव्य कुटुम्ब	जिनप्रभ सूरि
८१.	भव्य चरित्र	"
८२.	भावनाकुलक	"
*८३.	भावनासंधि	जयदेव (१६०६ वि०)
८४.	भावनासार	
८५.	मदन रेखा चरित	(सं० १२९७ वि०)
८६.	मलयसूरि-स्तुति	
८७.	मल्लिनाथ चरित	जिनप्रभसूरि
८८.	महावीर चरित	जिनेश्वर सूरि का कोई शिष्य।
८९.	महावीर चरित	

९०. महावीर स्तोत्र
९१. मुक्तावलि विधान कथा
९२. मुनिचन्द्र सूरि-स्तुति देवसूरि
९३. मुनि सुव्रत स्वामि-स्तोत्र जिनप्रभ सूरि
९४. मृगपुत्र महर्षि चरित (मृगपुत्र संधि)
९५. मेघेश्वर चरित रइधू
९६. मोहराज विजय जिनप्रभ सूरि
*९७. यशोधर-चरित्र (जसहर चरिउ)—पुष्पदंत
९८. युगादिजिन-चरित्र-कुलक जिनप्रभ सूरि
*९९. योगसार योगीन्दु
१००. योगसार श्रुतकीर्ति
१०१. रोहिणी-विधान कथा देवनन्दी
१०२. लघु-अजित-शान्तिस्तव वीरगणि
१०३. वज्र स्वामि चरित्र
१०४. वज्र स्वामि चरित्र जिनप्रभ सूरि (सं० १३१६ वि०)
१०५. वर्धमान काव्य (श्रेणिक चरित)—जयमित्र
१०६. वर्धमान चरित्र रइधू
१०७. वरांग चरित तेजपाल
१०८. विलासवती कथा सिद्धसेन सूरि
१०९. विवेक कुलक जिनप्रभ सूरि
११०. वीरजिन पारणक वर्धमान सूरि
१११. शान्तिनाथ चरित शुभकीर्ति
*११२. शालिभद्रकक्का पद्म
११३. शालिभद्रमातृका
११४. शीलसंधि ईश्वरगणि
*११५. श्रावकधर्म दोहा देवसेन
११६. श्रावक विधि जिनप्रभ सूरि

११७. श्रावकाचार	देवसेन
११८. श्रीपाल चरित्र	नरसेन
११९. श्रीपाल चरित्र	रइधू
१२०. षट्कर्मोपदेश	अमरकीर्ति (१२७४ वि०)
*१२१. संयममंजरी	महेश्वर सूरि
१२२. संघपति समारा रास	अंबदेव सूरि
१२३. संभवनाथ चरित	तेजपाल
१२४. संवेगमातृका	
*१२५. संदेश रासक	अब्दुल रहमान
१२६. सन्मति जिन चरित	रइधू
१२७. सकुमाल स्वामि चरित	पुष्पभद्र (पूर्णभद्र)
१२८. सुकुमाल चरित	श्रीधर
१२९. सुगंध दशमी कथा	
१३०. सुदर्शन चरित्र	नयनन्दिन (११०० वि०)
१३१. सुभद्रा चरित्र	अभयगणि (सं० ११६१ वि०)
१३२. सुभाषित कुलक	जिनभद्र
१३३. स्थूलिभद्र फाग	जिनपद्म सूरि (१२५७ वि०)
१३४. हरिवंश पुराण	स्वयंभू, और त्रिभुवन।
१३५. हरिवंश पुराण	रइधू
१३६. हरिवंश पुराण	श्रुतिकीर्ति
*१३७. सिद्धहेम शब्दानुशासन	(संकलित अपभ्रंश छंद)—हेमचन्द्र
१३८. ज्ञान प्रकाश कुलक	जिनप्रभ सूरि।[1]

यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथ-सूची पूर्ण नहीं है, फिर भी उससे अपभ्रंश-

---

१. यह सूची मुख्यतः प्रो० हरि दामोदर वेलणकर द्वारा संपादित 'जिन रत्न कोश' (खंड १), १९४४ ई० से तैयार की गई है। विशेष विवरण के लिए उक्त 'कोश' देखना उचित होगा। कुछ पुस्तकों के नाम 'अनेकान्त' से भी जोड़े गए हैं। तारकांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

साहित्य की व्याप्ति का कुछ आभास हो सकता है। इतने संधि, कुलक, चउपई, आराधना, रास, चाँचर, फाग, स्तुति, स्तोत्र, कथा, चरित, पुराण आदि प्रकार के काव्यों में मानव जीवन और जगत् की अनेक भावनाओं और विचारों को वाणी मिली है। यदि एक ओर इसमें जैन मुनियों के चिंतन का चिंतामणि है, तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है; यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोक जीवन से उत्पन्न होने वाले ऐहिक रस का रागरंजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका पुरुषों के उदात्त जीवन चरित से सम्पन्न है, तो सामान्य वणिक पुत्रों के दुख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है। तीर्थंकरों की भावोच्छ्वसित स्तुतियों, अनुभव भरी सूक्तियों, रहस्यमयी अनुभूतियों, वैभव-विलास की झाँकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शौर्य स्नेह-सिक्त गाथाओं के विविध चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयंभू जैसे महाकवि के हाथों इसका बीजारोपण हुआ; पुष्पदंत, धनपाल, हरिभद्र, जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, जिनपद्म, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान, सरह और काण्ह जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया; और अंतिम दिनों में भी इस साहित्य को यशःकीर्ति और रइधू जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले महाकवियों का संबल प्राप्त हुआ। ऐसे महाकवियों और इतने महाकाव्यों तथा गीत काव्यों के इस साहित्य का, जो आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक सुदूर दक्षिण को छोड़कर शेष संपूर्ण भारतवर्ष के सामान्य लोक तथा शिक्षित मंडिली के हृदय की वाणी था, भारतीय साहित्य में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है—यह सहज ही अनुमेय है।

अस्तु, एक-एक करके अपभ्रंश साहित्य के विभिन्न अंगों का अध्ययन करना चाहिए।

पुराण-साहित्य

ब्राह्मणों की तरह जैनों का भी अपना पुराण साहित्य है। सामान्यतः

दिगंबर जैनों के धार्मिक साहित्य के चार भाग किए जाते हैं—प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि पुरुषोत्तमों का चरित्र-वर्णन किया जाता है और यही महापुराण है। इस तरह महापुराण अथवा पुराण साहित्य दिगंबर मत के इसी प्रथमानुयोग की एक शाखा है जिसमें तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों आदि तिरसठ शलाका पुरुषों के जन्म-जन्मान्तर की जीवन गाथाओं को लेकर विशाल साहित्य की सृष्टि की गई है। भारतीय साहित्य में पौराणिक रचनाओं का एक विशेष युग दिखायी पड़ता है जब ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी मत वाले अपने अपने ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर पुराणों की रचनाएँ करते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि सामान्य जन-समूह तक शास्त्र और आगमों की विचारधारा को लोक-प्रिय तथा बोधगम्य ढंग से पहुँचाने के लिए पुराण-साहित्य का आविर्भाव हुआ। कहीं-कहीं इन ब्राह्मण, बौद्ध और जैन पुराणों में एक ही तथा एक-से ही महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ मिलती हैं, फिर भी उनके अपने-अपने धार्मिक आग्रहों ने उन गाथाओं में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर डाला है।

जैनों ने अपने पुराण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में लिखे हैं। तीर्थकारों में ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर के जीवन को लेकर अपभ्रंश में काफी रचनाएँ की गई हैं। चक्रवर्तियों में भी यशोधर, नागकुमार, करकंडु आदि राजाओं पर कई काव्य लिखे गए हैं। इन सबके अतिरिक्त राम कथा और कृष्ण कथा को भी जैन कवियों ने अपने ढंग से भाषा-बद्ध किया है। पौराणिक गाथाओं की जानकारी के लिए अपभ्रंश में सबसे बड़ा ग्रंथ पुष्पदंत का **महापुराण** अथवा **ति-सट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार** है जिसमें २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ६ बलदेवों, ६ नारायणों और ६ प्रतिनारायणों का जीवन चरित काव्यात्मक ढंग से वर्णित किया गया है। **महापुराण** दो भागों में विभाजित है ; **आदिपुराण** और **उत्तरपुराण**। **आदिपुराण** में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का विस्तृत जीवन चरित ८० संधियों में

वर्णित है और उत्तरपुराण में शेष २३ तीर्थंकरों तथा उनके समकालीन पुरुषों का जीवन-चरित ४२ संधियों में लिखा गया है। उत्तरपुराण का ही एक अंश हरिवंश पुराण है जिसमें कृष्ण की कथा दी हुई है; इसके अतिरिक्त राम-कथा भी उत्तरपुराण का ही एक अंग है। जैनों द्वारा लिखे हुए अपभ्रश के पुराण-साहित्य में हिंदी-साहित्य की दृष्टि से रामकाव्य और कृष्ण-काव्य का परिचय विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अपभ्रंश में राम काव्य के प्रथम कवि स्वयंभू (८वीं शताब्दी ईस्वी) हैं और यही अपभ्रंश के वाल्मीकि भी हैं। स्वयंभू उत्तर के रहने वाले थे, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ दिनों के बाद वे अपने संरक्षक रयडा धनंजय के साथ दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में चले गए।

रामाकाव्य-स्वयंभू

स्वयंभू को काव्य और पाण्डित्य उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। उनके पिता मारुतिदेव भी, उन्हीं के शब्दों में, कवि थे। स्वयंभू के व्यक्तिगत जीवन के विषय में केवल इतना ही मालूम हो सका है कि वे जैन मुनि नहीं बल्कि उपासक-मात्र थे; स्वयं उन्हीं के अनुसार उनके दो पत्नियाँ थीं। काव्य-कला में दक्ष होने के साथ ही स्वयंभू छंदःशास्त्र और व्याकरण में भी निष्णात थे। उनके लिखे हुए चार ग्रंथ बताए जाते हैं।

१. पउम चरिउ (पद्म चरित अथवा रामचरित)
२. रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित या हरिवंश पुराण)
३. पंचमि चरिउ (नागकुमार चरित)
४. स्वयंभू छंद

इन चारों ग्रंथों में जिसके लिए स्वयंभू की ख्याति है, वह है उनका प्रथम काव्य 'पउम चरिउ'[1] अथवा रामायण। पाँच काण्ड और

१. श्री मधुसूदन मोदी ने (अपभ्रंश पाठावली, पृ०) स्वयंभू को चतुर्मुख स्वयंभू लिखा है लेकिन प्रेमी जी (जैन सा० इति० पृ० ३७०-७३), वेलणकर (स्व० छं०, भूमिका पृ० ७१-७४, रा० ए० सो० ज० बम्बई—जिल्द २, १९३५) और हीरालाल जैन ने (नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल दिस० ३५) सप्रमाण चतुर्मुख और स्वयंभू को दो भिन्न भिन्न कवि बतलाया है।

तिरासी संधियों वाला यह विशाल महाकाव्य अपभ्रंश का आदि काव्य है। अपनी 'रामायण' के काण्डों का विभाजन करते समय वाल्मीकि को सामने रखते हुए भी स्वयंभू ने अपनी रुचि से थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया है ; जैसे पहले काण्ड का नाम उन्होंने 'बाल काण्ड' न रखकर 'विद्याधर कांड' रखा है और अरण्य तथा किष्किंधा कांड को एकदम निकाल दिया है ; शेष कांडों के नाम,वाल्मीकिवत् हैं। स्वयंभू की रामायण में रामचरित का वास्तविक आरम्भ अयोध्या कांड से होता है।

अपने महाकाव्य का आरंभ स्वयंभू ने बड़ी ही उदात्त भूमिका के साथ किया है जिसमें कवि के नम्र आत्म-निवेदन के बावजूद उसके अडिग आत्मविश्वास का आभास मिलता है। काव्यारंभ की पुरानी परंपरा का पालन करते हुए आरंभ में स्वयंभू ने पंडितों से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा ; न तो मैं कुछ व्याकरण जानता हूँ और न वृत्ति-सूत्र का व्याख्यान ही कर सकता हूँ ; न मैंने पाँचो महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल-प्रस्तार आदि छंद लक्षण ही जानता हूँ ; भामह दंडी के अलंकारशास्त्र से भी मैं परिचित नहीं हूँ ; फिर भी मैं काव्य-रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।'

लेकिन यह नम्रता कोरी नम्रता अथवा परंपरा-पालन नहीं है। यह सारा कथन उस निर्भीक घोषणा की पृष्ठभूमि है, जिसमें कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं जिन लोगों के लिए अपने काव्य की रचना कर रहा हूँ, उनके लिए इतनी पंडिताई की ज़रूरत नहीं है।

कवि की विशेषता तो देखिये—

सामाण्ण भास छुडु मा विहडउ।
छुडु आगम-जुत्ति किंपि घडउ॥
छुडु होंति सुहासिय-वयणाइ।
गामेल्ल-भास परिहरणाइं॥

वह 'सामान्य भाषा' को छोड़ने में असमर्थ है ; 'गामेल्ल भास' को त्याग कर कुछ आगम-युक्ति गढ़ने में उसे उत्साह नहीं है—और इस

'आगम-युक्ति गढ़ने' में भी कितना व्यंग है। स्वयंभू खेद के साथ कहते हैं कि यदि कोई सज्जन मेरे इस अबुद्धि-प्रदर्शन पर रोष प्रकट करे तो उस खल को 'हत्थुत्थल्लिउ' लेने के सिवा और क्या रास्ता है? कितना सीधा है यह बाँकपन!

स्वयंभू को अपनी रचना साधारण लोगों तक पहुँचानी है और इसके लिए आवश्यक है साधारण लोगों की भाषा का माध्यम। इस महान उद्देश्य के लिए वे सारा व्याकरण, अलंकार-शास्त्र और पिंगलशास्त्र निछावर करने के लिए तैयार हैं। महान उद्देश्य ही कवि को जबर्दस्त आत्म-विश्वास देता है। लोक-सुख में ही स्वयंभू को आत्म-सुख है और इसी आत्म-सुख के लिए उन्होंने अपनी 'रामायण' रची—'पुणु अप्पणउं पायडीन रामायण कावें।'

रामकथा कहते समय स्वयंभू के सामने सदैव यही उद्देश्य रहा। राम के रूप में उन्होंने न तो किसी महान आदर्श चरित्र की सृष्टि की और न उसमें अलौकिकता का कोई इन्द्रजाल खड़ा किया। राम के रूप में उन्होंने किसी राजा के सुख-वैभव का लालस वर्णन करने में भी अपनी शक्ति नहीं लगाई। राम के यथार्थ मानव चरित्र को इस जैन कवि ने जैसा अनुभव किया, वैसा बिना किसी लाव-लपेट के सामने रख दिया, न राम के दोषों पर पर्दा डालना और न गुणों को अत्यधिक उजागर करना। स्वयंभू के राम वाल्मीकि के राम की ही तरह अपनी संपूर्ण मानवीय दुर्बलताओं और मानवीय शक्ति के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। एक ओर यदि वे दैवी विपत्तियों के विरुद्ध पौरुष के प्रतिमान हैं तो दूसरी ओर शक्तिहत लक्ष्मण के मुमूर्ष शरीर पर असहाय साधारण आदमी की तरह विलखने वाले करुणा-विगलित नवनीत हैं। यदि वे कर्म-फल की सीमा में निरंतर कार्यरत रहने वाले कर्मवीर हैं, तो कर्म-शृंखला के बंधन में कराहते हुए जीवन-संध्या बिताने वाले निर्वाणोन्मुख पथिक भी हैं। जो नारी के वियोग में सम्पूर्ण सृष्टि को अपने आँसुओं से गीला कर देता है और समुंदर पार करके रावण जैसे दुर्दमनीय राजा से संघर्ष करता है,

वही पुरुष उसी नारी के शरण में आने पर उसके सतीत्व का उपहास करता है और निष्करुण भाव से उसे अग्नि को सौंप देता है।

स्वयंभू ने राम के चरित्र और व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों का बड़ा ही ओजस्वी चित्रण किया है।

नारी के प्रति पुरुष-मात्र का दृष्टिकोण उस युग में (और आज भी) कैसा था यह 'अग्नि परीक्षा' वाले प्रसंग में राम के व्यवहार द्वारा स्वयंभू ने भली भाँति प्रकट कर दिया है। पुष्पकविमान पर चढ़ाकर सीता कोशल नगरी में लाई जाती हैं। उनके शुभागमन का एक ओर भव्य वातावरण और दूसरी ओर उस वातावरण में राम का ओछा व्यवहार! इस विरोध के द्वारा स्वयंभू ने प्रसंग को अत्यंत मार्मिक और प्रभावशाली बना दिया है। यह है सीता के शुभागमन का वातावरण—

पुप्फ-विमाणे चडिय अणुराएं
परिमिय विज्जाहर-संघाएं
कोसल-णयरि पराइय जावहिं
दिणमणि गउ अत्थ-वणहो तावहिं
जत्थहो पिययमेण णिव्वासिय
तव उववणहो मज्झे आवासिय
कहवि विहाणु भाणु णहे उग्गउ
अहि-मुहु सज्जण-लोउ समागउ
दिण्णइ तरइ मंगलु घोसिउ
पट्टणु णिरवसेसु परिओसिउ
सीय पइट्ठ णिविट्ठ वरासणे
सासण-देवए जं जिण-सासणे

परमेसरि पढम-समागमे झत्ति णिहालिय हल-हरेण।
सिय-पक्खहो दिवसे पहिल्लए चद-लेह णं सायरेण॥

सीता पुष्पक विमान पर चढ़कर अनुराग से आई; विद्याधरों का समूह उन्हें घेरे हुए था। कोशल नगरी में जब वह पहुँची तो दिनमणि

अस्ताचल को जा रहे थे। जो रानी इतने सम्मान से बुलाई गई थी और स्वयं इतने अनुराग से आई थी उसके साथ राजधानी में क्या वर्ताव किया जाता है कि उसे राजमहल में जगह नहीं दी जाती! जगह कहाँ दी जाती है कि राजा के उपवन में! क्यों? क्योंकि वह इस समय प्रियतम द्वारा निर्वासित है। संध्या संधि की वेला कही गई है; दिन भर के थके माँदे शाम को मिलते हैं। लेकिन बारह वर्षों के बाद जब सीता आती हैं तो उन्हें रात भर प्रतीक्षा के लिए बाहर छोड़ दिया जाता है। पति राज-महल में है और पत्नी उपवन में! पुरुष राजसुख भोग रहा है और नारी आसमान के तारे गिन रही है। आखिर विहान होता है; नभ में भानु उगते हैं, 'सज्जन लोग' आते हैं। मंगल घोष करने वाले तूर्य बजाये जाते हैं—(मंगल के लिए उतना नहीं जितना) निरवशेष पट्टन को परितोषित करने के लिए कि हाँ, सीता की अग्नि-परीक्षा होगी।

ऐसे ही समय सीता प्रवेश करती है; वरासन पर बैठती हैं! एक ही उपमा में कवि सीता की संपूर्ण गरिमा और स्थिरता को व्यक्त कर देता है। बैठी हुई सीता ऐसी लग रही हैं जैसे जिनशासन पर शासन देवता। और तब इतने लंबे व्यवधान के बाद इस प्रथम समागम में परमेश्वरी सीता सहसा हलधर (राम) द्वारा देखी जाती हैं! यह दृष्टिपात कैसा है? जैसे सागर सित पक्ष के प्रथम दिन चन्द्रलेखा को देखे! इसके बाद—

कंतहि तणिय कंति पेक्खेप्पिणु
पभणइ पोम णाहु विहसेप्पिणु
"जइ वि कुलग्गयाउ णिरवज्जउ
महिलउ होंति असुद्ध णिलज्जउ
दर - दाविय-कडक्ख - विक्खेवउ
कुडिल-मइउ वड्ढिअ-अवलेवउ
बाहिर-धिट्ठउ गुण-परिहीणउ
किह सय-खंडु न जंति ति हीणउ
णउ गणंति णिय-कुल मइलंतउ

तिहुअणे अयस-पडहु वज्जंतउ
अंगु समोडेवि धिद्धिक्कारहो
वयणु णिएंति केम भत्तारहो।"

कहाँ तो सागर का प्रथमा की चन्द्रलेखा की ओर निहारना—कान्ता की कान्ति को देखना और कहाँ उनका वह विहँसना! और फिर विहँस-कर धिक्कार-भरी ये बातें कहना! 'महिलाएँ अशुद्ध होती हैं, निर्लज्ज होती हैं, मलिनमति होती हैं! बहिर्दृष्टा होने पर टुकड़े टुकड़े हो जाती हैं और इस तरह हीन हो जाती हैं। त्रिभुवन में अपने कुल को मलिन करके अयश फैलाती हैं...भला ऐसी नारी का मुख उसका भतार कैसे देखे!'

पता नहीं इतना कहने से पहले राम ने सीता का वह मुख कैसे देखा था!

अब राम के इस श्याम चरित्र की पृष्ठभूमि में स्वयंभू की सीता का सित चित्र देखिए—

सीय ण भीय सइत्तण-गव्वें
बलेवि पवोल्लिय गग्गर सद्दें
"पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंत वि
खडु लक्कडु सलिल वहंतिहे पउराणियहे कुलग्गयहे।
रयणायरु खार इ देंतउ तो वि ण थक्कइ णं णइहे॥
साणु ण केण वि जणेण गणिज्जइ
गंगा-णइहे तं जि एहाइज्जइ
ससि स-कलंकु तहि जि पह णिम्मल
कालउ मेहु तहि जि तडि उज्जल
उवलु अ-पुज्जु ण केण वि छिप्पइ
तहि पडिम चंदणेण कि लिप्पइ
घुज्जइ पाउ पंकु जइ लग्गइ
कमल माल पुण जिणहो वलग्गइ

दीवउ होइ सहावें कालउ
वट्टि-सिहए मंडिज्जइ आलउ
णर-णारिहिं एवड्डउ अंतरु
मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु
एह पइ कवण बोल्ल पारंभिय
सइ-वडाय मइ अज्जु समुब्भिय
तुहु पेक्खंतउ अच्छु विसत्थउ
डहउ जलणु जइ डहिवि समत्थउ

किं किज्जइ अण्णइं दिव्वें जेण विसुज्झहो महु मणहो ।
जिह कणय-लोलि डाहुत्तर अच्छमि मज्झे हुआसहणहो ।

राम की वैसी मलिन वाणी सुनकर भी सीता संयत रहीं। उनके मन में तनिक भी भय न आया। सतीत्व के गर्व से उन्होंने सिर ऊँचा रखा और अपने पहले ही वाक्य से राम को बेध दिया "पुरुष गुणवान होकर भी निहीन होते हैं! मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते। वे उस रत्नाकार की तरह हैं जो क्षार देकर भी नदियों से नहीं विरमता।" आगे नर नारी का अंतर बतलाते हुए सीता कहती हैं कि दोनों में इतना ही अंतर है कि मरने पर भी वल्ली तरुवर को नहीं छोड़ती !

अंत में सीता कहती हैं कि तुम्हारे मुख से ऐसा शब्द कैसे निकला! आज मैं सतीत्व की पताका फहराऊँगी। तुम विश्वस्त होकर देखते रहो, आग यदि समर्थ हो तो मुझे जलाए! जब मेरा मन विशुद्ध है तो इस दिव्य शक्ति का किया क्या होगा ?"

स्वयंभू की सीता के ये वाक्य वाल्मीकि की सीता की याद दिला देते है। इतना हो जाने पर कवि का विशेष दृष्टिकोण उभर आता है और ऐसी महिमामयी नारी को कर्म-फल-विश्वासी जैन कवि नीचे उतार कर रख देता है। आग से तपकर असली सीता तो शायद खरे सोने की तरह और भी कान्तिमयी होकर निकली होंगी, लेकिन स्वयंभू की सीता कर्म-फल की विभूति रमाए बाहर आईं। खेद है कि जिस स्वर्ण-प्रतिभा को कवि

ने इतने परिश्रम से गढ़कर तैयार किया उसे अपने ही हाथों जलाकर क्षार कर दिया ! कवि को क्या पता कि उसकी सृष्टि अग्नि-प्रवेश से पहले जितनी ही तेजोमयी थी, उससे निकलने के बाद उतनी ही म्लान भस्मावृत चिनगारी मात्र रह गई !

राघव ने क्षमायाचना कर ली और भारतीयता की मूर्ति किंतु परित्यक्त स्नेहशीला सीता देवी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—

"आहो राहव मं जाहि विसायहो
णवि तउ दोस ण जण-संघायहो
भव-भव- सएहिं विणासिय-धम्महो
सव्वु दोसु इव दुक्किय-कम्महो।"

न तुम्हारा दोष है न जनसमूह का। दोष तो दुष्कृतकर्म का है ! और इस दोष से मुक्त होने का एक मात्र उपाय यही है कि ऐसा किया जाय जिससे फिर स्त्री-योनि में जन्म न लेना पड़े।

"एमहि तिह करोमि पुणु रहुवइ
जिह ण होमि पडिवारैं तिय मइ।"

बावजूद कर्मफल दर्शन के, इस कथन में नारी-हृदय की कितनी बड़ी वेदना छिपी हुई है ! नारी पर पुरुषों के अत्याचार की इतनी मार्मिक अनुभूति और क्या हो सकती है !

यहीं से जैन कवि के जीवन-दर्शन का शासन स्वीकार कर सीता जिन धर्म में दीक्षित हो जाती हैं। स्वयंभू की रामायण का पर्यवसान इसी शम भाव में होता है। यहीं 'पउमचरिउ' की ८३वीं संधि समाप्ति होती है।

ऐसी वास्तविक मानव मूर्तियाँ गढ़ने में वही कवि सफल होता है जिसे मानव मन के भावों और विकारों की सच्ची परख हो। स्वयंभू ऐसे ही संवेदनशील कवि थे जिन्हें विविध परिस्थितियों में पड़े हुए मनुष्य की मानसिक उथल-पुथल को पहचानने और फिर उसे पूरे भावावेश के साथ शब्दों में उतार देने की अद्भुत सिद्धि प्राप्त थी। राम की करुण-कथा में ऐसे अनेक मार्मिक प्रसंग आते हैं जहाँ चरित्रों के साथ स्वयं कवि का

और फिर कवि के साथ पाठकों का हृदय सीमा तोड़कर बह चलता है। आहत लक्ष्मण के लिए भरत का विलाप एक ऐसा ही मार्मिक प्रसंग है। ऐसे अवसर पर राम का विलाप तो बहुतों ने व्यक्त किया है, लेकिन भरत के हृदय की दशा भी काव्य का विषय हो सकती है—इसकी ओर स्वयंभू ने ध्यान दिया है। यह वही भरत हैं जो राम से वन में मिलने के लिए आ रहे थे तो लक्ष्मण ने उन्हें शंकाकुल दृष्टि से देखा था और फिर उनसे लड़ने के लिए पूरी तैयारी की थी। ऐसे ही बंधु के लिए भरत इस प्रकार विलाप करते हैं—

लब्भइ रयणायरे रयण-खाणि
लब्भइ कोइल-कुले महुर वाणि
लब्भइ चंदणु-सिरि मलय-सिंगे
लब्भइ सुवण्णु जुवइ-अंगे
लब्भइ धणु-वणए धरा पवरणु
लब्भइ कंचणे परवए सवएणु
लब्भइ पेसेण सामिए पसाउ
लब्भइ किए-विणए जणाणुराउ
लब्भइ सज्जणे गुण-दाणे कित्ति
सिय असिवरे गुरु-उले परम तित्ति
लब्भइ वासियरणे कलत्त-रयणु
महकव्वे सुहासिउ सुकइ-वयणु
लब्भइ उवयार-मइहि सुमित्त
मद्दवे हि विलासिणि चारु चित्त
लब्भइ परतीरि महग्घु भंडु
वरवेणु-मूले वेलुज्ज-खंडु

राय-मोत्तिउ सिंघलदीवे मणि, वइरागरहो वज्ज पवरु।
आयइ सव्वइ लब्भंति जइ, णवर ण लब्भइ भाइवरु॥

संसार में तमाम चीजें मिल सकती हैं लेकिन भाई नहीं मिल सकता!

लक्ष्मण के गिर पड़ने पर भरत कहते हैं—'महु णिवडिऊसि दाहिणउ पाणि !' अर्थात् मेरी तो दाहिनी भुजा ही टूट गई।

आदि कवि वाल्मीकि की ही भाँति स्वयंभू भी जीवन के करुण प्रसंगों के सच्चे पारखी थे। राम के 'वनगमन' का प्रसंग ऐसा ही मार्मिक है, जिसका वर्णन सभी कवियों ने अपने-अपने ढंग से किया है; किन्तु स्वयंभू ने उसमें अनूठी मार्मिकता का परिचय दिया है, पुत्र-वियोग के समय माता का विलाप स्वयंभू के शब्दों में सुनिए—

हा हा काइँ वुत्तु पइँ हलहर, दसरह-वंस-दीव जग सुन्दर।
पइँ विणु को पल्लंके सुवेसइ, पइँ विणु को अत्थाणे वईसइ।
पइँ विणुको हय-गयहुँ चडेसइ, पइँ विणु को भिन्दुएण रमेसइ।
पइँ विणु रायलच्छि को माणइ, पइँ विणु को तम्बोलु समाणइ।
पइँ विणु को पर-वलु भुंजेसइ, पइँ विणु को मइ साहारेसइ।

—(२।२३।४)

जननी सोचती है कि राम जब वन चले जायँगे तो उनको पलँग सूनी हो जायगी, अर्थात् उदास हो जायगी, हाथी-घोड़े पड़े रहेंगे, लगाया हुआ पान धरा रह जायगा, राज-लक्ष्मी अनाथ हो जायगी। राम के न रहने पर भी ये वस्तु रह जायँगी। इनमें से एक-एक को देखकर राम की याद आएगी। ऐसी दशा में इन वस्तुओं को वे किस प्रकार देखेंगी और देखकर भी हृदय धारण कैसे करेंगी ? इन सीधी-सादी बातों में कितनी गूढ़ गंभीर अनुभूति है ! स्वयभूं की इन पंक्तियों में लोक-गीत का सहज रस है।

वन-गमन की करुण प्रसंग-शृंखला की पराकाष्ठा वह है जब महलों में रहने वाली राजवधू जानकी घर से बाहर चरण रखती हैं। उस समय स्वयंभू की कल्पना कितनी ऊँची उड़ान भरती है—यह देखने योग्य है। जानकी अपने मंदिर से क्या निकलीं, मानो हिमवान से गंगा निकल पड़ी, छंदस् से गायत्री निकल पड़ी, शब्द से विभक्ति निकल पड़ी·········

णिय मन्दिरहो विणिग्गय जाणइ।
णं हिमवन्तहो गंग महाणइ॥

णं छन्दहो विभाय गायत्ती।
णं सद्दहो णीसरिय विहत्ती ॥
—(२।२३।६)

भरत सा ही करुण विलाप रावण की मृत्यु पर विभीषण का भी है। अपने भाई को छोड़कर जो विभीषण राम से मिल गया, उसके हृदय में रावण की मृत्यु के बाद आत्म ग्लानि, क्षोभ, पश्चाताप, आदि कितने प्रकार के भाव उठे होंगे। कवियों ने प्रायः विभीषण के उस हृदय की ओर ध्यान नहीं दिया है, और स्वयंभू ने ऐसे ही समय विभीषण को अपनी कवि-सुलभ सहानुभूति दी है। 'मूर्छित-जैसे पड़े हुए रावण को विभीषण जब निहारता है तो अपने को पीटता है और फिर रावण के चरण पकड़कर रोता है—

"हा भायर, दुण्णिद्दए मुत्तउ
सिज्जे मुएवि किं महियले सुत्तउ
किं अवहेरि करेवि थिउ, सीसे चडाविय चलण तुम्हारा
अच्छमि सुट्ठुम्माहियउ, हिअउ फुट्ट आलिंगि भडारा ॥

अर्थात् हे भाई, यह दुर्निद्रा छोड़ो। सेज छोड़कर ज़मीन पर क्यों सोए हो? हमारी अवहेलना क्यों कर रहे हो? यह लो मैं अपने सीस पर तुम्हारा चरण रख रहा हूँ। हे भट्टारक, तुम्हारे आलिंगन से अथवा आलिंगन के लिए हृदय फूट रहा है, चित्त उन्मथित हो रहा है।

और इसके बाद विभीषण कहता है कि यह तुम्हारा मरण अकेले एक व्यक्ति का मरण नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक बड़ी चीज़ है—

'तुहु ण जिऊसि सयलु जिउ तिहुयणु
तुहु ण मुऊसि मुयउ वंदिजणु
तुहु पडिऊसि ण, पडिउ पुरंदरु
मउडु ण भग्गु, भग्गु गिरि कंदरु
दिट्ठि ण णट्ठ, णट्ठ लंकाउरि
वयण ण णट्ठ, णट्ठ मंदोयरि

हारु ण तुट्टु, तुट्टु तारायणु
हियय ण भिण्णु, भिण्णु गयणंगणु
चक्कु ण ढक्कु, ढक्कु एक्कंतरु
आउ ण खुट्टु, खुट्टु रयणायरु
जीउ ण गउ, गउ आसा पोट्टल
तुट्ट ण सुत्तु, सुत्तउ महिमंडल
सीय ण आणिय, आणिय जमउरि
हरि-वल कुद्ध कुद्ध णं केसरि।'

इस विलाप में दिवंगत का विश्वव्यापी प्रभाव ही नहीं प्रकट होता, बल्कि विलाप करने वाले भाई के हृदय का ममत्व भी झलक रहा है। मरा हुआ व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली होता है, उसके लिए किया गया विलाप भी उतना ही मार्मिक होता है। उसके शक्ति-शौर्य, प्रताप-वैभव, गुण-धर्म से मिलती-जुलती एक-एक चीज को देख कर हृदय भर आता है। रावण धरती पर पड़ा हुआ है; उसका मुकुट एक ओर लुढ़क गया है; दृष्टि नष्ट हो गई है; हार टूट कर विखर गया है; हृदय विदीर्ण है; मुँह से शब्द नहीं निकलते। इन सभी चीजों को एक एक करके विभीषण देखता है और उसे लगता है कि यह रावण का मुकुट भग्न नहीं हुआ है, गिरि-कंदर भग्न हुआ है! यह दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, स्वयं लंकापुरी नष्ट हुई है! यह वचन नष्ट नहीं हुआ है, इस वचन को पान करने वाली मंदोदरी नष्ट हुई है! यह जो टूटकर विखर गया है वह केवल मोतियों का हार नहीं है, आकास के सभी तारे हैं और आह, यह भिदा हुआ विशाल हृदय! यह रावण का हृदय नहीं, विश्वव्यापी आकाश है!

और इन सबके भीतर से वह जीव उड़ गया है; लेकिन वह जीव मात्र नहीं है उसके साथ तो आशा की पोटली ही चली गई—एक-दो आशा नहीं, आशाओं की पोटली; उसके साथ बहुतों की आशाएँ चली गई। ऐसे ही विलाप के बीच है वह अद्भुत उपमा। तुम्हारी यह आयु

नहीं खत्म हुई है, कभी न घटने वाला रत्नाकर समुद्र ही खत्म हो गया है ! कहाँ आयु जैसी सूक्ष्म वस्तु और कहाँ समुद्र जैसी मूर्त उपमा ! आकार की समता नहीं है, समता है उस गुण की—क्षय होने की ! और आयु समाप्त होने के लिए कितना जीवत मुहावरा प्रयुक्त हुआ है 'आयु ण खुट्टइ' ! लोक बोली के पारखी तुलसी ने भी जनता के कंठ से इस प्रयोग को सुना था और 'आयु खुटानी' जैसा प्रयोग स्वयं भी किया।

यह सम्पूर्ण कथन कोरी अलंकार-योजना नहीं है, यह हृदय का सहज प्रवाह है जिसमें न जाने कितने अलंकार अपने आप बह आते हैं और इस तरह लहरों में पिरोए हुए बहते रहते हैं कि विविक्त करना कठिन होता है। यदि स्वयंभू की अलंकार-योजना ही देखनी हो तो उनकी उपमाओं की एकावली अन्यत्र देखिए। वे एक दो उपमा देकर तृप्त नहीं होते—पाठक के गले यदि उपमाओं की एक माला न पहना दी तो वह स्वयंभू क्या ? उपमाएँ भी सभी तरह की। परंपराभुक्त रूढ़ उपमाएँ और एक-से-एक नई उपमाएँ !

गोदावरी का वर्णन करते हुए स्वयंभू कहते हैं—

फेणावलि बंकिय-वलयालंकिय, णं महि बहुअहे तणिया।
जल-णिहि भत्तारहो मोत्तिय-हारहो बाह पसारिय दाहिणिया॥

गोदावरी क्या है मानो वधू वसुधा की दाहिनी बाँह है जो बंकिम फेनावालियों के वलय से अलंकृत है और जिसे वसुधा ने मोतियों के हार से सुशोभित अपने प्रिय पति जलनिधि की ओर फैला दिया है !

इसी प्रकार वृक्षराजि की उपमा वे कुलवधू वसुधा की रोमराजि से देते हैं—

कत्थवि णाणा-विह रुक्ख-राइँ
णं महि-कुल- वहुअहिं रोम-राइँ

उपमाएँ केवल उपमा के लिए नहीं दी गई हैं, कभी-कभी उनके द्वारा सामान्य मानव जीवन की ओर मार्मिक संकेत भी किया गया है।

समुद्र का वर्णन करते करते स्वयंभू जब उसके आलाप पर पहुँचते हैं तो धीरे से कहते हैं—'णिद्धण आलाउ' व अप्पमाणु !'

कवियों को समुन्दर से दूर रहने पर भी अक्सर उसका गर्जन ही सुनाई पड़ता है, लेकिन स्वयंभू को समुद्र का शोर-गुल निर्धन व्यक्ति के कथन की तरह अप्रमाण दिखाई पड़ता है ! समुद्र के शोर का क्या प्रमाण है ? कौन सुनने वाला है उसे ! और जब सुनने वाला कोई नहीं है तो फिर वह शोर चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, उसका प्रमाण ही क्या ! वह अपना रोना रोया करे ! क्षोभ से गरजा करे ! लेकिन रत्नाकार समुद्र को निर्धन से उपमित करना भी कितना सांकेतिक है ! निर्धन भी वस्तुतः रत्नाकार ही होता है, लेकिन उसके सभी रत्न तल में पड़े हुए हैं !

समद्र की गहराई को देखकर स्वयंभू को महाकाव्य की गहराई याद आती है। वे कहते हैं कि समुद्र 'महकव्व-णिबंधु' व सद्द-गहिरु।'

ऐसे ही महाकवि के महाकाव्य को देखकर समुद्र की गहराई याद आती है ! ऐसी उपमा आकस्मिक नहीं है। महाकाव्य की व्यापकता और गहराई के विषय में स्वयंभू इतने सतर्क थे कि अक्सर ऐसी प्राकृतिक वस्तुओं से महाकाव्य की उपमा देते हैं। पावस-प्रसंग में मेघ-जाल को को फैलते देखकर उन्हें तुरंत सुकवि के काव्य की याद आ जाती है।

पसरइ सुकइहि कव्व जिह, मेह-जाल गयणंगणे तावेहिं।

इतनी व्यापकता और गहराई ऐसे ही कवि में आती है जो मानव-जीवन के साथ ही प्रकृति के बीच भी रमा हो। मानव प्राकृति के चित्रकार स्वयंभू की तूलिका से एक जनपद की प्राकृतिक शोभा का भी चित्रण देखिए। मगध देश का कितना सीधा-सादा चित्र है—

जहिँ पक्क-कलम-कमलिणि णिसण्णु
अलहंत तरणि थेरव विसण्णु
जहिं सुय-पंतिउ सुपरिट्ठियाउ
णं वणसिरि - मरगय - कंठियाउ
जहिं उच्छु-वणइ पवणाहयाइँ

कंपंति'व पीलणभय-गयाइं
जहिँ णंदण-वणइँ मणोहराइँ
णाचति'व चल-पल्लव-कराइँ
जहिं फाडिम-वयणइँ दाड़िमाइँ
णच्चंति ताइ णं कइ-मुहाइँ
जाहिं महुयर-पंतिउ सुंदराउ
केअइ - केसर - रय - धूसराउ
जहिं दक्खा - मंडव परियलंति
पुणु पंथिय रस-सलिलइँ पियंति ।

इस चित्र की यथार्थता देखने योग्य है। ऐसे-ऐसे सूक्ष्म द्रष्टा कवि होते हैं कि गाँवों में भी उन्हें कमलों की बहार दिखाई पड़ती है! कहा भी तो है: जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि। इसको सार्थक करने के लिए जरूरी है कि जहाँ रवि को भी कमल न दिखाई पड़े, वहाँ कवि देख ले। लेकिन स्वयंभू के लिए पके धान की कलमें ही कमल हैं। और ये कलम के कमल भी सूर्य को न पा सकने के कारण विषण्ण हैं। यह मगध देश ऐसा है जिसमें वनश्री की मरकंत-कंटी की तरह शुक-पंक्ति है, जहाँ हवा के झोंकों में भयभीत गज की भाँति काँपते हुए ईख के वन हैं; जहाँ वानरों के मुख की तरह कटे हुए लाल लाल दाड़िम हैं और द्राक्षा के मंडप लहराते रहते हैं। देश की संपन्नता का यह हाल है कि पथिक रस ही पीते हैं।

हनुमान जब लंका से अयोध्या की ओर जाते हैं तो उनके दृष्टि-पथ में अनेक देश और अनेक नदियाँ पड़ती हैं। स्वयंभू ने इनमें से एक एक पर विहंगम दृष्टि डाली है और दो तीन रेखाओं में उनकी सारी विशेषताएँ आँक दी हैं। कावेरी प्रदेश के चित्र की एक रेखा देखिए—

जहि इंदणील-कर-भिजमाणु
ससि थाइ जुण्ण-दप्पणु समाणु

यह वह प्रदेश है जहाँ इन्द्रनील का आधिक्य है। इसे व्यंजित करने

के लिए कहा गया है कि वहाँ इन्द्रनील की किरणों से भिदकर चन्द्रमा जीर्ण दर्पण के समान हो गया है।

स्वयंभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जल-क्रीड़ा से लेकर युद्ध क्षेत्र तक, जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं, भावों के जानकार हैं, चिन्तन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर नहीं दिखाई पड़ा। अलंकृत भाषा तो बहुतों ने लिखी लेकिन ऐसी प्रवाहमयी और लोक-प्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गई। स्वयंभू सचमुच ही अपभ्रंश के वाल्मीकि हैं; परवर्ती अपभ्रंश कवियों ने उन्हें वैसी ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।

त्रिभुवन

राम काव्य की जो परंपरा स्वयंभू ने चलाई, उसे उनके सबसे छोटे पुत्र त्रिभुवन ने आगे बढ़ाया। त्रिभुवन भी अपने पिता की ही भाँति परम पंडित तथा कवि थे। उन्होंने स्वतंत्र रूप से कोई पुस्तक न लिखकर पिता के काव्य-ग्रन्थ में ही परिवर्धन किया। पिता ने जिस 'पउम चरिउ' को ८३ संधि तक लिखकर छोड़ दिया था, उसमें त्रिभुवन ने सात संधियाँ और जोड़कर उसे ९० संधियों तक पहुँचा दिया। कथानक और चरित्र की दृष्टि से स्वयंभू ने 'पउम चरिउ' को चरमोत्कर्ष पर ही ले जाकर छोड़ा था, लेकिन त्रिभुवन को उसमें कुछ कमी दिखाई पड़ी। कमी यह थी कि राम-कथा की परिसमाप्ति अच्छी तरह जैन मत के अनुसार नहीं हो सकी थी—राम जिनधर्म में दीक्षित नहीं हो सके थे, उनका परिनिर्वाण शेष था, उन्हें जिनधर्म के विविध उपदेश सुनने को नहीं मिले थे, कुछ उपदेशमूलक इतर कथाएँ रह गई थीं और जन्म-जन्मान्तरों की चर्चा बाकी थी। योग्य पुत्र ने इन सबको अच्छी तरह उसमें खपाया। इतना ही नहीं, उनके कथन से मालूम होता है कि उन्होंने पिता के 'महाकाव्य' के बीच-बीच में भी कुछ कड़वक जोड़े हैं। इस तरह वर्तमान

'पउम चरिउ' स्वयंभू और त्रिभुवन दोनों ही की सम्मिलित कृति है, जिसमें निस्सन्देह गुण और मात्रा दोनों दृष्टियों से अधिकांश स्वयंभू का है। ध्यान से देखने पर पिता और पुत्र दोनों की रचनाओं का अतर स्पष्ट हो जाता है। भावों का उच्छल आवेग, चित्रण की सादगी, और भाषा का लोकप्रचलित प्रवाह जो पिता की रचना में है, वह पुत्र की कृति में कहाँ! पंडिताई पुत्र में जरूर अधिक है। श्री मोदी ने 'अपभ्रंश पाठावली' में ८३वीं संधि का 'सीय दिव्व-कहाणउ' त्रिभुवन स्वयंभू के ही नाम से दिया है, लेकिन सभी दृष्टियों से वह स्वयंभू की रचना प्रतीत होती है।

इतना होते हुए भी त्रिभुवन की यह गर्वोक्ति यथार्थ है कि—

''तिहुवणं जइ वि ण होंतु णंदणो सिरि-सयभु-एवस्स
कव्वं कुल-कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ।

निःसंदेह बाण-पुत्र की तरह स्वयंभु-पुत्र त्रिभुवन ने भी अपने पिता के अधूरे काम को पूरा करने के साथ ही उसे सुरक्षित भी रखा।

काल-क्रम से अपभ्रंश साहित्य में राम काव्य के दूसरे अथवा तीसरे महाकवि पुष्पदंत (१० वीं शताब्दी ईस्वी) हुए। इन्होंने उत्तर पुराण की ग्यारह संधियों (६६—७६) में रामकथा का वर्णन किया है। पुष्पदंत ने रामकथा आरंभ करने से पहले उसकी जो परंपरा उद्धृत की है, उससे मालूम होता है कि उन्हें स्वयंभू के काव्य का परिचय था। उन्होंने स्वयंभू का नाम बड़े आदर से लिया है। स्वयंभू के विपरीत पुष्पदंत ने अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में विशेष प्रकाश डाला है। महापुराण की उत्थानिका और उसके अंत से उनके बारे में जो कुछ मालूम होता है, उसका सरांश यह है कि वे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे; जन्म-स्थान उनका संभवतः बरार में कहीं था। कुछ कारणों से ये जीवन के आरंभ में उत्तर अर्काट ज़िले के मेलाड़ि या मेलपाटी उद्यान में रहे और फिर वहीं महामात्य भरत से परिचय होने के बाद उनके साथ राष्ट्रकूट-राजधानी मलखेड़ (मान्यखेट) चले आए। जीवन के अंतिम दिनों तक पुष्पदंत मलखेड ही रहे। महामात्य भरत

पुष्पदंत

के मर जाने के बाद उन्हें भरत के सुयोग्य पुत्र नन्न का आश्रय प्राप्त हुआ। पुष्पदंत शुरू में शैव थे लेकिन अंत में जैन हो गए। स्वयं कवि के ही विवरण से पता चलता है कि उनकी अनेक उपाधियाँ तथा उपनाम थे—इनमें से एक 'अभिमानमेरु' भी थी। बड़े गर्व से उन्होंने अपने को 'अभिमानमेरु' कहा है। निःसन्देह स्वभाव से वे बड़े ही अक्खड़ और स्पष्टवादी प्रतीत होते हैं। जिन दिनों वे मेलपाटी के उद्यान में थे, दो राजपुरुष उनके पास आए, उन्होंने कवि से विशाल पुरी छोड़कर निर्जन वनांत में रहने का कारण पूछा। इसके उत्तर में अभिमान-मेरु कहते हैं—

चमराणिल उड्डाविय-गुणाइ
अहिसेय-धोय सुयणत्तणाइ
अविवेयइ दप्पुत्तालियाइ
मोहंधइ मारण सीलियाइ
विससह जम्मइ जउ रत्तियाइ
किं लच्छिइ विउस विरत्तियाइ
सपइ जणु णीरस-णिव्विसेसु
गुणवंतउ जहिं सुरगुरु' वि वेसु
तहिं अम्हइ काणणु जि सरणु
अहिमाणे सहुँ व वरि होउ मरणु।

राज-दरबार में कोई भला आदमी कैसे रहे? चँवर की हवा से वहाँ सभी गुण उड़ जाते हैं; अभिषेक-जल सारी सज्जनता को ही धोकर बहा देता है·········इसी तरह की और भी विवेक-विरोधी बातें हैं जिन्हें देखकर वन में रहना ही अच्छा है क्योंकि उस विषाक्त वातावरण से तो कहीं अच्छा अभिमान सहित मरण है।

पुष्पदंत की इस स्पष्टवादिता ने भरत मंत्री को आकृष्ट किया; उन्होंने विघटित प्रतिभा को अपने संरक्षण में लेकर रचनात्मक कार्य की ओर लगाया।

'महापुराण' में राम की कथा पूर्वापर संबंध से सर्वथा मुक्त एक

स्वतंत्र काव्य-खंड की तरह दिखाई पड़ती है। कथा के पीछे जो उद्देश्य है उसमें स्पष्टतः ब्राह्मण-परंपरा की राम-कथा के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव है। साफ़ शब्दों में पुष्पदंत कहते हैं कि वाल्मीकि और व्यास के वचनों ने सबको प्रवंचित कर रखा है और इनके अतिरिक्त कुमार्ग के कूएँ में पड़े हुए अन्य व्यक्तियों ने भी इसी तरह का भ्रम फैलाने में योग दिया है। इन्हीं भ्रमों को दूर करने के लिए गोतम राम की कथा कहते हैं। पौराणिक शैली के अनुसार यह राम कथा वक्ता-श्रोता के प्रश्नोत्तर के रूप में कही गई है। श्रेणिक गोतम के सामने ये शंकाएँ रखते हैं कि दशमुख दशमुखों के साथ कैसे पैदा हुआ? उसका पुत्र उसके जन्म से बड़ा क्यों था? वह राक्षस था या मानुस? क्या सचमुच उसके बीस हाथ और बीस आँखें थीं? क्या उसने अपने शिरों से शिव की अर्चना की थी? क्या वह राम के शर से मारा गया था? क्या लक्ष्मण के हाथ लंबे और स्थिर थे? सुग्रीव आदि क्या वानर थे? क्या वे नर नहीं थे? क्या विभीषण आज भी जीवित है? क्या कुंभकर्ण छह महीने की घोर निद्रा में सोता था और सहस महिष खाता था? यह सब सच है या लोग ही असत्य कहते हैं?

इन्हीं शंकाओं की पृष्ठभूमि पर जैन कवि पुष्पदंत अपनी राम कथा कहते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसा शंकाशील मन इस तरह की अलौकिक बातों को भरसक बचाए। इसके अतिरिक्त और भी अनेक बातें हैं जिनमें पुष्पदंत की राम कथा व्यास-वाल्मीकि की रामकथा से भिन्न है।

१. अन्य राजकुमारों की तरह राम और लक्ष्मण भी थे; यहाँ तक कि अपने पूर्व जन्मों में वे भी साधारण आदमियों की ही तरह बुरा भला काम करने वाले थे; जैसे पूर्व जन्म में लक्ष्मण ने एक वणिक की स्त्री का अपहरण किया था। दशरथ के यहाँ जन्म लेने से पूर्व उनके दो जन्म और हो चुके थे। दूसरे जन्म की तपस्या के फल स्वरूप ही उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ और फिर दशरथ के घर जन्म हुआ।
२. राम की माता का नाम कौशल्या नहीं, सुबला था। इसी तरह लक्ष्मण

सुमित्रा के नहीं बल्कि कैकेयी के पुत्र थे; इससे राम-वन-गमन का प्रसंग ही बदल गया।

३. राम-लक्ष्मण का जन्म अयोध्या में नहीं, काशी में हुआ था क्योंकि दशरथ पहले काशी के ही राजा था, अयोध्या तो वे पीछे गए।

४. राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ जनक का यज्ञ देखने स्वयं नहीं गए बल्कि अपने यज्ञ की रक्षा के लिए जनक ने ही उन्हें बुलवाया था।

५. सीता के अतिरिक्त राम के सात पत्नियाँ और थीं।

६. सीता जनक-तनया नहीं, बल्कि मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न रावण की पुत्री थीं और उन्हें अनिष्टकर समझ कर रावण ने मंजूषा में रखकर मिथिला में फेंक दिया था, जहाँ एक किसान को वे मिलीं और किसान ने उन्हें जनक को भेंट किया।

७. सीता का अपहरण रावण ने नारद के उत्तेजित करने पर किया, न कि किसी पूर्व वैर-वश अथवा शूर्पणखा के अपमान का बदला लेने के लिए।

८. सीता-हरण पंचवटी में नहीं, वाराणसी के समीपवर्त्ती किसी वन में हुआ।

९. वानर आदि वस्तुतः विद्याधर थे और राम की सहायता के लिए उन्होंने यह रूप धारण किया था।

१०. हनुमान रुद्र के नहीं, बल्कि कामदेव के अवतार थे और लंका में वे मसक-रूप धारण करके नहीं गए थे, भ्रमर रूप धारण करके गए थे।

११. हनुमान सीता का पता नहीं लगा सके।

१२. बालि को राम ने नहीं, लक्ष्मण ने मारा और इसी तरह रावण को भी उन्होंने ही मारा।

१३. दशरथ की मृत्यु राम के लंका से लौटने के बाद होती है।

१४. लक्ष्मण की मृत्यु रोग से होती है और उनके मरने पर राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीचन्द्र को राज्य देकर स्वयं वैराग्य ले लेते हैं।

१५. भरत और शत्रुघ्न की कथा प्रायः उपेक्षित रह गई है।
१६. राम श्याम-वर्ण के नहीं, बल्कि पद्म-वर्ण हैं, श्यामवर्ण तो लक्ष्मण हैं।

ब्राह्मण परम्परा की राम कथा से जैन राम-कथा की इस विभिन्नता का कारण कुछ तो सोद्देश्य है लेकिन कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे रामकथा की एक दूसरी परम्परा का आभास मिलता है, उनके पीछे जानबूझ कर विकृति लाने का कोई उद्देश्य नहीं प्रतीत होता।

कथा-प्रवाह में आनेवाले मार्मिक प्रसंगों पर थोड़ी देर के लिए रुक कर पुष्पदंत ने वर्णन को विस्तार दे दिया है; फिर भी ग्यारह संधियों में इस तरह के वर्णन-विस्तार की गुंजाइश हो कहाँ है! फलतः पुष्पदंत तेजी के साथ कथा प्रवाह के पीछे भागते चलते हैं। वैसे तो सफल कवि जहाँ भी हाथ लगाएगा, कुछ न कुछ कर ही दिखाएगा, लेकिन सचाई यह है कि पुष्पदंत का मन रामकथा में उतना नहीं रमा है, उनकी काव्य-प्रतिभा का जौहर अन्यत्र दिखाई पड़ता है।

स्वयंभू और पुष्पदंत द्वारा वर्णित राम-कथाओं का विश्लेषण करने से पता चलता है कि दोनों में कुछ अंतर है। पुष्पदंत में ब्राह्मणत्व-विरोधी तत्व जितने अधिक हैं, स्वयंभू में उतने नहीं हैं। स्वयंभू से पहले राम-कथा को काव्य का रूप देने वाले दो जैन कवि हो चुके थे। एक थे विमल सूरि जिन्होंने पहली शताब्दी के आसपास प्राकृत में 'पउम चरिउ' की रचना की, दूसरे रविषेण थे जिन्होंने सातवीं शताब्दी में संस्कृत 'पद्म चरित' लिखा। स्वयंभू ने राम-कथा के विषय में विमल सूरि और रविषेण का पूरा अनुसरण करते हुए भी कई स्थलों पर ब्राह्मणत्व-विरोधी बातों को या तो एकदम छोड़ दिया है या दो चार पंक्तियों में चलता किया है अथवा उनका वर्णन अन्यमनस्क भाव से किया है। जैसे; ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति का प्रसंग स्वयंभू ने एकदम छोड़ दिया है; हरिषेण-उपाख्यान में, जहाँ ब्रह्मरथ और जिन-रथ सम्बन्धी विवाद है और उसमें जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म से श्रेष्ठ कहा गया है, स्वयंभू ने संकेत भर करके रहने दिया है;

और मरुत्त यज्ञ-विध्वंस प्रकरण का वर्णन उन्होंने बेमन से किया है।[1]

इसका मुख्य कारण यही मालूम होता है कि स्वयंभू में धार्मिक कट्टरता नहीं थी। जैसा कि खोज से पता चला है,स्वयंभू न तो दिगम्बर थे और न श्वेताम्बर बल्कि वे अति प्राचीन 'यापनीय संघ' के अनुयायी थे। यह संघ उदार विचारों का था। इस तरह धार्मिक मतभेद से कथा में भेद आ जाना स्वाभाविक है। लेकिन स्वयंभू और पुष्पदंत की राम-कथाओं में कुछ ऐसी भेदक बातें दिखाई पड़ती हैं जिनसे दो भिन्न परंपराओं का अनुमान होता है। पुष्पदंत ने विमल सूरि, रविषेण, स्वयंभू द्वारा वर्णित राम-कथा के रहते हुए भी इन सबको छोड़कर श्वेताम्बर मतावलंबी कवि गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' में वर्णित रामकथा का अनुसरण किया है। इसे देखकर प्रेमी जी ने अनुमान लगाया है कि ये कवि राम-कथा की दो भिन्न परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।[2]

इतना होते हुए भी जैन कवियों की इस रामकथा में ब्राह्मण-परंपरा की रामकथा से भिन्न कुछ उभयनिष्ठ बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इन्होंने अतिमानवीय प्रसंगों को बुद्धिसंगत और मानवीय रूप देने की चेष्टा की है जैसे गंगा-उत्पत्ति, वानरों की उत्पत्ति, रावण का दशानन होना आदि। इसी तरह रावण के चरित्र को जैन कवियों ने अधिक पराक्रम-युक्त दिखाया है और शूर्पणखा का चरित्र अपेक्षाकृत उज्ज्वल चित्रित किया है यहाँ तक कि स्वयंभू ने उसका नाम 'चन्द्रनखी' दिया है।

अपभ्रंश में रामकथा की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले और भी कवि हुए होंगे लेकिन जिनकी रचना का उल्लेख मिलता है, वे पन्द्रहवीं शताब्दी के रइधू कवि हैं। इन्होंने अनेक प्रबंध काव्य लिखे हैं, उनमें से जिसमें संभवतः रामकथा का वर्णन है, वह 'पउम पुराण' नाम से जाना जाता है। अभी

राम काव्य के अन्य कवि

1. स्वयंभू का 'पउमचरिउ' : प्रथम भाग : भूमिका पृ० ९५
2. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २७७-८५.

तक वह ग्रंथ सामने नहीं आ सका है, इसलिए उसके विषय में कुछ भी कहना असंभव है।

जिस प्रकार राम जैन धर्म द्वारा स्वीकृत नौ बलदेवों में से एक हैं, उसी प्रकार कृष्ण भी नौ वासुदेवों में से एक हैं। फलतः कृष्ण की कथा भी जैन साहित्य में वर्णित है। यदि राम कथा 'पउम चरिउ' 'पउम पुराण' नाम वाले ग्रंथों में कही गई है तो कृष्ण-कथा कहने वाले ग्रंथ 'हरिवंश पुराण' कहे जाते हैं। अपभ्रंश में रामकथा

कृष्ण काव्य और स्वयंभू

की तरह कृष्ण-कथा के सूत्रपात का भी श्रेय स्वयंभू को ही है। स्वयंभू ने 'पउम चरिउ' के साथ ही 'हरिवंश पुराण' की भी रचना की है। इस समय 'भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट' में 'हरिवंस पुराण' की जो प्रति सुरक्षित है, उसमें कुल ११२ संधियाँ हैं। अध्ययन करने से पता चलता है कि स्वयंभू ने केवल ९२ संधियों की ही रचना की थी, जिसमें १३ संधियों का यादव कांड, १९ संधियों का कुरु कांड और ६० संधियों का युद्धकांड है। बानवे संधियों के बाद ग्रंथ अपूर्ण रूप में शेष रह गया। इसके बाद उनके पुत्र त्रिभुवन ने १७ संधियाँ और जोड़ीं। शेष ६ संधियाँ यशः कीर्ति की रचना मालूम होती हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी के आस पास हुए थे।[1]

इतना सब जोड़ने के बावजूद हरिवंश पुराण का अधिकांश स्वयंभू की ही कृति है। स्वयंभू के 'हरिवंश पुराण' के जितने अंश प्रकाश में आए हैं, उनसे उनकी काव्य-प्रतिभा की और भी पुष्टि होती है। श्री मोदी ने 'अपभ्रंश पाठावली' में 'हरिवंश पुराण' की क्रमशः २८वीं और १०३ री संधि उद्धृत की है जिनमें से एक महाभारत के विराट पर्व की 'कीचकवध' कथा पर आधारित है और दूसरी एक तरह की धार्मिक प्रश्नोत्तरी है जो जैन धर्म के उपदेश के लिए गढ़ी गई है।

---

१. हेमचन्द्र मोदी : अपभ्रंश पाठावली (१९३५ ई०)- टिप्पणी, पृ० २३-२५

यहाँ भी स्वयंभू द्वारा रचित प्रसंग में जो कथा-रस और सहज भावोद्गार है, वह त्रिभुवन के तत्वचिंतन में नहीं है। मत्स्यराज का साला कीचक जिस समय सबके सामने सैरन्ध्री बनी हुई द्रौपदी का अपमान करता है, स्वयंभू उस प्रसंग को मूर्त कर देते हैं—

तो तेण विलक्खी हूवएण
अणुलग्गें जिहं जमदूयएण
चिहुरेहिं धरेवि चलणेहि हय
पेक्खतहं रायहं मुच्छ गय
मणि रोसु पवड्ढिय बल्लवहो
किर देइ दिट्ठ तरु-पल्लवहो
"मरु मारमि, मच्छु स-मेहुणउं
पट्ठवमि कयंतहो पाहुणउ"
तो तव-सुएण आयड्ढएण
विणिवारिउ चलण ंगुट्ठएण
ओसरिउ विओयरु सण्णियउ
पुर-वर-णरिउ आदण्णियउ
"धि धि दड्ढ-सरीरें काइं किउं
कुल-जायहं जायहं मरण थिउ
जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ
तहिं जण सामण्ण काइं करइ।"

यमदूत की तरह कीचक ने द्रौपदी का केशपाश पकड़कर खींचा और उसे लात मारी। यह देखकर राजा युधिष्ठिर मूर्छित हो गए और भीम रोष के मारे तरु की ओर देखने लगे कि इसे किस तरह मारें। लेकिन युधिष्ठिर ने पैर के अंगूठे से उन्हें दबाकर मना किया। उधर पुर की नारियाँ व्याकुल होकर बोल उठीं कि "इस दग्ध-शरीर को धिक्कार है! इसने यह क्या किया! कुलीन नारियों का तो मरण हो गया। जहाँ राजा ही इतना दुराचार करता हो, वहाँ भला सामान्य जन क्या करेंगे?"

नारी के प्रति स्वयंभू के मन में कितना बड़ा सम्मान है ! जहाँ भी वे नारी को किंचित् अपमानित होते देखते हैं, उनकी संपूर्ण मानवता कालाग्नि के समान धधक उठती है। यही नहीं, अवसर आते ही वे शक्तिमती नारी की शक्ति का उद्घाटन किए बिना नहीं रहते। अपमानिता द्रौपदी दिन का सारा काम-काज खत्म करके जब रात में भीम के पास जाती है और वे उसके दुःख का कारण पूछते हैं तो उस समय द्रौपदी का अमर्षपूर्ण कथन सुनने योग्य है—

"महु कवणु सुह-च्छइ कवण दिहि
जहिं तुम्ह वि वट्टइ एह विहि
जो सामि-सालु महि-मंडलहो
थिउ हरिवि लच्छि आहंडलहो
सो विहि परिणामें संचरइ
घरि मच्छहो णिच्च सेव करइ
जो मुट्ठि-पहारें दलइ गिरि
जं खणु वि ण मेल्लइ सुहड-सिरि
जें बगु हिडिंबु किम्मीरु जिउ
सो हुउ विहि-वसिण महाणसिउ
जो बहु लद्धवरु खंडव-डह-डामर-वीरु
कम्महं विहि-वसिण सो जायहं मलइ सरीरु।
जमलाऽस-वाल-धणवाल जहिं
सइलिंधि हउं मि सुहु कवणु तहिं
महि मडलि सयलि गविट्ठाइं
केम वि खल-दइवें दिट्ठाइं
देसें देसंतरु भमियाइं
वणि बारह वरिसइं गमियाइं
अहियइं मासिहिं एयारहिहि
अवरहिं वासर-पण्णारहिहिं

तो वि दुक्ख किलेसहो छेउ ण वि
वरि मरणु न जीविए सु-हल क वि।"

ऐसे ऐसे शूर वीर और सुधी पतियों के रहते हुए भी द्रोपदी ने अब तक क्या सुख जाना ? सुख पाना तो दूर, उल्टे वह इस तरह उनके सामने ही अपमानित हो रही है ! यदि इसी का नाम जीवन है तो फिर मरण क्या है ?

और इस पर भीम द्रौपदी के आँसुओं को, अपने स्वभाव के प्रतिकूल दर्शन के कड़े और रूखे हाथों पोंछते हैं—"ससार-धर्म नहीं देखती ? कहीं सुख है तो कहीं दुख। पूर्व कर्मों का वृक्ष दो फल देता है। रावण द्वारा हरी जाने पर भी सीता को क्या थोड़ा सा भी दुःख हुआ था ?"

संसार-धम्मु ण णिरिक्खियउ
सुहु केत्तिउ केत्तिउ दुक्खियउ
देइ दुवि वि फलइं पंचालि पुराइय रुक्ख !
जहिं णिय रावणेण किं सीयहिं थोडउ दुक्खु ॥

त्रिभुवन में यही दार्शनिकता चरम सीमा पर पहुँची हुई है। द्वारिका में नेमिनाथ का शुभागमन बड़े ही भव्य ढंग से होता है; सभी यादवों के साथ वासुदेव और बलदेव उनका स्वागत करते हैं और अंत में अवसर निकाल कर बलदेव नेमिनाथ से जीवन और जगत के विषय में बड़े-बड़े गूढ़ सवाल पूछते हैं और सर्वज्ञ नेमिनाथ एक-एक कर उनका उत्तर देते हैं। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है।

"किं इह तिहुयणे सारु भडारा ?"
"धम्मु-रअणु भो महिहर धारा।"
"किं दुल्लहु भव-लक्खिहिं जिणवर ?"
"पव्वज्जा-णिहाणु हे सिरि-हर।"
"किं सुहु लोया-लोइ महागुरु ?"
"वाह-रहिउ अहो मुसुमूरिय मुरु।"
"के जीवहो वइरिय तित्थंकर ?"
"कोह-मोह-मय-अच्छी हरि-हर।"

"किं पालणिव एत्थु सव्वएहं ?"
"धुश्र सम्मत्तु सील श्रइ विएहं ।"
"किं सुंदरु करणिज्जु दयारुह ?"
"दाणु पुज्ज हो देवइ-तणु-रुह ।"
"के दू-सह तियसेसर-सामिय ?"
"पवर-परीसह खगवइ गामिय ।"
"किं बलवंतउ समर-विमद्दण ?"
"जीव हो चिरु-कय कम्म-जणद्दण ।"
"कवणु देउ केवल-वर-णोयण ?"
"दोस-विवज्जिउ हो मह-सूयण ।"
"कणु धम्मु जगि णाणुप्पायण ?"
"जीव-दया-वरु हे णारायण"
"कि संसार हो मूलु णिरासव ?"
"गरुउ पमाउ-गुणहिं मणि केसव ।"
"किं कट्ठ-यरु सिद्धि-अब्भावह ?"
"अएणाणत्तणु जउ-वइ माहव ।"
"जीव-णिकायहो किं दढ़-बंधणु भुवणुत्तम ?"
"विविह-परिग्गहु गेहिणि-सणेहु पुरिसोत्तम ।"

जैसा विषय, वैसी भाषा। ऐसी ज्ञान चर्चा में भाषा का थोड़ा बोझिल हो उठना अवश्यंभावी है। त्रिभुवन स्वयंभू का जो कुछ भी सामने आ सका है, उसमें पांडित्य की गरिमा के साथ ही भाषा का भारीपन भी जुड़ा हुआ है। धार्मिक रुचि वालों के लिए त्रिभुवन के साहित्य में अधिक सामग्री मिल सकती है। जगह जगह उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों को पद्यबद्ध कर दिया है; बीच बीच में सुन्दर स्तोत्र भी आ जाते हैं, जिसमें एक धार्मिक व्यक्ति का विह्वल हृदय स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

स्वयंभू के बाद कृष्ण-काव्य की परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में पुष्पदन्त का नाम अग्रणी है। उत्तर पुराण की बारह संधियों (८१-९२)

में उन्होंने हरिवंश पुराण की रचना की है। रामकथा की अपेक्षा पुष्पदन्त ने कृष्ण-कथा में विशेष रस लिया है। इसमें महाभारत की कथा से भेद भी कम है, और कथा-प्रवाह के बीच काव्यात्मक स्थलों के चित्रण में भी उन्हें काफी सफलता मिली है। पुष्पदन्त ने रुचि के साथ कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन किया है। किशोर-कृष्ण और गोपियों की लीला का एक दृश्य इस प्रकार है —

कृष्ण-लीला और पुष्पदंत

धूली-धूसरेण वर-मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा।
कीला-रस-वसेण गोवालय-गोवी-हियय-हारिणा॥
रंगतेण रमत रमंते
मंथउ धरिउ भमंत अणंते
मंदीरउ तोडिवि आ-वट्टिउँ
अद्ध-विरोलिउ दहिउँ पलोट्टिउँ
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी
एण महारी मंथणि भग्गी
एयहि मोल्लु देउ आलिंगणु
णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु
काहिवि गोविहि पडुरु चेलउँ
हरि-तणु तेएँ जायउँ कालउँ
मूढ जलेण काइँ पक्खालइ
णिय-जडत्तु सहियहिं दक्खालइ
थणु-रसि-च्छिरु छायावंतउ
मायहिं समुहुँ परिधावंतउ
महिस-सिलंवउ हरिणा धरियउ
णं कर-णिवंधणाउ परिसरियउ
दोहउ दोहण-हत्थु समीरइ
मुइ मुइ माहव कीलिउँ पूरइ

कत्थइ अंगण-भवणा-लुद्धउ
वाल-वच्छु वालेण णिरुद्धउ।

इस तरह पुष्पदंत के कृष्ण भी कम नटखट नहीं हैं। कभी मथानी तोड़ देते हैं तो कभी आधा-विलोया हुआ दही लुढ़का देते हैं; आंगन में वछड़ों के साथ दौड़ते फिरते हैं और हवा में दूध दुहने का अभिनय करते हैं। उधर गोपियाँ भी कम प्रगल्भ नहीं हैं। वे टूटी हुई मथानी का मूल्य आलिंगन माँगती हैं; और जब कृष्ण के आलिंगन से उनकी पांडुर चोली काली पड़ जाती है तो भोलेपन के कारण उसकी कालिमा दूर करने के लिए पानी से धोती हैं। यह प्रगल्भता और मूढ़ता का अद्भुत धूप-छाँहीं मिश्रण है।

कोमल प्रसंगों के अतिरिक्त पुष्पदंत ने कृष्ण की 'कालियदमन', 'गोवर्द्धन धारण' जैसी पौरुषमयी लीलाओं का भी चित्रण किया है। गोवर्द्धनधारण से पूर्व की प्रलयोपम वृष्टि का यह बड़ा ही नादानुरंजित चित्र है—

जलु गलइ झलझलइ। दरि भरइ, सरि सरइ।
तडयडइ, तडि पडइ। गिरि फुडइ, सिहि णडइ।
मरुचलइ, तरु घुलइ। जलु थलु, वि गोउल' वि।
णिरु रसिउ, भय-तसिउ। थरहरइ, किरमरइ।
जाव ताव, थिर भाव। धीरेण वीरेण।
सर-लच्छि-जयलच्छि। तएहेण, कह्णे ण।
सुर थुइण, भुयजुइण। वित्थरिउ, उद्धरिउ।
महिहरउ, दिहियरउ। तम-जडिउँ, पायडिउँ।
महि-विवरु, फणि-णियरु। फुफ्फुवइ, विसु मुयइ।
परि घुलइ, चलवलइ। तरुणाइँ, हरिणाइँ।
तट्टाइँ, णट्टाइँ। कायरइँ वणयरइँ।
हिंसाल चंडाल। चंडाइँ, कंडाइँ।
तावसइँ, परवसइँ। दरियाइँ जरियाइँ।

गो-वद्धण-परेण गो-गोमि-णिभारु व जोइउ।
गिरि गोवद्धणउ गोवद्धणेण उच्चाइयउ।

कुल मिलाकर अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा रचित रामकाव्य और कृष्ण काव्य एक दम ऐहिक ढंग का चरित काव्य ही है जिसमें कहीं-कहीं धार्मिकता का पुट आ गया है, लेकिन दिव्यता और अलौकिकता का रंग प्रायः नहीं है और भक्ति-भावना का तो उसमें सर्वथा अभाव है। हिंदी के भक्त कवियों के रामकाव्य और कृष्ण-काव्य से उनकी कोई तुलना नहीं है।

जैन कवियों द्वारा रचे हुए पुराण साहित्य में रामायण और महाभारत की कथाओं से कहीं अधिक विस्तार उनके अपने तीर्थंकरों की जीवन-गाथाओं का है। पुष्पदंत का अधिक काव्य-कौशल उनके आदि-पुराण में व्यय हुआ है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ उन्होंने राम के लिए केवल ११ संधियाँ दी हैं और कृष्ण के लिए १२ संधियाँ, वहाँ उन्होंने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के लिए ३७ संधियाँ लगा दी हैं। यह स्वभाविक ही था। आदि पुराण में ऋषभदेव के जन्म से लेकर महा निर्वाण तक की कथा के अतिरिक्त उनके दो पुत्र भरत और बाहुबलि के भी क्रिया-कलापों का वर्णन है।

पुष्पदंत का आदि पुराण

प्रथम दो संधियों में परंपरानुसार कवि का आत्म-निवेदन, विनय, प्रदर्शन, आश्रयदाता की प्रशस्त, दुर्जन-निंदा, सज्जन-प्रशंसा, ग्रंथ-रचना का उद्देश्य वर्णित करने के साथ साथ ऋषभदेव के अवतार लेने के पूर्व की भव्य भूमिका बाँधी गई है। इसके बाद ऋषभ अयोध्या-नरेश के घर जन्म लेने का निश्चय करते हैं, इन्द्रादि देवता पहले से ही बड़े पैमाने पर तैयारियाँ करते हैं। ऋषभ के गर्भ में आने के साथ उनकी माँ परंपरानुसार विराट स्वप्न देखती हैं और इन सब के बाद दिव्य शक्ति-पुंज बालक ऋषभ का जन्म होता है। जब वे बड़े होते हैं तो अन्य राजकुमारों की प्रवृत्ति के विपरीत वे विवाह करना नहीं चाहते लेकिन सभी राजकुमारों

की तरह आज्ञाकारी पुत्र होने के कारण वे पिता की आज्ञा नहीं टाल पाते और एक की जगह दो विवाह करते हैं—एक जसवई से और दूसरा सुनंदा से। थोड़े दिनों बाद जसवई से भरत पैदा होते हैं और सुनंदा से बाहुबलि। ऋषभ अपने पुत्रों को सभी विद्याएँ और कलाएँ सिखाते हैं। ऋषभ संभवतः इसी तरह सुखोपभोग में जीवन बिताते रह जाते, यदि एक दिन स्वयं इन्द्र उनको उनके अवतार ग्रहण करने के महान उद्देश्य की याद न दिलाते। इस समय एक ऐसी घटना घटती है कि ऋषभदेव को जगत् से वैराग्य हो जाता है। एक दिन राज सभा में नीलांजसा अप्सरा नाचने आती है और नाचते नाचते सहसा गिर पड़ती है और मर जाती है। ऋषभदेव को जीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान होता है। वे भरत को अयोध्या का तथा बाहुबलि को पोयणपुर का राजा बनाकर संन्यास ले लेते हैं और साधना के द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करके जिन-धर्म के प्रचार में लग जाते हैं। उधर वे जैन धर्म का प्रचार करते हैं और इधर भरत तथा बाहुबलि धीरे धीरे अपने प्रताप का विस्तार करते हैं। इस तरह ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि भरत और बाहुबलि में युद्ध होता है। बारी बारी से एक दूसरे को हराने के बाद अंत में बाहुबलि को हार खानी पड़ती है। बाहुबलि बड़े भाई को निष्कंटक राज्य करने के लिए छोड़कर पिता के परामर्श पर जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं। इसके बाद भरत प्रायः अपने पिता के पास उपदेश लेने के लिए कैलाश जाया करते हैं। अंत में एक दिन भरत को स्वप्न होता है कि कैलाश शिखर हिल रहा है और अब वह गिरने ही वाला है। जानकार लोगों से जब वे इस स्वप्न का अर्थ पूछते हैं तो मालूम होता है कि यह ऋषभदेव के महानिर्वाण का प्रतीक है। भरत सब को लेकर कैलाश जाते हैं और बड़े ही भव्य ढंग से पिता का महा-निर्वाण मनाते हैं। आदि पुराण यहीं समाप्त होता है।

कथा-प्रसंग में अनेक युद्धों, विजयों और देश-देशान्तरों के वर्णन के साथ ही राजनीति, धर्म, दर्शन और विविध विद्या-विषयक गंभीर बातें हैं। कुल मिलाकर यह संपूर्ण पुराण अनेक सामाजिक राजनीतिक बातों

का एक विश्व-कोश है। जिस तरह 'महाभारत' समाप्त करने के बाद व्यास ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ कहा कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्', उसी तरह 'महापुराण' के अंत में पुष्पदंत ने भी कहा है कि 'इस रचना में प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलंकार, रस, तत्त्वार्थ-निर्णय,—सब कुछ आ गया है, यहाँ तक कि जो यहाँ है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। धन्य हैं वे पुष्पदंत और भरत जिनको ऐसी सिद्धि मिली।'

इस तरह स्वयंभू और पुष्पदंत दोनों ही कवि अपभ्रंश साहित्य के के सिरमौर हैं। यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौन्दर्य है तो पुष्पदंत में वंकिम भंगिमा है; स्वयंभू की भाषा में प्रसन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झाँकी; एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उदाहरण।

इस अंतर के पीछे दोनों कवियों की जीवन-चर्या है। स्वयंभू सुखी संपन्न गृहस्थ, संयत चित्त पुरुष और संतुलित मनीषी थे; वे भरे पूरे परिवार के बीच जीवन का पूर्ण उपभोग करने वाले मनुष्य थे। इसके विपरीत पुष्पदंत का आरंभिक जीवन अभावों और संघर्षों में बीता और सुखद आश्रय मिलने के बाद भी वे प्रायः एकाकी और निःसंग रहे। असंतोष ने उनके जीवन में अद्भुत ढंग की तिक्तता, कटुता, आक्रोश और प्रतिक्रिया की भावना भर दी थी। यही सब देखते हुए स्वयंभू-कृत 'पउम चरिउ' के संपादक डा० भायाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास कहा है और पुष्पदंत को भवभूति।

स्वयंभू के काव्य की श्रेष्ठता का एक कारण संभवतः यह भी हो सकता है कि उनका दृष्टिकोण पुष्पदंत की तरह संकीर्ण और साम्प्रदायिक न था; जैन मत को मानते हुए भी उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का पालन किया। जीवन की वास्तविकता को उन्होंने भर सक पूर्वाग्रह रहित होकर यथार्थ रूप में चित्रित करने की चेष्टा की। आदर्श की इस उच्चता और मानवता ने उनके काव्य को अत्यधिक व्यापकता तथा सर्व-

हृदय-स्पर्शिता की शक्ति प्रदान की। पुष्पदंत की तरह उन्होंने हर जगह जिन-शासन की ही प्रधानता नहीं दिखाई है। मरते समय स्वयंभू के अभिमन्यु ने जिस देव की वंदना की वह सभी प्रकार के धार्मिक विग्रहों से ऊपर है—

'सउहद्देण एम चवन्तएण, सो सुमिरिउ देउ मरन्तएण।
जो सव्वहँ देवहँ अग्गलउ, तइलोक्क-सिहरे जसु थावँलउ।
जें अट्ठ वि कम्मइँ णिज्जियइँ, जें पचेन्दियइँ परज्जियइँ।
जं धरिवि महारिस मोक्खु गय, जसु तणए धम्मे थिय जीव-दय।
जें णासिउ जाइ-जरा-मरणु, सो सव्वहो तिहुयणहो जे सरणु।
जो वहइ णिरंजण परम छवि, जसु सोउ विओउ विणासु णवि।
जो णा इव णउँसउ णइव तिय, ण पयट्ठ एक्क वि जासु किय।
जो णिक्कलु सन्तु पराहिपरु।
णारायणु दिणयरु वइसवणु, सिउ वरुणु हुवासणु ससि पवणु।
जो होउ सु होउ थुणन्तु थिउ, एक्कन्तें करेप्पिणु कालु किउ।'[1]

—(रिट्ठ० ५५।३०।१-१०)

"अभिमन्यु ने उस देव को स्मरण किया जो सभी देवों में अग्रणी है, जिसका स्थान त्रैलोक्य-शिखर पर है, जिसने आठो कर्मों को जीत लिया है, जिसने पंचेन्द्रियों को पराजित कर डाला है, जिसे आधार बनाकर महर्षियों ने मोक्ष प्राप्त किया, जिसके धर्म में जीवदया का स्थान है, जिसने जन्म-जरा-मरण का नाश कर दिया है, जो सभी त्रिभुवन की शरण है, जो निरंजन परम छवि वहन करता है, जिसे शोक-वियोग-विनाश नहीं होता, जो न नर है न स्त्री है और न नपुंसक है, जो एक भी क्रिया में भाग नहीं लेता, जो निष्कल (अविभाज्य) है, सतत है, परात्पर है, जो नारायण दिनकर वैश्रवण, शिव वरुण हुताशन शशि पवन है। वह चाहे जो हो अभिमन्यु उसे एकान्त भाव से स्मरण करके मर गया।"

---

१. डा० भायाणी द्वारा पउमचरिउ, भूमिका पृ० १३ पर उद्धृत।

इन पंक्तियों में अभिमन्यु ने परम देव के विषय में जो बातें कही हैं वह स्वयं स्वयंभू के विचार भले ही न हों, परंतु इनसे पता चलता है कि स्वयंभू अपनी रचना के पात्रों के धार्मिक विचारों पर अपने मत का आरोप करना अच्छा नहीं समझते थे। अपने निजी विचारों से अपने पात्रों को स्वतत्र रखने से बढ़ कर पूर्वग्रहहीनता और क्या हो सकती है? वास्तववादी कवि ही ऐसा कर पाते हैं। स्वयंभू की उच्चाशयता इसी बात में है। उनकी श्रेष्ठता का यही रहस्य है।

जिस तरह 'महाभारत' और 'रामायण' के एक एक चरित्र को लेकर संस्कृत के परवर्ती कवियों ने प्रबंध काव्यों की रचना की, उसी प्रकार पुष्पदंत के 'महापुराण' के मुख्य मुख्य शालाका-पुरुषों के जीवन चरित को लेकर अपभ्रंश के जैन कवियों ने चरित-काव्य लिखे। इनमें तीर्थंकर नेमिनाथ, चक्रवर्ती बाहुबली तथा शालिभद्र का चरित्र ऐसा ही है। नेमिनाथ को लेकर लिखा हुआ सबसे प्रसिद्ध अपभ्रंश काव्य हरिभद्र सूरि (११५६ ई०) का लिखा हुआ 'नेमिनाथ चरिउ'[1] है। हरिभद्र सूरि का 'नेमिनाथ चरिउ' लगभग सात संधियों और ८०३ श्लोकों का छोटा सा प्रबंध काव्य है। इसकी भाषा अत्यधिक अलंकृत है और समास-बहुल है। प्रायः प्रकृति-चित्रणों में पुरानी रूढ़ियों का ही पालन अधिक है, जैसे प्रभात-वर्णन का यह अंश—

जैन परंपरा के अन्य पौराणिक पुरुषों संबंधी काव्य

तपणु वियलिर तिमिर-धम्मिलु परिल्हसिर
तारय-वसण कलयलंत तरु सिहर पक्खिय।
परिसंदिर कुसुम-महु-विंदु मिसिणए पइँ वड्डुक्खिय।

अर्थात् तिमिर-धम्मिल (केश) तपन से विदलित हो गए, तारक-

१. डा० याकोबी द्वारा, उसका एक अंश 'सणत्कुमार चरिउ' संपादित १९२१ ई०

वसन खिसक गये, तरु शिखरों के पत्ती कुलकुल करने लगे और बड़ी बड़ी आंखों जैसे कमलों से मधुविंदु टपकने लगे।

लेकिन राग रङ्ग के वर्णनों में इस भाषा ने वातावरण उपस्थित करने में विशेष सफलता दिखलाई है; जैसे—

वज्जंत गज्जंत बहु-भेय-तूरं
लभिज्जंत दिज्जंत कप्पूर पूरं
पणच्चंत णच्चंत वेसा-समूहं
दसिज्जंत हिंडंत वावयणतूहं
एंत गच्छंत चिट्ठंत वहुसज्जणं
लेंत वियरंत सुयसंत जण-रंजणं
खंत पिज्जंत दिज्जंत वहुभक्खयं
लोय उल्लसिय वहु-भेय मणसुक्खयं
धावंत कीलंत वग्गंत खुज्जयगणं
वंत उट्टंत निवटंत वालयजणं।

नेमिनाथ के चरित पर जो दूसरा अपभ्रंश ग्रंथ प्राप्त है, वह है **विनयचन्द्र सूरि** (१२०० ई०) की 'नेमिनाथ चउपइ'।[1] विनयचंद्र ने संपूर्ण काव्य चौपाइयां में लिखा है। रचना बहुत बाद की मालूम पड़ती है, फिर भी काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। अपभ्रंश की यह पहली कृति है जिसमें 'बारहमासा' मिलता है। इससे पहले संस्कृत और प्राकृत की परंपरा के अनुसार प्रायः 'षड्ऋतु वर्णन' ही दिखाई पड़ता है। हिंदी में यह 'बारहमासा' ही अधिक लोकप्रिय हुआ। नेमिनाथ जब वैराग्य ले लेते हैं तो उनके वियोग में उनकी पत्नी राजल देवी अथवा राजमती विलाप करती है। ऐसे ही मार्मिक विरह-विलाप का पुंज 'नेमिनाथ चउपई' का यह 'बारहमासा' है। यह 'बारह-

१. प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह, १९२० में संग्रहीत।

मासा' सावन से शुरू होकर असाढ़ में समाप्त होता है। इसके कुछ महीनों के वर्णन की बानगी देखिए—

श्रावणि सरवणि कंडुय मेहु
गज्जइ, विरहिनि झिज्जइ देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेवँ
नेमिहि विणु सहि सहियइ केवँ।

भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि
सकरुण रोअइ राजल देवि।
हा एकलडी मइ निरधार
किम ऊवेषिसि करुणासार।
भणइ सखी राजल मन रोइ
नीठुरु नेमि न अप्पणु होइ।
सिंचिय तरुवर पारि पलवंति
गिरिवर पुणि कड-डेरा हुंति।
साँचउ सखि वरि गिरि भिज्जंति
किमइ न भिज्जइ सामलकंति।
घण वरिसंतइ सर फुट्टन्ति
सायरु पुण घण ओह डुलंति।

कत्तिग खित्तिग उग्गइ संझ
रजमति झिज्झिउ हुइ अति झंझ।

फागुण वागुणि पन्न पडंति
राजल दुक्खि कि तरु रोयंति।

चैत्र मासि वणसइ पंगुरइ
वणि वणि कोयल टहका करइ।

सावन में बिजली का झबक्कना, भादों में आँखों के सामने भरे ताल का लहराना, कार्तिक में क्षितिज पर उगती हुई साँझ, फागुन में पेड़ों से पत्तों

के आँसू झरना, और चैत्र में बन बन कोयल का टहका करना—ये सभी ऐसी बातें हैं जो विरही तो विरही, स्वस्थ मन को भी अनमना बना देती हैं। विनयचन्द्र ने एकदम हल्की फुल्की भाषा में प्रकृति का चित्र खड़ा कर दिया है, साथ ही सीधे सादे ढंग से नारी हृदय को व्यथा भी कह दी है। वियोग के ऐसे मार्मिक वर्णन अपभ्रंश साहित्य में कम हैं।

नेमिनाथ की ही तरह बहुबली का भी चरित्र अत्यंत काव्योपम है, परंतु नेमिनाथ का चरित जहाँ कोमल भावों का आलंबन है, वहाँ बहुबली का व्यक्तित्व शौर्य का प्रतीक है। बाहुबली को लेकर लिखे हुए अपभ्रंश काव्यों में शालिभद्र सूरि (११८४ ई०) का बाहुबलि रास अत्यंत प्रसिद्ध है।[1] शालिभद्र ने बाहुबलि की सेना की जय यात्रा का बड़ा ही ओजपूर्ण वर्णन किया है; शौर्य का ऐसा ओजस्वी वर्णन जैनों के धार्मिक साहित्य में कम मिलता है। चपल घोड़ों की यह चाल देखिए—

हीसइँ हसिमिसि हणहणइँ; तरवर तार तोषार।
खंडइँ खुरलइँ खेडविय, मन मानइँ असुवार॥
पाखर पंखि कि पंखरुय, ऊडाऊडिहिं जाइ।
हुँफइँ तलपइँ ससइँ धसइँ, जडइँ जकारिय धाइ॥
फिरइँ फेकारइ फोरणइँ, फुड फेणाउलि फार।
तरणि-तुरंगम समतुलइँ, तेजिय तरल ततार॥

और इस वर्णन के साथ ही गजों भटों और घोड़ों के कारनामों का भी एक चित्र—

गड गडंत गय गडिय गेलि गिरिवर सिर ढालइँ।
गूगलीय गुलणाई चलंत करिय ऊलालइँ॥
जुडइँ भिडइँ भड़-हडइँ खेदि खडखडइँ खडाखडि।
धणिय धुणिय धोसवइँ दंतु दो तड़ा-तड़ा तडि॥

1. मुनि जिन विजय द्वारा 'भारतीय विद्या' (वर्ष २, अंक १) में प्रकाशित।

खुरतलि खोणि खणंति खेदि तेजिय तरवरिया।
समइँ घसइँ घसमसइँ सादि पय सइँ पाषरिया॥

इस में चेष्टित अनुप्रास और कोरी नादानुकृति की ही छटा नहीं, बल्कि चित्र की गतिशीलता और सक्रियता भी है।

चरित काव्य

पौराणिक पुरुषों पर लिखे गए काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश के जैन साहित्य में कुछ ऐसे चरित काव्य हैं जो उस परंपरा के कुछ लोक-प्रिय व्यक्तियों को लेकर लिखे गए हैं। नागकुमार, यशोधर, करकंडु आदि कुछ ऐसे ही विशिष्ट व्यक्ति हैं जिनको लेकर जैन कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। अपभ्रंश में नागकुमार के चरित से संबंधित सबसे प्रसिद्ध काव्य पुष्पदंत का नागकुमार चरित[1] अथवा णायकुमार चरिउ है।

नागकुमार चरित

'नागकुमार चरित' पुष्पदंत की दूसरी रचना है; इसे उन्होंने 'महापुराण' के बाद भरत-मंत्री के पुत्र नन्न के आश्रय में लिखा था। नौ संधियों के इस छोटे से प्रबन्ध काव्य में 'श्रुत पंचमी' का माहात्म्य बतलाने के लिए नागकुमार की कथा सुनाई गई है। नागकुमार मगध देशीय कनकपुर के राजा जयंधर की दूसरी रानी पृथिवी देवी के पुत्र थे। जयंधर की पहली रानी विशालनेत्रा थीं और उससे उन्हें श्रीधर नाम का एक पुत्र भी हुआ था। राजा ने दूसरी शादी यों की कि उनके यहाँ एक दिन एक अद्भुत व्यापारी आया और उसने राजा को गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वी देवी का चित्र दिया। चित्र राजा को इतना पसंद आया कि उन्होंने उस राजकुमारी से शादी कर ली। बाद में मालूम हुआ कि व्यापारी के वेश में स्वयं वासव ही आए थे।

पृथ्वी देवी रानी होकर आई तो लेकिन पहली रानी विशालनेत्रा के

१. श्री हीरालाल जैन द्वारा 'कारंजा सीरीज' में सम्पादित, १९३३ ई०

वैभव से उन्हें ईर्ष्या होने लगी। एक दिन जब विशालनेत्रा राजा के साथ उद्यान में क्रीड़ा के लिए गई तो पृथ्वीदेवी जिन-मंदिर चली आई। यहाँ मुनि पिहिताश्रव ने उन्हें धर्मोपदेश दिया और साथ ही पुत्रवती होने का आशीर्वाद भी। नागकुमार इसी आशीर्वाद के फल-स्वरूप पैदा हुआ। नागकुमार उस पुत्र का नाम इसलिए पड़ा कि पुत्र उत्पन्न होने के बाद राजा और रानी पुत्र को लेकर फिर मुनि के दर्शन के लिए गए। इधर राजा-रानी मुनि से बातें कर रहे थे, उधर पुत्र कुएँ में गिर पड़ा। कुएँ में एक नाग ने उस राजकुमार की रक्षा की और वहाँ से वह राजकुमार को नाग-लोक ले गया। वहीं उसका नाम नागकुमार हुआ और उसने एक नाग कन्या से शादी भी की। कुछ दिन नाग लोक में रहने के बाद नागकुमार पृथ्वी पर आया। यहाँ उसने अपनी माँ की दुर्दशा देखी। राजा ने उसे दण्ड देकर उसके सभी आभूषण छीन लिए थे। नागकुमार अपनी माँ को आभूषण पहनाने के लिए जुआ खेलने गया और जीत कर बहुत सा आभूषण ले भी आया। जब राजा ने यह सुना तो स्वयं भी उसे जुआ खेलने के लिए बुलाया और अपने पुत्र से जुए में सारा राज-पाट हार बैठा। नागकुमार ने केवल अपनी माँ के गहने लेकर बाकी सब कुछ पिता को लौटा दिया।

नागकुमार के ऐसे ही प्रतापी कार्यों से उसके सौतेले भाई श्रीधर को ईर्ष्या हुई। उसने नागकुमार की हत्या करने का प्रयत्न किया लेकिन सफल न हो सका। इसके विपरीत नागकुमार ने बिगड़ैल हाथी को ठीक करने जैसे जीवट के कार्यों से लेकर वंशीवादन जैसे कलापूर्ण कार्यों में भी उसके ऊपर विजय प्राप्त की। इस सिलसिले में नागकुमार ने अनेक शादियाँ कीं लेकिन सभी रानियों में उसे लक्ष्मीमती ही प्रिय थी। एक दिन उसने मुनि पिहिताश्रव से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि पूर्व जन्म में दोनों ने 'श्रुतपञ्चमी' व्रत किया था। इसपर मुनि 'श्रुत-पञ्चमी व्रत' का विधान बताते हैं। नागकुमार बहुत दिनों तक सुखपूर्वक जीवन बिताने के बाद अंत में तपस्या करने चले जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं।

कथा में ईर्ष्या-कलह, शौर्य, स्नेह आदि अनेक लौकिक दशाओं के अतिरिक्त पाताल पुरी नागलोक आदि की बहुत सी अलौकिक घटनाएँ भी वर्णित हैं। वर्णन कहीं कहीं बड़ा ही यथार्थवादी दिखाई पड़ता है; जैसे एक स्थान पर वेश्या-बाजार का इस प्रकार चित्रण है—

कावि वेस चिंतइ गय-सुएणा
ए थण एयहो णहहिं ण भिएणा।
कावि वेस चिंतइ किं वड्ढिय
णीलालय एएण न कड्डिय।
कावि वेस चिंतइ किं हारें
कंठु न छिएणउ एण कुमारें।
कवि वेस अहरग्गु समप्पइ
झिज्जइ खिज्जइ तप्पइ कंपइ।
कावि वेस रस-सलिलें सिंचिय
वेवइ वलइ घुलइ रोमंचिय।
ता वीणा-कलरव-भासिणिए देवदत्तए रायविलासिणिए
हिय-उल्लए कामदेउ ठविय कय-पंजलि-हत्थें विएणविउ।
"परमेसर, कारुएणु वियप्पहि
जिह मणु तिह घर-पंगणु चप्पहि।"

यशोधर अथवा जसहर के जीवन चरित को लेकर भी जितने काव्य लिखे गये हैं उनमें पुष्पदन्त का ही जसहर चरिउ[1] सबसे अधिक प्रसिद्ध है। 'जसहर चरिउ' पुष्पदन्त की तीसरी और

जसहर चरिउ

अंतिम कृति है। इसे उन्होंने मान्यखेट की लूट के समय ९७२ ई० के आस पास लिखा था। चार संधियों के इस छोटे से खण्ड काव्य में कापालिक मत के ऊपर जैन धर्म के

१. डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य द्वारा 'करञ्जा सीरीज' में सम्पादित, १९३१ ई०

विजय की कहानी बड़े ही प्रभावशाली ढङ्ग से कही गई है। यौधेय-देशीय राजपुर नगर में एक दिन कापालिकाचार्य भैरवानंद पधारे। उनकी महिमा सुनकर राजा ने उन्हें पास बुलाया और आकाश में उड़ने की सिद्धि माँगी भैरवानन्द ने इस सिद्धि की प्राप्ति के लिये देवी की विधिवत् पूजा का विधान बताया। पूजा-विधि का मुख्य अंग था नर-युग्म की वलि। राज-पुरुषों को तत्काल आज्ञा हुई और वे नगर में घूमते हुये दो बालक और बालिका क्षुल्लकों को पकड़ लाये। ये क्षुल्लक सुदत्त नामक तपस्वी के शिष्य थे। राजा के सामने जब ये क्षुल्लक लाए गए तो उनके मुख पर कुछ ऐसे सामुद्रिक चिन्ह दिखाई पड़े कि राजा ने उनके वध की आज्ञा देने की जगह उनका परिचय पूछा। क्षुल्लकों ने अपने गुरु से जैसा सुना था, उसी के अनुसार उन्होंने अपने पूर्व-जन्मों की सारी कहानी सुना दी। कथा प्रसंग में भेद खुला कि इनमें एक पूर्व जन्म का यशोधर है और दूसरी बालिका उसकी माँ है। विविध कर्मों के अनुसार ये कभी पशु योनि में पैदा हुये और कभी नर योनि में—कभी पति पत्नी के रूप में, कभी भाई-बहिन के रूप में और कभी माँ-बेटे के रूप में। वर्तमान राजा और रानी भी उनके साथ पूर्व जन्मों में अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे।

यह सब सुनकर राजा को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और अंत में भैरवानंद के साथ राजा-रानी क्षुल्लकों के गुरु सुदत्त के पास जाकर जैनधर्म में दीक्षित हो गए।

पूरी कथा बड़ी ही पेचीदी है—केला के पात-पात में पात की तरह इसमें कहानी के भीतर कहानी है; नाना जन्मान्तरों की ऐसी पेचीदी कहानी अपभ्रंश में कोई नहीं है। आदि और अंत में धार्मिकता के पुट के अतिरिक्त बीच की शेष कथा अत्यंत यथार्थवादी है जिसमें राजाओं के नाना कूट-छल पर-स्त्री आसक्ति, पर-पुरुष-अनुरक्ति, धोखा-धड़ी, हत्या-चोरी आदि मानवीय दुर्बलताओं का निर्मम उद्घाटन हैं। काव्य में जगह जगह महाकवि पुष्पदन्त की वर्णनशक्ति का पता चलता

है। आरंभ में उन्होंने भैरवानन्द कपालिक का बड़ा ही सटीक चित्रण किया है।

बहु सिक्खहिं सहियउ डंभधारि
घरि घरि हिंडइ हुंकार कारि
सिर टोप्पी दिण्ण रयण-वण्ण
सा झंपवि संठिय दोण्णि कण्ण
अंगुल दु-तीस परिमाणु दंडु
हत्थें उप्फालिवि गहइ चंडु
गलि जोगवट्टु सज्जिउ विचित्तु
पाउडिय जम्मु पइदिण्णु दत्तु
तड तड तड तड तड तडिय सिंगु
सिंगग्गु छेवि किउतेण चंगु।

भैरवानन्द का क्या ही सुंदर वेश है! दोनों कानों को ढँके हुए अनेक रत्नों वाली टोपी, हाथों में उछलता हुआ बत्तीस अंगुल लंबा डंडा, गले में विचित्र योगपट्ट! गली गली चंग खड़काते और सिंगा बजाते हुए दंभ-पूर्ण ढङ्ग से घूमना।

इसी तरह 'राज प्रांगण' का भी एक जगह यथार्थ चित्र उपस्थित किया गया है। कवि वहाँ के आडंबरपूर्ण निर्जीव और नीरस वातावरण को देखकर विषण्ण हो उठता है और अपने इस भाव को खुलकर प्रकट कर देता है।

अत्थाण-भूमि गउ मणि विसण्णु।
कणय-मय-रयण-विट्ठरि णिसण्णु।
दो वासइँ चमरइँ महु पडंति
बहु-दुक्ख-सहासइँ णं घटंति।
सहमंडवि खुज्जय-वावणाइ
णच्चंतइ णिरु कोड्डावणाइँ।
एयाइँ जइवि णिरु सुहयराइँ

महु पुणु सुविरत्तहो दुहयराइँ।
पोत्थय-वायणु आढत्त सरसु
मण-सवणहँ जं जणि जणइ हरिसु।
अवलोइय णर-वइ मइँ णवंत
पडियावयाइँ णावइ कुमित्त।

करकंडु के जीवन चरित पर लिखी गई कहानियों में कनकामर मुनि (१०६५ ई०) का करकंड चरित[1] ही अपभ्रंश में इस समय तक प्राप्त है। 'करकंडु चरित' कई लोगों ने लिखा है; रइधू लिखित 'करकंडु-चरित' का भी उल्लेख मिलता है; लेकिन अभी तक उसका पता नहीं चल सका है। जैन परंपरा के अनुसार करकंडु ईसा से लगभग आठ सौ वर्ष हुए थे। इनका मान दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों में है। बौद्ध जातकों में भी ये 'प्रत्येक-बुद्ध' रूप में स्वीकृत एक महात्मा हैं। मुनि कनकामर ने ऐसे ही महापुरुष को अपना चरित-नायक बनाया है। कनकामर के विषय में इतना ही मालूम है कि वे 'आसाइय' नगरी के रहनेवाले थे, जो संभवतः बुन्देलखंड में कहीं था।

दस संधियों के इस प्रबन्ध काव्य के तीन-चौथाई भाग में करकंडु की मुख्य कथा है और शेष चौथाई भाग में नौ अवांतर कथाएँ हैं; इन अवांतर कथाओं में से एक कथा नर वाहन दत्त की है जो संस्कृत में प्रचलित कथा से थोड़ी भिन्न है। ये आवान्तर कथाएँ राजा को नीति की शिक्षा देने के बहाने कही गई हैं।

मुख्य कथा इस प्रकार है। एकबार चंपाधीश दधिवाहन अपनी रानी मदनावती के दोहद निमित्त हाथी से कहीं जा रहे थे कि सहसा हाथी मदोन्मत्त होकर भागने लगा। ऐसे संकट में रानी की सलाह से राजा तो एक डाल के सहारे बच निकले, लेकिन रानी एक भुतहे स्थान पर पहुँच

1. श्री हीरालाल जैन द्वारा 'कारन्जा जैन ग्रंथमाला' में सम्पादित, (१९३४ ई०)

गईं और वहीं उन्होंने पुत्र-प्रसव किया। पुत्र को एक मालो ने पाला और आगे चलकर हाथी द्वारा परीक्षण के बाद उसे चक्रवर्ती समझकर दंतिपुर का राजा बनाया गया। वहीं से उसने सौराष्ट्र को राजकुमारी से विवाह किया। उस राजकुमार का नाम करकंडु इसलिए पड़ा कि बचपन में उसके कर में कंडु अथवा खुजली हो गई थी। कुछ दिनों बाद चंपा के राजा ने करकंडु के पास अधीनता स्वीकार कर लेने की धमकी भेजी; परंतु इस धमकी की परवा न करके करकंडु ने युद्ध का निश्चय किया। युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान में पिता ने पुत्र को पहचान लिया और तुरंत अपना सारा राज-पाट सौंप दिया। इसके बाद करकंडु ने दक्षिण के चोल, चेर, पांड्य राज्यों पर भी चढ़ाई की। इस अभिमान में उसकी रानी मदनावती हर ली गई। दुखी राजा को एक सुर ने आकर रानी के मिलने का आश्वासन दिया। करकंडु वहाँ से सिंहल गए। सिंहल-नरेश ने उसके साथ अपनी पुत्र ब्याह दी। नई रानी के साथ करकंडु जब समुद्र-मार्ग से लौट रहा था तो एक मत्स्य ने बाधा दी। राजा ने उस मत्स्य को मार दिया लेकिन फिर स्वयं एक विद्याधर द्वारा हर लिया गया। रानी ने काफ़ी व्रत वगैरह करके उसे प्राप्त किया। लौटती बेर करकंडु ने दक्षिण के राज्यों को जीत लिया और राह में उसे पहली रानी भी प्राप्त हो गई। अंत में एक दिन मुनि शील गुप्त से अपने पूर्वजन्म का वृतान्त सुनकर राजा करकंडु तपस्या के लिए निकल पड़ा।

नाना देश देशान्तरों में भ्रमण के कारण कथा में प्रसार और वर्णन में व्यापकता आ गई है। कथानक-रूढ़ियों की दृष्टि से इस काव्य की कथा अत्यंत समृद्ध है; अनेक स्थलों पर कहानी में लोक-कथाओं की झलक मिलती है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से रचना सामान्य कोटि की है।

कथा-काव्य

पौराणिक पुरुषों की गाथाओं और जनश्रुतियों में प्रसिद्ध राजकुमारों के चरित काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश में कुछ ऐसे भी प्रबंध काव्य रचे गए जिनकी कहानी कवि की एकदम कल्पित वस्तु है अथवा किसी लोक-

कथा के आधार पर कवि द्वारा स्वतंत्र रूप से गढ़ी गई है। ऐसे आख्यान काव्य का चरित-नायक कोई प्रसिद्ध राजा अथवा राजकुमार नहीं होता, बल्कि सामान्य वणिक् पुत्र होता है। अपभ्रंश में इस तरह का एक कथा-काव्य मिलता है। यह है धनपाल (१० वीं शताब्दी ई०) रचित भविसयत्तकहा[1] अथवा भविष्यदत्तकथा। इसका दूसरा नाम 'सुयपंचमी कहा' भी है क्योंकि 'सुयपंचमी' महात्म्य के लिए यह कही गई है। बाईस संधियों के इस प्रबंध काव्य में एक तरह से तीन तरह की कथाएँ जुड़ी हुई हैं। कथा का पहला भाग शुद्ध घरेलू ढंग की कहानी है जिसमें दो विवाहों के दुखद पक्ष को उजागर किया गया है। इसमें वणिक पुत्र भविष्यदत्त के भाग्य की गाथा है जो अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के द्वारा कई बार छले जाने पर भी अंत में जिन-महिमा के कारण सुखी होता है। इस काव्य की कथा का मुख्य अंश यही है और कवि ने इसे आराम से चौदह संधियों में कहा है। चौदहवीं संधि के आरंभ में उसने स्वयं इस कहानी का सारांश इस प्रकार दिया है—

भविस्सयत्त कहा

उप्पण्णउँ चिरु वणि वरहँ गोत्ति
परिवड्ढिउ मामहँ सालि पुत्ति।
वाणिज्जें गउ सव्वायरेण
वंचिउ सावत्तिं भायरेण।
परिहविण गंपि नरनाहु दिट्ठु
तेणवि सम्माणिउं किउ वरिट्ठु।
हुअ बहु मंडलवइ नर-वरिंदु
उच्चाइउ निय-सुहि-सयण-विंदु।
एहउ जाणेविणु मच्चलोइ

1. श्री दलाल और गुणे द्वारा 'गायकवाड़ ओरएंटल सीरीज़' में सम्पादित, १९२३ ई०

मं करहु गव्व संपय-विहोइ ।
पारंपर-कव्वहं लहिउ भेउ
मइं भखिउ सरसइ-वसिण एउ ।

पूरी कथा इस प्रकार है कि राजपुर में धनपति नामक एक नगरसेठ रहता था। उसने उसी नगर के एक दूसरे वणिक हरिबल की कन्या कमल श्री से विवाह किया जिससे कुछ दिनों के बाद भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। न जाने पूर्व जन्म के किस कर्म के कारण धनपति का प्रेम कमलश्री से हट गया और उसने कमलश्री को पीहर भेजकर सरूपा नामक एक दूसरी लड़की से शादी कर ली। शीघ्र ही सरूपा से बंधुदत्त नामक पुत्र हुआ। जब बंधुदत्त सयाना हुआ तो पिता ने उसे वाणिज्य के लिए देशान्तर जाने की आज्ञा दी। बंधुदत्त ने अन्य अनेक वणिक-पुत्रों के साथ कंचनदेश की यात्रा की। भाई को व्यापार के लिए जाते देख भविष्यदत्त ने भी साथ हो लेना चाहा। कमलश्री ने पुत्र को बहुत मना किया कि बंधुदत्त के साथ मत जाओ; लेकिन भविष्यदत्त ने बंधुदत्त पर विश्वास करके यात्रा आरंभ कर दी। यात्रा पर जाने से पहले बंधुदत्त की माँ ने पुत्र को उपदेश दिया कि भविष्यदत्त को उठाकर समुद्र में फेंक देना और भविष्यदत्त की माँ ने सदाचार-पालन का उपदेश दिया। यात्रा आरंभ होने के कुछ ही दिनों बाद अचानक तूफ़ान आ गया और इस सार्थ की नौकाएँ तिलक द्वीप से जा लगीं। वहाँ उतरने पर जब भविष्यदत्त फूल आदि लेने कहीं चला गया, तो बंधुदत्त उसे उस द्वीप में अकेले छोड़कर चल पड़ा।

अकेला भविष्यदत्त इधर-उधर भटकते हुए एक ऐसी वैभवशाली नगरी में पहुँचा जो जनशून्य थी। वहाँ उसे एक सुन्दरी मिली और वहीं एक राक्षस भी आ टपका; उसने उन दोनों का विवाह करा दिया। बारह वर्ष तक उस नगरी में सुख-पूर्वक जीवन बिताने के बाद भविष्यदत्त अंत में अपार धनराशि लेकर अपनी पत्नी के साथ घर चलने को प्रस्तुत हुआ। ज्योंही वह किनारे पहुँचा, उसका भाई बंधुदत्त भी आ पहुँचा और उसने अपने किए पर पश्चात्ताप प्रकट किया। चलने से पहले भविष्यदत्त ज्योंही

जिन मंदिर में प्रणाम करने गया, बंधुदत्त उसकी पत्नी सहित सारी धन-राशि लेकर निकल गया। घर आकर बंधुदत्त ने भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी पत्नी बतलाया और विवाह इत्यादि की तिथि निश्चित कर ली। इधर भविष्यदत्त की माँ 'सुय पंचमी' व्रत रहती है और उधर भविष्यदत्त जिन की पूजा करता है। इन दोनों के फलस्वरूप उसकी मदद के लिए एक देव उपस्थित हुआ और उसने अपार धनराशि के साथ भविष्यदत्त को घर पहुँचा दिया। भविष्यदत्त ने घर पहुँच कर सारा भेद खोल दिया और राजा के पास न्याय की माँग की। राजा ने बंधुदत्त को दण्ड देकर भविष्यदत्त को उसकी पत्नी वापस करा दी। यहीं प्रथम खंड समाप्त होता है।

दूसरे खंड में क्रमशः दो प्रकार की कहानियाँ हैं। पहली तो यह कि कुरुराज और तक्षशिला नरेश में लड़ाई हुई जिसमें भविष्यदत्त ने महत्त्व-पूर्ण कार्य किया और उसी के पराक्रम से कुरुराज की जीत हुई। पुरस्कार स्वरूप राजा ने आधा राज्य और अपनी लड़की भविष्यदत्त को दी। कहानी का अंतिम मोड़ यह है जिसमें भविष्यदत्त के विविध पूर्व जन्मों की अद्भुत कहानियाँ कही गई हैं और जिनके सुनने पर वह अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य देकर तपस्या के लिए निकल पड़ा। इस प्रकार दूसरे खंड की कहानी ऊपर से जोड़ी हुई अथवा कवि द्वारा जान बूझ कर सोद्देश्य विकृत की हुई मालूम पड़ती है। कहानी के पहले खंड में लोक-कथा का जो सहज रस है, वह अंतिम खंड के सोद्देश्य मोड़ से नष्ट हो जाता है। संभवतः इसीलिए धनपाल ने स्वयं ही इस कथा के दो खण्ड कर दिए हैं।

काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं जहाँ धनपाल की काव्य-प्रतिभा स्फुट हुई है। लेकिन अनेक दृष्टियों से वह प्रसंग सर्वोत्तम है जब भविष्यदत्त तिलक द्वीप में अकेला छोड़ दिया जाता है और व्याकुल होकर इधर-उधर घूमता है। न जाने कितने बड़े-बड़े हौसले लेकर वह घर से निकला था, माँ को कितने-कितने वादे उसने किए थे। लेकिन अब सभी आशाओं पर पानी फिर गया। वह अकेले पड़ा-पड़ा सोच रहा है—

गयं णिप्फलं ताम सव्वं वणिज्जं।
हुवं अम्ह गोतम्मि लज्जावणिज्जं॥
ण जत्ता ण वित्तं ण मित्तं ण गेहं।
ण धम्मं, ण कम्मं, ण जीयं, ण देहं॥
ण पुत्तं कलत्तं, ण इट्ठं ण दिट्ठं।
गयं गयउरे दूर-देसे पइट्ठं॥

और ऐसे ही विषण्ण मन वाले व्यक्ति की आँखों के सामने वह उजाड़ नगरी पड़ती है जिसमें सब कुछ है, लेकिन कोई जीवित व्यक्ति नहीं है। देखकर लगता है कि सब कुछ सजा हुआ छोड़कर कोई कहीं चला गया है। वह देखता है कि—

वावि-कूव-सु-प्पहूव-सु - प्पसण्ण - वण्णयं
मढ-विहार-देहुरेहिं सुट्ठु तं रवण्णयं।
देव-मंदिरेसु तेसु अंतरं णियच्छए
सो ण तित्थु जो कयाइ पुजिऊण पिच्छए।
सुरहि-गंध-परिमलं पसुणएहिं फंसए
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए।
पिक्क सालि-धण्णयं पणट्ठयम्मि ताणए।
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि तं पराणए।
सर-वरम्मि पंकयाइं भमिर-भमर-कंदिरे
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइं मंदिरे।
हत्थ-गिज्झ वर-फलाइँ विभएण पिक्खए
केण कारणेण को वि तोडिउं ण भक्खए।

कितना बड़ा अभिशाप है कि प्रसून सुरभि-गंध-परिमल से स्पर्श कर रहे हैं लेकिन उन्हें हाथ से लेकर सूँघने वाला कोई नहीं है; पके हुये धान के दाने बिखर रहे हैं, लेकिन उन्हें घर ले आकर उपभोग करने वाला कोई नहीं है; सरोवरों में गूँजते हुये भौंरों से कमल घिरे हैं, लेकिन उन्हें तोड़कर मंदिर में ले आनेवाला कोई नहीं है और फलों के भार

से पेड़ स्वयं ही झुक आए हैं, लेकिन आश्चर्य है कि उन्हें चखने वाला कोई नहीं है !

और उपवन से आगे चलकर वह राजभवन के पास पहुँचता है तो उसका हृदय (मुँह नहीं) एक एक चीज को देखकर भर आता है। गवाक्षों को आधा खुला छोड़कर कोई चला गया है; जैसे वे किसी नव वधू की अधखुली आँखें हों। फलक पर गुह्य अन्तर्देश हैं, लगता है जैसे वे वनिताओं के अधखुले ऊरु-प्रदेश हों। भरे पूरे समृद्ध भाण्ड स्वयं अपना अन्तर्भाग दिखला रहे हैं जैसे नागिनी के मुकुट के चिन्ह हों। रंध्रों में एकधनाभिलाषी पुरुषों की तरह दीपक जल रहे हैं। योगियों की तरह अविचलित खम्भे खड़े हैं, जैसे सुरतारम्भ के समय मिथुन निवसन हो गये हों। गोपदों से परिवर्जित मार्गों वाले गोपुर दिखाई पड़ रहे हैं। जो महत्तर भवन बहुत दिनों तक जनाकुल थे, वे भी अब सुरत समाप्ति के मिथुनो की तरह निर्ध्वनि हो गए हैं। जो घाट पनिहारनियों के निरन्तर आने-जाने से नूपुरों की झनकार से गुंजित रहते थे, वे अब विधिवश निःशब्द हो गए हैं। यह सब देखते देखते भविष्यदत्त के अंग उन्मथित हो उठे और वह अपने शरीर के प्रतिबिंब को देखता हुआ धीरे धीरे संचरण करने लगा।

पिक्खइ मंदिराइं फल-अद्धुग्घाडिय-जाल-गवक्खइं
अद्ध-पलोइराइ णं णव-वहु-णयण-कडक्खइँ।
अह फलहंतरेण दारसिय-गुज्झंतर-देसइं
अद्ध-पयंधियाइं विलयाण व ऊरु-पएसइँ।
पिक्खइ आवणाइं भरियंतर-भंड-समिद्धइं
पयडिय-पण्णयाइं णं णाइणि-मउडइं चिंधइं।
एक्क धणाहिलास-पुरिसाइ व रंधि पलित्तइं
वरइत्त-जुवाणइं ण वड्ड-कुमारिहु चित्तइं।
जोएसर-विवाय-करणाइं व जोइय थंभइं
विहडिय-णेसणाइं मिहुणाण व सुरयारंभइं।

पिक्खइ गोउराइं, परिवज्जिय-गोपय-मग्गइँ
पासायंतराइं पवणुद्धुअ-धवल-धयग्गइं।
जाइं जणाउलाइं चिरु आसि महंतर भवणइँ
ताइं मि णि-ज्झुणाइं सुरयइं सम्मत्तइं मिहुणइं
जाइं णिरंतराइं चिरु पाणिय-हारिहु तित्थइं
ताइं वि विहिवसेण हूअइं णीसद्द सु-दुत्थइं।
सियवंत-णियाणइं णिइवि तहो उम्मादउ अंगइं भरइ।
पिक्खंतु णियय-पडिबिंब-तणु सणिणउं सणिणउं संचरइ॥

इस उजाड नगरी का वर्णन पढ़ते पढ़ते लोक-कथाओं की वह नगरी याद आ जाती है जो विपत्ति पड़ने के कारण रातों रात क्या से क्या हो जाती है! हाथी हथिमारे मर जाते हैं और घोड़ा घुड़सारे; सारा सोना कोयला हो जाता है और सभी नगर-निवासी जहाँ के तहाँ पत्थर हो जाते हैं।

'भविसयत्त कहा' जैसी लोक-कथाओं पर आधारित काव्य संभव है, अपभ्रंश में और भी लिखे गये हों और धीरे धीरे विद्वानों के प्रयत्न से प्रकाश में आएँ।

जैन मुनियों का रहस्यवादी काव्य

जैन मतावलम्बी कवियों के इन प्रबन्ध काव्यों से भिन्न जैन मुनियों की कुछ मुक्तक रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें जैन-प्रबंध काव्यों की सी साम्प्रदायिक गंध नहीं मिलती। जोइन्दु (१० वीं शताब्दी ईस्वी) का **परमात्म प्रकाश**[१] और **योगसार**[१] तथा **राम सिंह** (११०० ई० के आसपास) का **पाहुड़ दोहा**[२] ऐसी ही रचनाएँ हैं। साम्प्रदायिक सीमा में रहते हुए भी इनके रचयिता जैन मुनि उस सीमा से ऊपर उठकर अत्यन्त

१. डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा 'रामचंद्र जैन ग्रन्थमाला' में सम्पादित, १९३७ ई०

२. श्री हीरालाल जैन द्वारा 'कारंजा सीरीज़' में सम्पादित, १९३३ ई०

उदार ढङ्ग से अपनी बातें कहते दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार वैष्णव भक्त कवियों ने ब्राह्मण धर्म की सीमा म रहते हुये भी उससे ऊपर उठकर प्रायः ब्राह्मण धर्म को शास्त्रीय तथा आचार-संबंधी संकीर्णताओं के विरुद्ध विचार व्यक्त किया था, उसी प्रकार इन जैन मुनियों ने भी जैन धर्म की शास्त्रीय रूढ़ियों और बाह्याडंबरों के विरुद्ध लोक सामान्य के लिए सरल और उदार ढङ्ग से जीवन्मुक्ति का संदेश दिया। उद्देश्य में व्यापकता और विचारों में सहिष्णुता होने के कारण इन मुनियों की पारिभाषिक पदावली और काव्य की शैली भी सहज, सामान्य और लोक प्रचलित हो गई।

जोइन्दु और रामसिंह दोनों ही जैन मुनियों के विचारों में अद्भुत साम्य है, यहाँ तक कि किसी समय उपर्युक्त तीनों रचनाएँ एक ही कवि जोइन्दु की कृति मानी जाती थीं। पीछे अनेक ठोस प्रमाणों के आधार पर यह पुष्ट हो गया है कि ये दो भिन्न कवियों की कृतियाँ हैं। यों भी यदि 'परमात्मप्रकाश' और 'पाहुड़ दोहा' की भाषा-शैली की तुलना की जाय तो स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ेगा। 'परमात्म प्रकाश' की भाषा अधिक समास-बहुल, जटिल तथा 'ण-त्व' विधान-बहुल दिखाई पड़ती है, जब कि 'पाहुड़ दोहा' की भाषा पुरानी हिंदी के निकट की तथा बोलचाल की सरल उक्ति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त 'परमात्म प्रकाश' ज्ञान-गरिष्ठ और विचार-प्रधान है; जब कि 'पाहुड़-दोहा' में लोक-प्रचलित दैनंदिन जीवन के उदाहरणों के सहारे बड़े सजीव और मार्मिक ढंग से तत्व ज्ञान को ऊँचो-ऊँची बातें अनायास कह दी गई हैं।

परमात्म-प्रकाश

'परमात्म-प्रकाश' दो अधिकारों में विभक्त ३३७ छंदों में योजनानुसार लिखी हुई रचना है। इसमें तत्वज्ञान को विविध विषयों में बाँटकर एक-एक करके समझाया गया है; पहले अधिकार के विषय सामान्यतः आत्मा, परमात्मा, द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदि हैं और दूसरे अधिकार में मोक्ष के स्वरूप, मोक्ष के फल निश्चय

और व्यवहार, मोक्ष-मार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पाप-पुण्य की समानता, शुद्धोपयोग, तथा परमसमाधि की चर्चा है।

योगसार

'योगसार' 'परमात्मप्रकाश' की अपेक्षा अधिक सरल और मुक्त रचना है। विषय-विवेचन में स्पष्टतः किसी प्रकार की योजना अथवा क्रम का पता नहीं चलता। परमात्मप्रकाश की ही बातों को इसमें सुबोध तथा काव्योचित ढंग से कहने की कोशिश की गई है। 'परमात्म प्रकाश' से यह छोटी रचना है। इसमें कुल मिलाकर १०८ छंद हैं। जोइंदु की दोनों ही कृतियाँ अधिकांशतः दोहा छंद में ही हैं।

पाहुड़ दोहा

'पाहुड़ दोहा' दो सौ बाइस दोहों (यद्यपि इसमें दोहा के अतिरिक्त कुछ दूसरे छंद भी हैं) की छोटी सी रचना है। इसके संपादक श्री हीरालाल जैन के अनुसार जैनियों ने पाहुड़ शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के अर्थ में किया है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रायः सभी ग्रंथ 'पाहुड़' कहलाते हैं; यथा समयसार-पाहुड़, प्रवचन-सार-पाहुड़, भाव-पाहुड़, बोध-पाहुड़ आदि। गोम्मटसार जीवकांड की ३४१ वीं गाथा में इस शब्द का अर्थ 'अधिकार' बतलाया गया है; 'अहियारों पाहुडयं'। उसी ग्रंथ में आगे समस्त 'श्रुतज्ञान' को पाहुड़ कहा गया है[1]। इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त संग्रह को पाहुड़ कहते थे। 'पाहुड़' का संस्कृत रूपान्तर 'प्राभृत' किया जाता है जिसका अर्थ उपहार है। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रंथ के नाम का अर्थ 'दोहा का उपहार' ऐसा ले सकते हैं।"

रामसिंह राजस्थान के रहने वाले थे, इसलिए उनकी उपमाओं पर भी स्थानीय प्रभाव स्पष्ट है। अन्य कवियों ने चंचल मन की उपमा जिन पदार्थों से दी है, रामसिंह ने उन उपमाओं को छोड़कर मन की उपमा

१. पाहुड़ दोहा; भूमिका, पृ० १२

करहा (ऊँट) से दी है—शायद इसलिए कि उनके लिए गति की तीव्रता का प्रतीक 'करहा' ही हो।

'पाहुड़-दोहा' के रहस्यवाद पर विचार करते हुए श्री हीरालाल जैन ने लिखा है कि "इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित-चित, देह-देवली, शिव-शक्ति, संकल्प-विकल्प, सुगुण-निर्गुण, अक्षर-बोध-विबोध, वाम-दक्षिण मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तांत्रिक ग्रंथों का स्मरण आए बिना नहीं रहता।' इनकी भाषा सांकेतिक है और सांकेतिकता में इनकी समानता बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों और दोहा-कोषों से दिखाई पड़ती है।

लेकिन 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार और 'पाहुड़ दोहा' तीनों को एक साथ रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस तरह की रहस्यात्मक प्रवृत्ति[1] उन सबमें विद्यमान है। और यदि इन जैन मुनियों के दायरे से आगे बढ़कर उस समय के अन्य धर्मावलंबी संतों की रचनाओं पर दृष्टि-पात् किया जाय तो दिखाई पड़ेगा कि ऐतिहासिक रूप से वह युग ही ऐसा था जिसमें प्रत्येक धर्म के भीतर इस तरह के उदारमना चिन्तक कवि पैदा हुए थे जो अपने मत और समाज की रूढ़ियों का विरोध करते हुए मानवता की सामान्य भाव-भूमि एक साथ खड़े थे। भारतीय समाज में एक ओर स्थिति-स्थापक पुराण-पंथी रूढ़िवादी प्रवृत्ति और दूसरी ओर रूढ़ि-विरोधी

१. इन कवियों की रचनाओं के लिए 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग, किसी अधिक उचित शब्द के अभाव में ही किया जा रहा है। अंग्रेजी में इस तरह की रचनाओं के लिए 'मस्टिक' और 'मिस्टसिज़्म' शब्दों के प्रयोग की परंपरा सी चल पड़ी है। नाथ, सिद्ध और संत कवियों पर भी यही शब्द चस्पा किया जाता है और आधुनिक रोमैंटिक कवियों के लिए भी लागू होता है। व्यक्तिगत रूप से लेखक इस तरह के पुराने कवियों के लिए 'मिस्टिक' शब्द को अनुपयुक्त और भ्रामक समझता है।

नवोन्मेष-शालिनी शक्तियों का जो संघर्ष दिखाई पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति धार्मिक पदावली में उस युग के साहित्य में भी होती है। ये जैन-मुनि उसी नवोन्मेष की अभिव्यक्ति हैं। मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर खड़े होने के कारण ही इनका अन्य मतों से कोई विरोध नहीं है; सबके प्रति ये सहिष्णु हैं और इनका विश्वास है कि सभी मत एक ही दिशा की ओर ले जाते हैं और एक ही परम तत्व को विविध नाम से पुकारते हैं—

जो परमप्पउ परम-पउ, हरि-हर-बंभुवि बुद्ध ।
परम-पयासु भणंति मुणि, सो जिण-देउ विसुद्धु ॥

(परमात्म-प्रकाश, ३२३)

सो सिउ-संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्धु ।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धु ॥

(योगसार, १०५)

ये इतने मुक्तमन थे कि प्रकाश जहाँ से भी मिले, उसे स्वीकार करने के पक्ष में थे। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रायः कविजन अपने अपने आराध्य देव, साम्प्रदायिक देव अथवा गुरु की वंदना करते हैं; लेकिन रामसिंह ने प्रकाश दाता-मात्र को अपना गुरु माना है चाहे वह सूर्य हो, चाहे चन्द्रमा, चाहे ज्ञानी। इसी तरह जोइन्दु ने भी ज्ञान-मात्र को सर्वोपरि मानकर उस परमात्म की वंदना सबसे पहले की है जो 'नित्य-निरंजन-ज्ञानमय' है।

प्रकाश और ज्ञान के ऐसे खोजियों के लिए स्वाभाविक है कि पुस्तकों के तथाकथित ज्ञान को ही ज्ञान न समझें। शास्त्र ज्ञान-शोध के लिए अधिक से अधिक सहायक हो सकता है, वह ज्ञान की पराकाष्ठा नहीं हो सकता। साम्पदायिकता शास्त्रों से ही बनती है, संकीर्ण मर्यादाएँ विभिन्न मत के ग्रन्थों से ही निर्धारित होती हैं। फलतः इन मुनियों ने अक्षर-ज्ञान तथा पुस्तक-ज्ञान का विरोध किया।

'सत्थु पढंतुवि होइ जडु' (प० प्र०, २०६); अथवा

'चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिं, तूसइ मूढु णिभंतु।' (प० प्र०, २११), या

'धम्मु ण पढ़ियइँ होइ बढ, धम्मु ण पोत्था पिच्छियइँ।'

(योगसार, ४७)

और 'बहुयहिं पठियइँ मूढ पर, तालू सुक्कइ जेण।

एक्कुजि अक्खरु तं पठहु, सिवपुरि गम्मइ जेण॥' (पा० दो०, ९७)

'षड्दर्शन' का विरोध जो रामसिंह आदि ने किया है, वह इसलिए कि उन्होंने एक ही देव के छह भेद कर दिये और इस तरह उनसे भेद-भावना का प्रसार होता है। व्यवहार के क्षेत्र में यह शास्त्र-विरोध और अक्षर-खण्डन धर्म के ठेकेदार पंडितों और पुरोहितों पर सीधा प्रहार था; दूसरी ओर इसके द्वारा उस जन-साधारण के लिए ज्ञान का सहज द्वार खुल गया, जिन्हें पढ़ने लिखने की सुविधा प्राप्त न हो सकी थी।

अब प्रश्न यह है कि कोरे अक्षर-ज्ञान का विरोध करके इन मुनियों ने जो 'एक अक्षर' पढ़ने की राय दी, वह एक अक्षर क्या है? कोई मंत्र है या किसी का नाम है जिसका जाप किया जाय?

मुनियों ने कहा कि आत्म ज्ञान ही वह एक अक्षर है, जिसके बाद और कुछ जानना नहीं रहता। आत्मा ही आत्मा को प्रकाशित करती है जैसे रवि का राग अंबर को।

'अप्पु पयासइ अप्पु पइ, जिम अंबरि रवि राउ।

सिद्धों ने जिसे 'स्वक्-संवित्ति' अथवा 'स्वसंवेद्य ज्ञान' कहा है, उसे ही इन मुनियों ने आत्म-ज्ञान नाम दिया है। शास्त्र ज्ञान से अनुभव-ज्ञान बड़ा है, यह घोषणा करके इन मुनियों ने सामान्य जन को ज्ञान का बहुत बड़ा आत्म-बल दे दिया।

जब आत्म-ज्ञान तथा अनुभव-सात्विक ज्ञान ही सर्वोपरि है तो वह सबके बूते की बात हो सकती है। यह अनुभव-सात्विक-ज्ञान इसी देह और मन से संभव है। इसलिए यह देह-मन उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। यही कारण है कि इन मुनियों ने धर्मोपदेशकों द्वारा अपवित्र कही जाने वाली देह को 'देवल' अथवा देव मन्दिर की गरिमा प्रदान की।

देहा-देवलि जो वसइ, देउ अणाइ-अणंतु। (प० प्र०, ३३)

मूढा, देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
देहा-देवलि देउ जिणि, सो बुज्झहि समचित्ति ॥ (योगसार, ४४)
देहा-देवलि जो वसइ, सत्तिहि सहियउ देउ ।
को तहिं जोइय सत्तसिउ, सिग्घु गवेसहिं भेउ ॥
(पा० दो०, ५३)

ऐसी स्थिति में जब कि यह देह-मंदिर ही उस परमात्म का निवास-स्थान हो, अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता तो इस बात की है कि परमात्म के आवास इस देह-मदिंर को स्वच्छ और पवित्र रखा जाय। चित्त की निर्मलता पर ज़ोर देने का यही कारण है, क्योंकि निर्मल मन में ही उस देव का निवास संभव है उसी तरह जैसे सरोवर में हंस लीन रहता है—

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ, णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरिवरि लीणु जिम, महु एहउ पडिहाइ ॥
(प० प्र०, १२२)

देह और मन की पवित्रता तभी सम्भव है जब इसके तथा इसके कार्यों में आसक्ति न हो। जो देह-मन में वास करता हुआ भी उसमें वास न करे, उससे कार्य करता हुआ भी न करे उसे जोइंदु और रामसिंह दोनों ने 'उव्वस वसिया' कहा है। यह मन की वह स्थिति है जिसमें पाप और पुण्य दोनों के प्रति आसक्ति नहीं रहती।

आत्मा की इसी स्थिति को इन मुनियों ने 'समरस भाव' कहा है। उस स्थिति में आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं रह जाता; आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है; दूसरे शब्दों में आत्मा परमात्मा हो जाती है।

मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसर जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुज्ज चडावउँ कस्स ॥
(पा० दो०, ४९)

जो परमप्पा सो जि हउँ, जो हउँ सो परमप्प ।
(प० प्र०, २२)

यही परम ज्ञान है और यही परम मोक्ष है क्योंकि ज्ञान ही मोक्ष है—
'णाणिं मुक्ख न भंति' (प० प्र०, १९६)।

ज्ञान की सूक्ष्म शब्दावली में कही हुई यह बात व्यवहार में सामान्य जन के लिए बहुत बड़ा सहारा साबित हुई। आत्मा-परमात्मा की गूढ़ बात न समझते हुए भी इन दोहों को पढ़कर अथवा सुनकर साधारण आदमी जो शक्ति का अनुभव करता है, उसका यही रहस्य है कि वह शरीर को ही परमात्मा का निवास समझकर आत्म-गौरव अनुभव करता है; वह अनुभव करता है कि यदि एक ही परमात्मा बिना किसी वर्ण-जाति-भेद के सभी देह- मन्दिरों में निवास कर सकता है, तो उसे समरस भाव बनाए रखने के लिए शुचिता का आचरण क्यों न किया जाय। इस प्रकार वह शुचिता और समरसता की ओर अग्रसर होता हुआ आत्म-गौरव का अनुभव करता है। पूजा-पाठ का अवकाश, मन्दिर-प्रवेश की अनुमति, तीर्थ-यात्रा के स्थान, शास्त्र-अध्ययन की सुविधा आदि न मिलने पर भी पवित्रता के द्वारा परमपद को पाने का संदेश कितने बड़े आश्वासन का विषय हो सकता है, इसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इन मुनियों ने यही महान संदेश दिया था।

बौद्ध सिद्ध कवियों की रहस्य-साधना

जैन मुनियों की तरह लगभग उन्हीं के समकालीन पूर्वी प्रदेशों के रहने वाले बौद्ध सिद्धों ने भी रहस्यवादी कविताएँ लिखीं। इनमें से सरह पा अथवा 'सरोरुह बज्र' (८वीं शताब्दी ईस्वी) तथा काण्ह पा या कृष्ण पाद आचार्य (१०वीं शताब्दी ईस्वी) के दोहा कोष[1] अधिक प्रसिद्ध हैं। दोहा कोषों के अतिरिक्त इन दोनों सिद्ध आचार्यों की और भी कई रचनाएँ मिलती हैं, किंतु सब की भाषा ठीक-ठीक अपभ्रंश हो

१. डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'जर्नल ऑव दि डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स', जिल्द २८ में सम्पादित, १९३५ ई०

नहीं कही जा सकती। इनकी गीतियाँ प्रायः देश्य-मिश्रित अपभ्रंश में लिखी गई प्रतीत होती हैं। दोहों की भाषा पर भी पूर्वी प्रदेशों की स्थानीय बोली की गहरी छाप है, फिर भी उनका ढाँचा मूलतः साहित्यिक अपभ्रंश का ही है। फिर भी आधुनिक विद्वानों ने सिद्धों की भाषा को लेकर कभी उन्हें पुरानी बँगला का कवि कहा है और कभी पुरानी हिंदी का।

जैन मुनियों की तरह सिद्धों ने भी शास्त्र-ज्ञान, मंत्र, मंदिर, तीर्थाटन आदि बाह्याचारों का खंडन किया है। अपने संस्कार के अनुकूल इस खंडन-कार्य में जैन-मुनियों का स्वर जहाँ मद्धिम दिखाई पड़ता है, वहाँ सरह और काण्ह अत्यत उग्र दिखाई पड़ते हैं; इन्होंने बड़े ही लठमार ढंग से अपनी बातें कही हैं। जैसे पाखंड का खंडन करते हुए सरह कहते हैं—

बाम्हणहि म जाणन्त हि भेउ।
एँवइ पढ़ियउ ए चउ बेउ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढंत।
घरहीं बइसी अग्गि हुणंत॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमें।
अक्खि डहाविअ कडुए धूमें॥
रंडी-मुडी अण्ण, वि वेसें।
दिक्खिज्जइ दक्खिण उद्देसें॥

जइ णग्गाविअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह।
लोम उपाडण अत्थि सिद्धि, ता जुवइ-णिअम्बह॥
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह।
उञ्छ भोजणे होइ जाण, ता करिह तुरंगह॥

शास्त्र ज्ञान के विरुद्ध ये सिद्ध कवि भी 'स्व-संवेद्य ज्ञान' को सर्वोपरि मानते हैं। सरह ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'सअ-संविती तत्तफलु' अर्थात् 'स्वक-संवित्' ही तत्त्वफल है। शास्त्र का पढ़ना वे उसी हद तक उचित

समझते थे जिससे शास्त्र से मुक्त हुआ जा सके। सरह के अनुसार 'तावँ से अक्खर घोलिआ, जाव णिरक्खर होइ।'

इन सिद्ध कवियों का भी आदर्श 'समरसता' है। जरामरण से मुक्ति तभी मिलती है, जब सहज भाव से चित्त को निश्चल करके 'समरस' से राग किया जाय। कारह के अनुसार—

सहजे णिच्चल जेण किअ, समरसें णिअ-मण-राअ।
सिद्धो सो पुणि तक्खणे, णउ जरामरणह भाअ॥

लेकिन जैनियों से इनमें विशेषता यह थी कि 'सहज' मार्ग पर ये विशेष बल देते थे। काय-क्लेश इन्हें पसंद न था। सरह ने अपने से बाहर मोक्ष को ढूँढने वाले तथा ज्ञान-विडंबित भेष वाले क्षपणकी मोक्ष की खूब खिल्ली उड़ाई है और अंत में—

सरह भणइ खवणाण मोक्ख, महु किम्पि न भावइ।
तत्त-रहिअ काआ ण ताव, पर केवल साहइ॥

कभी वे सहज ढंग से जीवन यापन का आग्रह करते हुए पशुओं की तरह वन्य जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करते हैं।

सरहे गहण गुहिर मग कहिआ।
पसू लोअ निव्वहि जिम रहिआ॥

इसे अभिधा में न लेकर सामाजिक आडंबर की तीव्र प्रतिक्रिया ही समझना चाहिए। इससे उनके सामाजिक असंतोष का अनुमान लगाया जा सकता है। जीवन में सहज का व्यावहारिक रूप था गृहस्थ और संन्यस्त स्थितियों के दो छोरों के बीच गृहस्थ जीवन में ही अनासक्त होने का प्रयत्न करना। इसी बात को 'घर' और 'बन' के प्रतीकों द्वारा सरह कहते हैं—

घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण।

जैन मुनियों ने जीवन के इस रागपूर्ण पक्ष पर ज़ोर नहीं दिया था। वे अधिक से अधिक देह को देवल कहकर ही रुक गए। बौद्ध सिद्धों ने राग

में विराग की स्थापना को और राग को विराग का आवश्यक साधन माना। सरह का कहना है—

घरबइ खज्जइ सहजे रज्जइ, किज्जइ राअ-विराअ।
णिअ पास बइट्ठी चित्ते भट्ठी, जोइणि महु पडिहाइ॥

इसी बात को कारह ने 'घरणी' के रूपक से कहा है। इस तरह इन सिद्ध कवियों ने जीवन के राग-विराग में भी समरसता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस सहज समरसता को ही उन्होंने 'परम महासुख' कहा है।

कुल मिलाकर सिद्धों की रचनाओं में जीवन के प्रति बहुत बड़ा स्वीकारात्मक दृष्टिकोण है। उनके दर्शन का यही वह रचनात्मक पक्ष है जो उन्हें आशावादी बनाए रखता है। इतने अधिक विरोधों के सम्मुख अडिग रहना उनके आशावाद का पक्का प्रमाण है।

उनके कथन में रहस्य कहीं नहीं है, जो है सब स्पष्ट है; हाँ यदि कहीं-कहीं गुह्य शब्दावली दिखाई पड़ती है तो उसे उनकी अनिवर्चनीयता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में ही समझना चाहिए। कुछ पारिभाषिक शब्द प्रायः सभी लोगों के तकियाकलाम बन जाते हैं; सिद्धों के साथ भी यह कमजोरी लगी रही। कभी-कभी अपने 'परम महासुख' की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए जब सरह कहते हैं कि जहाँ मन, पवन का संचार न हो, जहाँ रवि-शशि का प्रवेश न हो अथवा जब वे 'गगन-गिरि की नदी में जल पीने की' चर्चा करते हैं तो इनके द्वारा असीम और अलौकिक की ओर अस्पष्ट रूप से संकेत करना चाहते हैं। कुल मिलाकर इनके कहने में एक शक्ति है, प्रहार में निर्भीकता है, भावों में सीधे दिल को छूने की ताकत है और भाषा में अनगढ़ सौन्दर्य है।

शृङ्गार और शौर्य का रोमांस काव्य

अपभ्रंश में जैन पण्डितों, मुनियों और बौद्ध सिद्धों के धार्मिक साहित्य के बीच ऐहिक जीवन को लेकर लिखी हुई वीर और शृंगार की

ललित रचनाएँ भी मिलती हैं। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संकलित रचनाओं का अधिकांश ऐसा ही है। कहा नहीं जा सकता कि हेमचन्द्र ने यह मधुर मधुचक्र किन किन काव्य-ग्रन्थों से तैयार किया है। इनके रचयिता कवियों का नाम अज्ञात है। हेमचन्द्र के व्याकरण में जो नीति, अन्योक्ति अथवा धर्म संबंधी रचनाएँ हैं उनमें से कुछ का आदि स्रोत तो जैन काव्य-ग्रन्थों में मिल गया है। लेकिन शौर्य और शृङ्गार के ऐसे बहुत से दोहे हैं जिनका आदि स्रोत अभी तक अज्ञात है। चाहे इनके रचयिता जैन कवि हों अथवा जैनेतर लोक कवि, इतना निश्चित है कि संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य में इनका सौन्दर्य सबसे अलग है। जैन मुनियों की आचार प्रधान सूक्तियों के बीच उत्साह और दर्प से भरे हुये उस काव्य को देखकर साफ मालूम होता है कि वह आभीर गोप गुर्जर आदि युद्ध-प्रिय जातियों का उन्मुक्त हृदयोद्गार हैं। युद्धों का वर्णन तो अपभ्रंश के अनेक चरित काव्यों और पुराणों में भी मिलता है, लेकिन उनमें हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों के टाप की आवाज़ और शस्त्रों के नाम की लम्बी सूची ही अधिक मिलती है; सच्चे वीर हृदय का उत्साह वहाँ कहाँ? यदि ऐसा शौर्य देखना हो तो हैम व्याकरण के इन उदाहरणों को देखें। यहाँ पुरुष का पौरुष ही नहीं, उसके पार्श्व में वीर रमणी का दर्प भरा प्रोत्साहन भी मिलेगा—यदि एक ओर शिव का ताण्डव है तो दूसरी ओर उनके पार्श्व में शक्ति का लास्य भी है। कहाँ हैं ऐसी औरतें जिन्हें युद्ध के बिना उदास लगता है। औरतें तो सामान्यतः मनाया करती हैं कि किसी तरह प्रिय लड़ाई-भिड़ाई के कामों से छुट्टी पाकर आए तो उसे अंचल तले ढाक कर रखें और सुख-शान्ति पूर्वक कुछ दिन बिताएँ; लेकिन यहाँ प्रिया कहती है—

हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण के दोहे

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुँ, पिय तहिं देसहिं जाहुँ।
रण-दुब्भिक्खें भग्गाइं, विणु जुज्झें न बलाहुँ॥

प्रिय, यह किस देश में आ गए? जब से यहाँ आए युद्ध का अकाल

पड़ा हुआ है। अरे किसी ऐसे देश में चलो जहाँ खड्ग का व्यवसाय होता हो। हम तो युद्ध के बिना दुबले हो गये और अब बिना युद्ध के स्वस्थ न होंगे।

लेकिन इस वणिग् सभ्यता के शस्त्र-व्यवसायी कहीं ऐसा न समझ लें कि यह किसी तलवार-बेचने वाले दम्पति की बात-चीत है!

औरतें गौरा-पार्वती से न जाने क्या क्या वरदान माँगती हैं? अक्सर तो बेटी-बेटा ही माँगती है और यदि बेटी-बेटा हैं तो धन माँगती हैं और यदि धन भी हुआ तो अचल सुहाग माँगती हैं; लेकिन इस काव्य-लोक की यह नारी अद्भुत है। माँगती क्या है कि—

आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि, गोरि सु दिज्जहि कंतु।
गय-मत्तहं चत्तंकुसहं जो अब्भिडइ हसंतु॥

और वह घर बैठे बैठे वरदान ही नहीं माँगा करती, स्वयं भी लड़ाई के मैदान में जाकर पति को समय समय पर परामर्श देती रहती है। देखती है कि पति तलवार से भटों का सिर भग्न करता चला जा रहा है। उसे सहसा बेचारे कपालिकों की याद आ जाती है कि वे अभग्न कपाल के अभाव में आज साधना कैसे करेंगे? इसलिये झट कहती है—

प्रिय, एम्बहिं करे सेल्लु करि, छड्डहि तुहु करवालु।
जं कापालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कवालु॥

उधर पति देव कैसे हैं? युद्ध में लड़ते लड़ते पावों में अपनी अतड़ियाँ उलझ गई हैं, सिर कंधे पर झूल गया है फिर भी हाथ तलवार से नहीं हटा है—

पाइ विलग्गी अंत्रडी, सिरु ल्हसिउ खंधस्सु।
तोवि कटारइ हत्थडउ, बलि किज्जउं कंतस्सु॥

इतना ही नहीं, कभी कभी उनका दान इस सीमा तक पहुँच जाता है कि घर का सब कुछ देते देते केवल प्रिया बच रहती है और युद्ध में तो अपने आप को भी लुटा देते हैं, केवल तलवार बच रहती है—कितनी समानता है! इधर तलवार बची और उधर उससे भी पैनी प्रिया। केवल

उन दोनों का सहारा हाथ चला गया। और इतने बड़े सत्य को नायक स्वयं नहीं कहता, कहती है उसकी वही प्रिया—

देन्तहो हउँ परि उव्वरिअ, जुज्झन्त हो करवालु।

नायिका कहती है कि मेरे कंत के ये दो दोष हैं! सच?

यहाँ ऐसे ऐसे स्वामिभक्त भट दिखाई पड़ते हैं कि युद्ध के मैदान में स्वामिकार्य के लिये कौन पहले जूझे—इसी होड़ में वे आपस में ही जूझ मरते हैं; स्वामी का काम धरा रह जाता है। कवि कहता है कि ऐसे उत्साही भटों को बीड़ा देना भी बेकार है—

ते मुग्गडा हराविआ, जे परिविट्ठा ताहँ।
अवरोप्परु जोअंताहं, सामिउ गंजिउ जाहं॥

इस काव्य-जगत में उत्साह का भाव केवल रण-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में चलने वाले संघर्ष में भी उसी प्रकार की प्रेरणा दी जाती है। किसान जीवन भर अपनी छीनी गई जमीन को फिर से पाने के लिये लड़ता रहा लेकिन नहीं ले सका। अंत में जब उसने अपने लड़के को सयाना होते देखा और यह भी देखा कि वह उस भूमि के लिये प्रतिकार नहीं करता तो मरते-मरते धिक्कारता गया—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भूंहडी, चंपिज्जइ अवरेण॥

ऐसे ही शूरवीर, उत्साही और कर्मठ नरनारियों का प्रेम भी उस मुक्तक-माला में व्यक्त हुआ है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे स्वस्थ तन और स्वस्थ मन वालों का स्नेह कैसा हो सकता है? पलङ्ग पर पड़े पड़े विरह में कराहने वाले नागर जनों का यह प्रेम नहीं है और नहीं है दिन-दहाड़े घर में घात लगाये बैठे रहने वालों छैलों का का यह रति रङ्ग। यहाँ विरह-तप्त नायिका के ऊपर गुलाब-जल और इत्र की शीशी नहीं खाली की जाती। इस काव्य-लोक की नायिकाएँ भी आभूषणों और वस्त्रों की दुकान नहीं हैं। नायिका के वेश-विन्यास का तो यह हाल है कि—

सिरि जरि-खंडी लोअड़ी, गलि मड़ियड़ा न बीस !
फिर भी उसके रूप-गुन का जादू तो देखिए कि—
तो वि गोट्ठड़ा कराविआ मुद्धहे उट्ठ बईस।

इस सीधे सादे निर्धन लोक-जीवन का सौन्दर्य ही ऐसा है कि इसके गोठ में अपने को बहुत लगाने वाले जवान रसिकों को भी उठक-बैठक करनी पड़ती है। कौन कहे, कि यह कविता भी ऐसी ही है, जिसमें न झीना आवारण है न अलंकृत आभरण, फिर भी इसने बड़े-बड़े अलंकार-वादी पण्डितों को अपने जादू से उट्ठ-बईस करा दिया।

नायिका अभी अच्छी तरह वयस्क नहीं हुई है। शरीर पर जो कुछ है, सब तुच्छ ही है। मध्य भाग तुच्छ है और रोमावली तुच्छ है इस पर से तुच्छ हास और तुच्छ जल्पना ! लेकिन इसके बाद जो सबसे तुच्छ वस्तु है वह तो कहने में भी नहीं आ सकती !

कटरि थणंतरु मुद्धडहे जे मणु विच्चि न माइ

स्तनों के बीच की दूरी की कमी तो बहुत जगह देखी गई लेकिन यह जगह इतनी कम होगी कि उसमें नायक का मन भी न अमाएगा—यह तो यहीं सुना और इसी मुग्धा के यहाँ देखा।

धीरे-धीरे यह स्तन इतने उत्तुंग हो जाते हैं कि नायिका उनसे परेशान हो उठती है क्योंकि अब उनसे लाभ की जगह हानि होने लगी है—उनके कारण प्रिय उसके अधरों तक पहुँच ही नहीं पाता ! बेचारी इतनी भोली है कि प्रिय के अधरों को तो दोष दे नहीं सकती है कि वे गन्तव्य तक पहुँचने से पहले ही क्यों विरम जाते हैं, इसलिये वह अपने ही अंगों पर खीझ प्रकट करती है —

अइ तुंगत्तणु जं थणहं, सो छेयउ, न हु लाहु।
सहि, जइ केम्वइ तुडि-वसेण अहरि पहुच्चइ नाहु॥

ऐसी ही नायिका विष की गाँठ होती है, लेकिन मामूली विष की गाँठ नहीं, 'नवखी कवि विस-गंठि'। इसका नोखापन यह है कि

भडु पच्चलिओ सो मरइ, जासु न लग्गइ कंठि।

यह नोखापन शरीर तक ही सीमित नहीं रहता; इसका प्रसार हृदय के विविध व्यापारों तक दिखाई पड़ता है। नायिका का प्रिय दोषी है—यह बात वह न जाने कितने मुँह से सुन चुकी है और उन युक्तियों के विरुद्ध उसके पास कुछ भी तर्क नहीं है। वह अपने मन से लाचार है। जब एक सखी फिर कहने आती है, तो नायिका उससे नम्रता के साथ कहती है—

भण सहि, निहुअउँ तेवं मइं, जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु॥

जब प्रिय सदोष है तो ऐसी बात एकांत में कहो, लेकिन ऐसे एकांत में कि मेरा मन भी न जानने पाए क्योंकि वह तो प्रिय का पक्षपाती है! भला ऐसी नायिका को एकांत कहाँ!

पुरुष युगों से स्वेच्छाचारी होते ही आए हैं। कहीं के कहीं रम गए! लेकिन नारी उसे कैसे छोड़ दे? आग से घर जलता ज़रूर है, फिर भी उससे काम लेना कोई कैसे छोड़ दे?

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ, तोवि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु, तो तें अग्गि कज्जु॥

प्रिय की अनुपस्थिति में नायिका मन ही मन नाना प्रकार के संकल्प करती है। इस बार उसने ऐसी क्रीड़ा करने का इरादा किया, जैसी कभी नहीं की थी! क्रीड़ा यही कि जिस तरह मिट्टी के नए बर्तन में रखते ही पानी उसके कण कण में भिद जाता है, उसी तरह मैं उसके सर्वाङ्ग में प्रवेश कर जाऊँगी!

जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु॥

लेकिन पहले वह मिले तो सही!

वह मन ही मन संकल्प करती है कि प्रिय आएगा, मैं रूठूँगी और मुझ रूठी हुई को वह मनाएगा; लेकिन उसकी सारी रातें ऐसे ही मनोरथों में नित्य बीत जाती हैं! आख़िर प्रिय आता है तो सारे मनोरथ ताक पर धरे रह जाते हैं—

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिंतिज्जइ माणु ।
पिय दिट्ठे हल्लोहलेण, को चेअइ अप्पाण ॥

मन किस तरह धोखा दे गया । मान वह करे जिसकी अवस्था स्वस्थ हो । यहाँ तो प्रिय को देखते ही हड़बड़ी में अपान ही विसर जाता है !

इस तरह प्रणयी जीवन के इन दोहों में वह सादगी, सरलता और ताज़गी है जो हिंदी के समूचे रीति काव्य में भी मुश्किल से मिलेगी। कला वहाँ ज़रूर है, चातुरी वहाँ खूब है, एक एक शब्द में अधिक से अधिक चमत्कृत करने की शक्ति भी हो सकती है, मतलब यह कि वहाँ गागर में सागर भरने की करामात हो सकती है लेकिन गागर में गागर जितना ही अमृत भरने की जो चेष्टा यहाँ है— उस पर रीझने वाले सुजान भी कम नहीं हैं। कठिन काम गागर में सागर भरना हो सकता है; लेकिन गागर में अपना हृदय भर देना कहीं अधिक कठिन है ! हैम व्याकरण के इन दोहों की गागर ऐसी ही है! आर्या और गाहा सत्तसई की तरह इस दोहावली के भी एक-एक दोहे पर दर्जनों प्रबन्ध काव्य निछावर किए जा सकते हैं ।

मुंज के दोहे

ऐसे ही मनोहर मुक्तक प्रबन्ध चिंतामणि में संकलित मुंज के अपभ्रंश दोहे हैं। पता नहीं ये दोहे मुंज के जीवन पर लिखे हुए किसी प्रबन्ध काव्य के कुछ अवशिष्ट मणि हैं, अथवा मुक्तक रूप में ही लोक-परम्परा में चल पड़े थे ! फिर भी एक एक दोहे में पूरे प्रसंग का मार्मिक निष्कर्ष भरा पड़ा है। मुंज की कहानी अपने आप में इतनी काव्यात्मक है कि ये सीधे सादे दोहे भी प्रसंग-गर्भत्व के कारण हृदय पर सीधे चोट करते हैं। तैलपराज की कैद में पड़ा हुआ मुंज अपने किए पर झंख रहा है। एक तो उसने अपने मंत्री रुद्रादित्य मेहता के मना करने पर भी गोदावरी पार कर तैलप पर चढ़ाई की और अपने उस शुभचिंतक मंत्री को खो दिया; दूसरे यहाँ आने पर तैलप-भगिनी मृणालवती पर विश्वास करके भाग निकलने की

बनी बनाई योजना उससे कह दी और इस तरह अपनी जान ही नहीं, अपने साथियों की भी जान ख़तरे में डाली। इतनी भूलों का फल उसे भोगना पड़ा और वह भी इस रूप में कि उसे रस्सी में बाँध कर घर घर उससे भीख मँगवाई गई। मुंज के दोहों में उसके इन्हीं अनुभवों की पीड़ा है! दो-एक दोहे बानगी के लिए—

झोली तुट्टवि किं न मुअ, किं हुअ न छारह पुंज।
हिण्डइ दोरी दोरियउ, जिम मंकडु तिम मुंज॥
गय गय, रह गय, तुरय गय, पायकड़ानि भिच्च
सग्गट्ठिय करि मंतणउँ महता रुदाइच्च॥

ऐसे ही विखरे हुए मुक्तकों को कथा के महीन सूत्र में पिरोकर **अब्दुल रहमान** (१२ वीं शताब्दी ईस्वी) ने **संदेश रासक** नामक सुंदर गीत-हार रचा है। यह तीन 'प्रक्रमों' में विभाजित दो सौ तेइस छंदों की छोटी सी रचना है। प्रथम प्रक्रम में मंगलाचरण, कवि का व्यक्तिगत परिचय, ग्रंथ रचना का उद्देश्य तथा कुछ आत्म निवेदन है। इस तरह कवि ने आरंभ के तेइस छंदों में भूमिका बाँधने के बाद दूसरे प्रक्रम से मूल ग्रंथ आरंभ किया है। कथा-सूत्र इतना ही है कि विजयनगर

संदेस रासक

की एक प्रोषित-पतिका अपने प्रिय के वियोग में रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते हुए एक बटोही को देखती है और दौड़कर उसे रोकती है। पथिक को रोककर वह पूछती है कि कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे? पथिक बतलाता है कि मैं सामोर से आ रहा हूँ और स्तम्भतीर्थ जा रहा हूँ। इसी सिलसिले में वह सामोर नगर के पेड़ पौदों और नागरिक जीवन का वर्णन करता है। स्तम्भ तीर्थ का नाम सुनते ही नायिका भाव-विह्वल हो उठती है और पथिक से निवेदन करती है कि अर्थ-लोभ के कारण मेरा प्रिय मुझे छोड़कर वहाँ चला गया है इसलिए कृपा करके उसके पास मेरा सन्देश लेते जाओ। इस तरह वह थम थम कर धीरे-धीरे अपनी विरह-व्यथा कहती जाती है। पथिक बीच-बीच में जाने को जल्दी मचाता है, फिर भी

नायिका के रुदन पर रुक जाता है और कुछ बातें और सुन लेता है। अंत में वह पूछता है कि तुम्हारा पति किस ऋतु में तुमसे अलग हुआ ? यह प्रश्न नायिका के मर्म को छू लेता है; उसे याद आता है कि वह ग्रीष्म ऋतु थी जब उसका प्रिय उसे छोड़कर परदेश गया। तब से पूरे साल भर हो गए। यह सब स्मरण आते ही वह क्रमशः छहो ऋतुओं में अपनी दशा का वर्णन कर जाती है। काव्य का तीसरा प्रक्रम इसी षडऋतु-वर्णन के लिए रचा गया प्रतीत होता है।

पथिक को सन्देश देकर नायिका ज्यों ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा में उसका प्रिय आता हुआ दिखाई पड़ जाता है। ग्रंथ का अंत करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार उसका कार्य अचानक सिद्ध हो गया, उसी प्रकार इस काव्य को पढ़ने सुनने वालों का भी सिद्ध हो। जो अनादि और अनंत है, उसकी जय हो।

'संदेश रासक' के कथा-सूत्र से स्पष्ट है कि कवि को कथा से कोई विशेष मतलब नहीं है; उसे सामोर नगर के जीवन, पेड़-पौधों तथा षड्-ऋतु वर्णन के साथ मुख्यतः एक प्रोषित-पतिका नायिका की विरह-वेदना का वर्णन करना है; इन सभी वर्णनों को एक सूत्र में बाँधने के लिए ही उसने पथिक की अवतारणा की है अन्यथा सभी छंद अपने आप में स्वतंत्र हैं और मुक्तक का सा रस उत्पन्न करते हैं। कलिदास के 'मेघदूत' की भाँति 'संदेश रासक' भी विभिन्न मुक्तकों की एक मणिमाला है।

'रासक' अथवा 'रास' नाम से लिखे हुए काव्य-ग्रंथ अपभ्रंश में तथा उसके बाद पुरानी राजस्थानी और हिंदी में भी मिलते हैं लेकिन विषय को देखते 'संदेश रास' उन सबसे भिन्न है। इससे मिलता-जुलता केवल एक 'रास-काव्य' राजस्थानी में है—'वीसल देव रास'। अन्यथा अन्य रास काव्य एक तरह से 'चरित काव्य' हैं जिनमें किसी राजा के युद्ध और विवाह की कहानी वर्णित दिखाई पड़ती है।

अपभ्रंश में 'संदेश रास' अपने ढंग का अकेला काव्य भले हो, परंतु इसके पीछे इस तरह के काव्यों की परंपरा का आभास मिलता है

क्योंकि 'रास' काव्य के जो लक्षण अपभ्रंश के आचार्यों ने दिए हैं, उनमें से एक लक्षण 'संदेश रास' पर भी लागू होता है। 'स्वयंभूच्छंद' में 'रास' का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

घत्ता-छड्डुणिआहिं पद्धडिआहिं सु-अण्णरूएहिं।
रासाबंधो कव्वे जण-मण-अहिरामओ होइ ॥[1]

अर्थात् घत्ता, छड्डुणिआ, पद्धड़िया तथा ऐसे ही अन्य सुन्दर छंदों से युक्त रासा-बंध-काव्य जन-मन के लिए अभिराम होता है। इसके बाद ही २१ मात्रा वाले 'रासा' छंद का लक्षण दिया गया, जिससे अनुमान होता है कि इसे भी 'रासा बंध काव्य' का विशेष छंद माना गया है। यदि यह सच है तो 'संदेश रास' उस लक्षण पर खरा उतरता है क्योंकि इसमें जिस छंद का सबसे अधिक प्रयोग किया गया है, वह रासक छंद है।

काव्य की दृष्टि से 'संदेश रास' का अपभ्रंश साहित्य में विशेष स्थान है। इस विरह काव्य का आरंभ ही बड़े आकर्षक ढंग से होता है।

पथिक को देखकर विरहिणी जब उतावली से चली तो उसके कटि-प्रदेश से रशनावलि छूट गई और किंकिणियाँ किण-किण ध्वनि करती हुई बिखर गईं। किसी तरह उन्हें समेट गाँठ बाँधकर वह बेचारी आगे बढ़ी तो उसको मोतियों की लड़ ही बिखर गई और उसे सँभालते-सँभालते नूपुरों से चरण उलझ गए और वह गिर पड़ी। इसके बाद भी जब वह संभ्रम के साथ लजाती हुई उठी तो उसने देखा कि उसका स्वच्छ श्वेत आँचल ही खिसक गया है और कंचुकी भी मसक गई है। फिर भी अपने हाथों से किसी प्रकार स्तनों को ढँककर वह बेचारी पथिक के पास पहुँची। निम्नलिखित छंद में इस उतावली का एक चित्र द्रष्टव्य है—

तं जं मेहल ठवइ गंठि णिट्ठुर सुहय
तुडिय ताव थूलावलि णवसर हारलय।
सा तिवि किवि सवरिवि चइवि किवि संचरिय

१. स्वयंभूच्छंद ८।४६ (श्री भायाणी द्वारा, सं० रा० भूमिका पृ० ७७ पर उद्धृत)

णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय ॥

करुणा उत्पन्न करने के लिए ही कवि ने विरहिणी का यह चित्र खींचा है। इसके बाद विरहिणी जब संदेश-कथन की भूमिका देती है, उसमें नारी हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी है—प्रिय के पास इससे बढ़कर लगने वाली बात और क्या कही जा सकती है कि—

गरुवउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण ।
जिहि अंगिहि तू विलसिया, ते दद्धा विरहेण ॥

तुम्हारे जैसे पौरुष-संपन्न पति के रहते हुए भी मैं ऐसा पराभव कैसे न सहूँ ? जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, आज वही अंग विरह द्वारा जलाए जा रहे हैं ! किसी पुरुष के लिए उसके-पौरुष को चुनौती देने से बढ़कर और क्या बात हो सकती है ? यदि सचमुच ही उसमें पौरुष है तो कम से कम अपने उस प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करने के लिए अवश्य उठ खड़ा होगा जो उसके द्वारा भोगे हुए अंगों को स्वयं अपना विषय बना रहा है !

संदेश कहते-कहते विरहिणी इतनी रोने लगती है कि पथिक से सहा नहीं जाता । यह देखकर वह कहता है कि हे देवि, किसी प्रकार अपने आँसुओं को रोको और जाते हुए पथिक का अमंगल मत करो । इस पर वह अत्यंत सरल ढंग से कहती है—

'मइ न रुन्नु विरहग्गि धूम लोयण सवणु ।'

अर्थात् मैं थोड़े ही रो रही हूँ, यह तो विरहाग्नि के धुएँ से आँखें सजल हो आई हैं ।

व्यथा हृदय में सरलता लाती है, तो उसकी टीस कभी कभी उतनी ही विदग्धता भी उत्पन्न करती है । प्रिय ने उसका सारा सुख छीन लिया, इस बात को सागर और मंदर के रूपक से विरहिणी इस प्रकार कहती है—

मह हिययं रयणनिहि, महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं ।
उम्मूलियं असेसं, सुहरयणं कड्डियं च तुह पिम्मे ॥

अर्थात् हमारे रत्ननिधि हृदय को विरह-मंदर ने मथकर तमाम सुख रत्नों को निकाल लिया।

शरत् ऋतु का वर्णन करते हुए नायिका कहती है कि क्या उस देश में ज्योत्स्ना का निर्मल चन्द्र नहीं उगता? क्या वहाँ अरविंदों के बीच हंस कल-कल ध्वनि नहीं करते? क्या वहाँ कोई ललित ढंग से प्राकृत काव्य नहीं पढ़ता? क्या वहाँ कोकिल पंचम स्वर में नहीं गाता? क्या वहाँ सूर्योदय के कारण खिले हुए कुसुमों से वातावरण महक नहीं उठता? होता तो यह सब होगा लेकिन लगता है कि प्रिय ही अरसिक है जो इस शरत् काल में भी घर का स्मरण नहीं करता।

किं तहि देस णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह
अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह।
अह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण
अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु, ओससिउ घणु कुसुमभरु।
अह मुणिउ पहिय! अणरिसिउ पिउ, सरइ समइ जु न सरइ घरु॥

'संदेश रासक' को पढ़ते समय यह नहीं मालूम होता है कि किसी अहिंदू की कृति है; इसका कारण यह है कि संदेश रासक में संस्कृत और प्राकृत काव्यों की अनेक रूढ़ियों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है। सामोर के वर्णन में फल-फूल वाले वृक्षों की सूची तथा षड्ऋतु वर्णन में कवि-समयों और रूढ़ियों का स्पष्टतः पालन किया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं कवि ने संस्कृत के प्रसिद्ध छंदों का अपभ्रंश में अनुवाद करके रख दिया है; जैसे—

तइया निवडंत णिवेसियाइं संगमइ जत्थ णहु हारो।
इन्हिं सायर-सरिया-गिरि-तरु-दुग्गाइं अंतरिया॥ (सं० रा०, ६३)

'हनुमन्नाटक' (५।२५) के इस छंद का अनुवाद है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः सरित्सागरभूधराः॥

इन सबसे यही प्रमाणित होता है कि अब्दुल रहमान को संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की परंपरा का बहुत अच्छा ज्ञान था और उन्होंने इस काव्य में अपने अध्ययन अनुभव का सारा निचोड़ रख देने की चेष्टा की। यह समझना भ्रान्ति है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश में लिखा हुआ काव्य है। वस्तुतः इसके भाव और भाषा दोनों पर नागरता की छाप है। छंद-विविधता और अलंकार-सज्जा दोनों ही दृष्टियों से 'संदेश रासक' अत्यंत परिमार्जित रचना है।

अपभ्रंश साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग नीति, सूक्ति, अन्योक्ति, स्तुति आदि ढंग के काव्यों से भरा हुआ है। हैम-व्याकरण, देवसेन (११ वीं सदी) का 'सावयधम्म दोहा' सोमप्रभ (१२ वीं सदी ईस्वी) रचित कुमारपाल प्रतिबोध आदि में अनेक मार्मिक सूक्तियाँ, अनुभव-पूर्ण नीति के दोहे तथा संकेत पूर्ण अन्योक्तियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों से भी सूक्तियों का चयन किया जा सकता है। 'हैम व्याकरण में भ्रमर, कुंजर, पपीहा, केहरि, धवल, महाद्रुम आदि को लेकर बड़ी ही हृदयहारी अन्योक्तियाँ कही गई हैं। जैसे 'धवल' बैल संबंधी अन्योक्ति—

नीति, सूक्ति, अन्योक्ति आदि

धवल विसूरइ सामिअहो, गरुआ भर पिक्खेवि।
हउँ कि न जुत्तउँ दुहुँ दिसहिं, खण्डइँ दोण्णि करेवि ॥

उसी तरह वहीं से यह-सूक्ति उद्धृत की जा सकती है—

सरिहिं न सरेहिं न सरवरेहिं, न वि उज्जाण वणेहिं।
देस रवण्णा होंति वढ, निवसंतेहिं सुअणेहिं ॥

यद्यपि अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश छन्दोबद्ध काव्य है, फिर भी खोज करने से कुछ गद्य की भी रचनाएँ मिली हैं तथा क्रमशः मिलती जा रही हैं। उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा के अपभ्रंश गद्य की चर्चा तो बहुत दिनों से होती आ रही है; श्री अगरचन्द नाहटा ने इधर परवर्ती अपभ्रंश

गद्य साहित्य

साहित्य की कई गद्य-रचनाएँ खोज निकाली हैं। १४वीं शताब्दी ईस्वी की एक ऐसी ही रचना 'षडावश्यक-बालावबोध' के एक गद्यांश का उद्धरण उन्होंने १६४६ ई० के 'यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसायटी के जर्नल' में दिया था। इन बिखरे उद्धरणों से अपभ्रंश-साहित्य में गद्य-रचना के प्रयत्नों का प्रमाण मिलता है।

अपभ्रंश साहित्य का ऐतिहासिक महत्व

स्वयंभू (आठवीं शताब्दी ईस्वी) से लेकर रइधू (१५वीं शताब्दी ईस्वी) तक के इस अपभ्रंश साहित्य का संपूर्ण भारतीय साहित्य में बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि जिस व्यापकता और विशालता के साथ इसका आरम्भ हुआ था वह अंत तक न रही; बल्कि परवर्ती अपभ्रंश साहित्य के विषय और शैली में एक प्रकार की जड़ता दिखाई पड़ती है, फिर भी समग्र रूप में यह साहित्य उस युग के जातीय नवोन्मेष का प्रतिनिधि होकर ऊपर उठा। अपभ्रंश की प्रत्यग्रता का ठीक-ठीक अनुभव परवर्ती संस्कृत साहित्य की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के परिपार्श्व में ही हो सकता है।

अपभ्रंश-कालीन संस्कृत साहित्य उस नागर समाज की रुँधी हुई विचार-धारा को प्रतिबिंबित करता है जो अपना ऐतिहासिक कार्य समाप्त कर चुकने पर समाजिक विकास में बाधक हो रहा था। इस जड़ता से तत्कालीन संस्कृत साहित्य भी ग्रस्त दिखाई पड़ता है। क्या दर्शन, क्या काव्य सर्वत्र पुराने तथ्यों की पुनरावृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। मौलिक उद्भावना की अपेक्षा टीका और व्याख्याओं में रस लिया जा रहा था। प्रमेय दूर था, प्रमाण-चर्चा अधिक थी। दार्शनिक दुरूहता नव्य-न्याय के वाद-विवादों में मुखर हो रही थी। समस्त चिंतन तर्क-जाल में उलझा था। सस्कृत काव्य हृदय के सहज उच्छ्वास को छोड़कर पांडित्य-प्रदर्शन तथा श्रमसाध्य आलंकारिक चेष्टाओं में लीन था। लक्षण-ग्रन्थों का बाहुल्य था। रस के मान शब्द-शक्तियों से आक्रान्त थे। प्रकृति-चित्रण नाम-परिगणन और औपम्यविधान से बोझिल था। मानव-अनुभूतियों

की अर्थभूमि संकुचित होकर शृंगारिक लीलाओं से पंकिल हो रही थी। राज-दरबारों के उजड़े वैभव की बासी पुनरावृत्ति से वस्तु-वर्णन धूमिल हो रहा था। चरित-काव्यों में चरित्रों का व्यक्तित्व बँधे बँधाए टाइपों के रूप में ही प्रकट हो रहा था। मुक्तक काव्य कृत्रिम और अलंकृत थे; प्रबन्ध काव्य आकार में विपुल होते हुए भी जीवन-हीन थे। गद्य बोल-चाल की भाषा से दूर हटकर समासों का बीहड़ जंगल हो गया था। सर्वत्र एक प्रकार की जड़ता और निष्प्राणता के दर्शन होते थे।

अपभ्रंश साहित्य का उद्भव संस्कृत के इस परिपार्श्व में हुआ। निःसन्देह उस पर भी संस्कृत साहित्य की ह्रासोन्मुखी छाया कहीं कहीं पड़ गई; अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में संस्कृत की कथानक-रूढ़ियाँ, काव्य-रूढ़ियों तथा वस्तु-वर्णन सम्बन्धी रूढ़ियों का पालन कहीं-कहीं अवश्य दिखाई पड़ता है; फिर भी इन सबके बीच अपभ्रंश के धार्मिक और ऐहिक काव्य में नए जीवन का उत्साह और आवेग, सरलता और सादगी, शक्ति और सौन्दर्य, जीवंतता और प्रत्यग्रता का अनुभव होता है। उसमें लोक कथाओं और लोक-गीतों का जीवन्त स्पर्श मिलता है। इन सब विशेषताओं का यही कारण है कि जैन विद्वानों और मुनियों, बौद्ध सिद्धों और इतर मतानुयायी कवियों द्वारा लिखे जाने पर भी अपभ्रंश साहित्य सामान्य लोक-जीवन के गहरे संपर्क में था। वह जिन लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त कर रहा था, उन्हें बहुत दिनों के बाद अपनी देसी भाषा में हृदय की बात कहने का अवसर मिला था। संस्कृत के माध्यम से उस समय उस लोक-जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। पृथ्वी-पुत्रों की वह सारी भाव-सम्पदा सीधे अपभ्रंश को ही पहली बार प्राप्त हुई। अपभ्रंश-साहित्य की शक्ति का यही रहस्य है। इसी लोक-तत्व के द्वारा अपभ्रंश साहित्य ने भारतीय साहित्य में अपना ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया और इसी लोक-तत्व से उसमें युग-युग तक मानव-हृदय को आनन्दित करने की शक्ति आई।

अपभ्रंश और हिंदी का साहित्यिक संबंध

अपभ्रंश से हिंदी साहित्य का क्या संबंध है इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि हिंदी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने आदि-काल के अन्तर्गत अपभ्रंश साहित्य को भी रखा है।

अपभ्रंश और हिंदी साहित्य के इतिहासकार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी साहित्य का विकास' (जनवरी १६२६ ई०) नाम से जो विस्तृत निबंध लिखा उसमें किसी कारण से अपभ्रंश-साहित्य का समावेश नहीं हो सका था। लेकिन उसी साल उस भूमिका को स्वतंत्र पुस्तक का रूप देते समय शुक्ल जी को वह कमी महसूस हुई। इसलिए 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के आदिकाल में अपभ्रंश साहित्य को स्थान देते हुए उन्होंने कहा कि "आदि काल के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा काव्य' के अन्तर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि-परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यों के नाम गिनाती चली आई है, जो अपभ्रंश में हैं जैसे, कुमारपाल चरित और शार्ङ्गधर-कृत हम्मीर रासो।"[1]

इसी परिपाटी का पालन 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने भी कहा कि "अर्धमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिंदी के प्रारंभिक रूप की छाप लिए हुए हैं। इस प्रकार इसे हिंदी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।"[2]

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण का वक्तव्य
२. आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६८ (द्वितीय संस्करण, १९४८ ई०)

इस कार्य का समर्थन करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिंदी साहित्यः उसका उद्भव और विकास' में कहते हैं कि "यदि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिंदी का ही मूलरूप समझा है तो ठीक ही किया है।"

लेकिन हिंदी साहित्य के आदि काल में अपभ्रंश को स्थान देते हुए भी इन सभी इतिहासकारों के अपभ्रंश-विषयक दृष्टिकोण में अन्तर है। शुक्ल जी ने जब अपभ्रंश की रचनाओं को 'भाषा-काव्य' समझ कर हिंदी-साहित्य में अपना लिया तो उस समय तक अपभ्रंश का विशाल साहित्य प्रकाश में नहीं आया था। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, जोइंदु, रामसिंह आदि की कृतियाँ अभी सामने आने को थीं। शुक्ल जी इन ग्रंथों को देखने का अवसर पाते तो शायद अपभ्रंश नाम से ख्यात इन सभी रचनाओं को 'भाषा-काव्य' कहकर हिंदी में न समेट लेते। शुक्ल जी ने कुमारपाल चरित, हम्मीर रासो आदि ग्रंथों को भाषा की दृष्टि से ही हिंदी साहित्य में स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अपभ्रंश और हिंदी में और कोई संबंध नहीं दिखाई पड़ता था।

डा० वर्मा ने अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में जिस अपभ्रंश साहित्य को स्थान दिया है वह अब तक का लगभग संपूर्ण विज्ञापित साहित्य है। उसमें स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल जोइंदु आदि जैन तथा सरह पा, कण्ह पा आदि सिद्ध और अब्दुल रहमान जैसे इतर मतवाले सभी अपभ्रंश कवियों का समावेश किया गया है। डा० वर्मा ने भी भाषा की दृष्टि से ही इस अपभ्रंश साहित्य को हिंदी के अन्तर्गत लिया है। उनके अनुसार इन रचनाओं की भाषा 'हिंदी के प्रारंभिक रूप की छाप लिए हुए है' इसीलिए वह हिंदी साहित्य में लिए जाने की अधिकारी है। एकदम हिंदी न होने के कारण ही उन्होंने इन रचनाओं को 'संधिकाल' के अन्तर्गत रखा है।

लेकिन डा० द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य को हिंदी साहित्य का अंग नहीं

१. हिंदी साहित्य, पृ० १७ (१९५२ ई०)

माना है; उन्होंने अपभ्रंश साहित्य को हिंदी साहित्य का 'मूल रूप' समझा है। अपभ्रंश और हिंदी का संबंध उनकी दृष्टि में केवल भाषा का ही नहीं है बल्कि 'साहित्यिक परंपरा' का है। "हिंदी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्रायः पूरी परंपराएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाय तो इस साहित्य की प्राण-धारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्ती हिंदी साहित्य में प्रवाहित होती रही है।"[1]

अपभ्रंश और हिंदी का ऐतिहासिक संबंध

अपभ्रंश को हिंदी साहित्य का अंग मानना एक बात है और 'मूल रूप' मानना बिल्कुल दूसरी बात। अपभ्रंश को हिंदी साहित्य का मूल रूप या मूल स्रोत मानने का अर्थ यह है कि अपभ्रंश और हिंदी का संबंध ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक सम्बन्ध को थोड़ा और समझने की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने हिंदी साहित्य पर अपभ्रंश का 'प्रभाव' दिखलाया है। लेकिन 'प्रभाव' और ऐतिहासिक संबन्ध' एक ही चीज नहीं है। हिंदी साहित्य पर संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्रंश के गर्भ से ही क्रमशः उद्भव और विकास हुआ है, उसे अपभ्रंश से 'प्रभावित' मात्र कहना अवैज्ञानिक है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी के संबंध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिंदी के कुछ काव्य रूपों, काव्य-रूढ़ियों, उपमाओं और छन्दों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बातें हैं। अपभ्रंश से हिंदी का सम्बन्ध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और गहरा है। संभव है कि विश्लेषण करने पर इस तरह फिर ऊपरी समानताएँ इन दोनों साहित्यों के बीच उतनी न मिलें; लेकिन इसी से दोनों के सम्बन्धों

१. हिंदी साहित्य, पृ० १५

का निर्णय नहीं हो जाता। मुख्य बात है साहित्यिक चेतना का तारतम्य और भावधारा का नैरन्तर्य जिसे डा० द्विवेदी ने 'प्राणधारा' कहा है। यदि इन दोनों साहित्यिक अवस्थाओं के बीच मौलिक प्राण-धारा के पौर्वापर्य का कुछ भी निर्णय हो जाता है तो ऐतिहासिक-सम्बन्ध की पुष्टि होती है। इसलिये अपभ्रंश और हिंदी साहित्य के संबंध की मौलिक समस्या यह है कि अपभ्रंश के गर्भ से हिंदी साहित्य का उद्भव किस प्रकार हुआ और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के बाद विकास-क्रम में हिंदी साहित्य किस हद तक अपभ्रंश से अभिन्न तथा किस हद तक उससे भिन्न तथा स्वतन्त्र हो गया?

हिंदी साहित्य का आदिकाल और अपभ्रंश

अपभ्रंश की वह कौन सी प्राण-धारा थी जिसका विकास हिंदी में हुआ, इस का निर्णय इस बात पर निर्भर है कि हिंदी के आदि काल की मुख्य प्रवृत्ति क्या है? इस विषय में आमतौर से लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि हिंदी का आरम्भ वीरगाथाओं से हुआ है। इस धारणा के सूत्रपात का श्रेय मुख्यतः आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' को है। शुक्ल जीने हिंदी साहित्य के आदिकाल का सामान्य परिचय देते हुये लिखा है कि "आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़-दो सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है— धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि और चारण, जिस प्रकार नीति, शृंगार, आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यह प्रबन्ध-परम्परा रासो नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।"[1] आगे इस

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३-४ (पाँचवाँ संस्करण, १६४६ ई०)

कथन की पुष्टि ऐतिहासिक परिस्थितियों के द्वारा करते हुये शुक्ल जी ने कहा कि "जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था। और सब बातें पीछे पड़ गईं थीं।"[1] यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से इस कथन की पुष्टि करना चाहें तो कह सकते हैं कि चारण कवियों की वीर-गाथाएँ परवर्ती अपभ्रंश की परम्परा के अनुसार ही थीं। इस तरह बहुत आसानी से यह कहा जा सकता है कि वीरगाथा ही वह प्राणधारा है जिसका विकास अपभ्रंश से हिंदी में हुआ।

ऊपर ऊपर से देखने पर इस कथन में संदेह की गुञ्जाइश नहीं होनी चाहिए। लेकिन प्राण-धारा का प्रश्न 'आदिकाल' तक ही नहीं समाप्त हो जाता है। यदि वीरगाथा ही अपभ्रंश और हिंदी के आदिकाल की प्राण धारा थी तो आगे उसका विकास भी होना चाहिये। लेकिन इतिहास से उस प्राण-धारा के विकास का समर्थन नहीं होता। तथा-कथित वीर-गाथाओं के बाद हिंदी में तुरन्त संत और भक्ति काव्य का अभ्युदय हो जाता है और विकास की इन दोनों भावधाराओं में इतना अधिक अन्तर है कि विकास की कोई एकसूत्रता ढूँढ़ निकालना कठिन है। फिर भी जब बुद्धि है तो संगति भी बैठानी ही है। फलतः शुक्ल जी ने युक्ति दी कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया।... ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुये सुन ही सकते थे।...अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[2]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिंदी साहित्य की आदिकालीन

१. वही, पृ० ३०
२. वही, पृ० ६०

वीरता की भावना वाली प्राणधारा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण समाप्त हो गई और उसके बाद हिंदी साहित्य में उदासी छा गई। मतलब यह कि संत-भक्ति साहित्य आरम्भिक वीरगाथाओं की अपेक्षा कम प्राणवान है। यह सही है कि अपनी युक्तियों से शुक्ल जी ने एकदम यही निष्कर्ष नहीं निकाला है लेकिन उनकी युक्ति की तर्कसंगत परिणति यही हो सकती है। लेकिन शुक्ल जी ने भक्ति काव्य का जो मूल्यांकन किया है, उससे स्पष्ट है कि वे भक्तिकाव्य को वीरगाथाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानते थे; यही नहीं, भक्ति काव्य को उन्होंने हिंदी का स्वर्ण-युग कहा है। वीर-गाथाओं के मूल्यांकन के विषय में मतभेद हो सकता है, लेकिन भक्ति काव्य को एक स्वर से साधारण जन और विद्वान सर्वश्रेष्ठ मानते हैं—उसे भारतीय समाज की आत्मा, शक्ति, प्राणधारा आदि सब कुछ अनुभव करते हैं।

ऐसी दशा में इस विषय में फिर से विचार करने की आवश्यकता है कि हिंदी के भक्तिकाव्य की मूल चेतना का स्वरूप 'आदिकाल' में क्या था और उससे भी पहले अपभ्रंश में उसके बीज किस दशा में मिलते हैं।

अब प्रायः सभी लोग यह मानने लग गए हैं कि भक्ति काव्य वीर-गाथाओं की हताश प्रतिक्रिया नहीं है। शुक्ल जी की वह युक्ति बहुत पहले ही इतिहासकारों को खटक गई थी। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले आदमी हैं जिन्होंने शुक्ल जी की उस स्थापना का प्रतिवाद किया।[1] यदि भक्ति काव्य वीरगाथाओं की हताश प्रतिक्रिया न था, तो उसके बीज 'आदि काल' में अवश्य मिलने चाहिए!

आदिकालीन हिंदी साहित्य के अन्तर्गत अन्तर्विरोध

जो विद्वान हर चीज को बाहरी प्रभाव के रूप में देखने के अभ्यस्त होते हैं वे तो 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' जैसी पंक्तियों के सहारे भक्ति काव्य को सहसा बाहर से आई हुई चीज कहकर निश्चिन्त हो सकते हैं। लेकिन

१. देखिये 'हिंदी साहित्य की भूमिका', पृ० २

जिनके मन में किसी जातीय चेतना को समझने की थोड़ी सी भी शक्ति है वे उस प्रभाव को ग्रहण करने योग्य परिस्थितियों की खोज हिन्दी जाति के जीवन में ही करते हैं ; ऐसी स्थिति में इस बात की पूरी सम्भावना है कि हिन्दी साहित्य के 'आदि काल' में वीर गाथाओं के साथ-साथ भक्ति के भी मूल रूप रहे होंगे। लेकिन यह सम्भावना कोरा अनुमान नहीं है। वीर गाथाओं की प्रमाणिकता के विषय में तो संदेह भी किया जाता है लेकिन आदि काल में जो सिद्धों और नाथों का काव्य मिलता है उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रायः सभी विद्वान काफी संतुष्ट हैं।

इस विषय में स्वयं शुक्ल जी की भी यही राय थी कि असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है।" और "प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य जैसे वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो—आजकल मिलते हैं वे सदिग्ध है।"[१] फिर भी आश्चर्य है कि वे उसी संदिग्ध सामग्री को लेकर विचार करते हैं, उसके आधार पर आदिकाल की मुख्य प्रवृत्ति का निर्णय करते हैं और इस तरह संतोष करते हैं।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कारण स्पष्ट है। शुक्ल जी को सिद्धों और नाथों के काव्य की साहित्यिकता पर घोर आपत्ति थी। अपनी यह आपत्ति उन्होंने बार-बार प्रकट की। प्रथम संस्करण के वक्तव्य में उन्होंने कहा कि अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म तत्त्व-निरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य-कोटि में नहीं आतीं।' और संशोधित तथा प्रवर्द्धित संस्करण के संबन्ध में दो बातें कहते हुए उन्होंने फिर जोर दिया कि 'सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं।' अपभ्रंश के जैन काव्यों के विषय में शुक्ल जी ने जो असाहित्यिकता की बात कही है, वह तो सम्भवतः इसलिए कि उन्हें स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि के काव्य देखने को मिले ही नहीं। लेकिन सिद्धों और योगियों की

१. हि० सा० इतिहास, पृ० ४, २६

रचनाओं के काव्यत्व पर उन्होंने जो आपत्ति उठाई उसे उनके काव्य-सम्बन्धी विशेष दृष्टिकोण का परिणाम समझना चाहिए। विचित्र स्थिति है। जो रचनायें साहित्यिक हैं, वे संदिग्ध हैं और जो असंदिग्ध हैं वे असाहित्यिक हैं। साहित्यिकता और असंदिग्धता के इस विरोध में इतिहासकार को असंदिग्धता का ही पक्ष लेना पड़ेगा क्योंकि विचार से तथ्य प्रबल होता है। किसी रचना की साहित्यिकता एक दृष्टिकोण है और इस पर मतभेद हो सकता है, लेकिन किसी रचना की असंदिग्धता एक स्थापित तथ्य है और उसे झख मारकर स्वीकार करना पड़ेगा। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखकर डा० द्विवेदी ने उदारता पूर्वक आग्रह किया है कि इस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्-पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के संपूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती है।"[1]

मतलब यह है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में वीरगाथाओं के साथ धार्मिक रचनाएँ भी हो रही थीं। दूसरे शब्दों में यह युग अन्तर्विरोधों का था। इसी को डा० द्विवेदी ने 'स्वतो-व्याघातों' का युग कहा है और शुक्ल जी ने 'अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति' का युग कहा है। लेकिन अन्तर्विरोध अथवा स्वतोव्याघात एक चीज है और उस लोक-प्रवृत्ति को अनिर्दिष्ट कहना बिल्कुल दूसरी चीज़। हिंदी साहित्य के आदिकाल में

१ हिंदी साहित्य का आदि काल, पृ० २५ (विहार राष्ट्र भाषा परिषद, १९५२ ई०)

प्रवृत्ति की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों का जंगल नहीं था। उस विविधता में भी व्यवस्था थी और वह व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमशः क्षीयमाण थी दूसरी वह थी जो क्रमशः वर्धमान थी। पहली का सम्बन्ध राजस्तुति, सामंतों के चरितवर्णन, युद्धवर्णन, केलि विलास, बहुविवाह के लिए विजयोन्माद आदि से था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असंतोष, रूढ़ि-विरोध, बाह्याडंबर खंडन, जाति-भेद की आलोचना, उच्चतर आचार, व्यापक भगवत्प्रेम, मानवीय आत्म गौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित वीरगाथा काव्य है और दूसरी का तथाकथित योगधारा।

वीर गाथाओं को क्षीयमाण मनोवृत्ति का प्रतिबिंब कहने से, संभव है, इनके प्रति श्रद्धालु हृदयों को किंचित् ठेस पहुँचे और पूर्व-स्थापित धारणाओं को धक्का लगे; लेकिन इतिहास-विधाता का निर्णय निर्मम हुआ करता है। आचार्य शुक्ल जैसे रस-सिद्ध सहृदय समीक्षक ने जब 'रासो' ग्रन्थों को सच्ची वीर गाथा के रूप में निरूपित किया तो इसे आचार्य की सहृदयता का अतिरिक्त आरोपण ही समझना चाहिए। उन्हें यदि इन काव्यों में मध्ययुगीन यूरोप के 'बैलेड' काव्य की झलक दिखाई पड़ी तो इसे उनके अतीत-प्रेम का प्रमाण-पत्र मानना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि 'रासो' काव्यों में कहीं-कहीं सामन्तों के शौर्य का सुन्दर प्रदर्शन है और उनकी रसिकता का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, परन्तु उन सभी वर्णनों में पुरानी रूढ़ियों और परिपाटियों का इतना संभार है कि उनमें नवोन्मेष कम, प्राचीन निपुणता का संचय अधिक दिखाई पड़ता है। ऐसी वीर गाथाओं को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाय जब कि बख्तियार ख़िलजी ने केवल दो सौ घोड़ों से समूचे अंग-बंग के राजाओं को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जूँ नहीं रेंगी। ज़ाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामन्ती वीर गाथाओं से कोई मतलब नहीं था।

जनता की आशाएँ-आकांक्षाएँ अपने ढंग से व्यक्त हो रही थीं। जिस समाज में दुःख-दर्द, अत्याचार का स्वरूप जात-पाँत जैसी धार्मिक और नैतिक मान्यताओं के माध्यम से प्रकट होता है, उस समाज में सामान्य जनता का असंतोष स्वभावतः धार्मिक-नैतिक रूप में ही व्यक्त हो सकता है। इसलिए तत्कालीन हिंदी जनता की भावनाओं का धार्मिक प्रतीकों में व्यक्त होना स्वाभाविक है। उन भावनाओं पर लोक जीवन के अंध-विश्वासों, टोना-टोटका आदि प्रथाओं तथा निम्नस्तर की अन्य असंस्कृत और ग्राम्य बातों की छाप हो सकती है, फिर भी उन सबके बीच से उनके दुःख-दर्द असतोष तथा कभी-कभी कल्पना-लोक में आनन्द प्राप्त करने की आकांक्षा प्रकट होती है।

दरबारों में रचे गए परिमार्जित और अलंकृत काव्यों की तुलना में ये ग्रामीण काव्य अनगढ़, कच्चे और सीधे सादे लग सकते हैं लेकिन इनमें शक्ति की संभावनाएँ अधिक हैं। यदि रुचिर प्राचीन का अपना सौंदर्य है तो खुर्राट नवीन का भी अपना आकर्षण है। ऐसी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों में इतिहासकार साहित्य की प्राणधारा गलित-प्राय किंतु सुन्दर प्राचीन में नहीं, बल्कि विकासोन्मुख किन्तु अनगढ़ नवीन में देखता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य के आदिकाल की वीर-गाथाएँ रचना-काल और आकार-प्रकार की दृष्टि से संदिग्ध होने के साथ ही निष्प्राण भी हैं। अब देखना यह है कि आदि कालीन हिंदी साहित्य की इन दोनों धाराओं के बीज अपभ्रंश में किस रूप में मिलते हैं।

शिष्ट और ग्राम्य, रूढ़ और नवीन काव्य की दो विरोधी प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश साहित्य में भी मिलती हैं। लेकिन विद्वानों ने इस भेद को अपने अपने ढंग से समझा है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे लक्षित करते हुए कहा है कि "हिंदी में दो प्रकार की भिन्न जातियों की दो चीज़ें अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। (१) पश्चिमी अपभ्रंश से राज-स्तुति, ऐहिकता-मूलक शृंगारी काव्य, नीति विषयक फुटकल रचनाएँ और

अपभ्रंश साहित्य के अंतर्गत अन्तर्विरोध

लोक प्रचलित कथानक। और (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनिया सन्तों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र-विचार धारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्य की साधना योग-पद्धति और भक्ति-मूलक रचनाएँ।"[1] इनमें से उन्होंने पहली प्रवृत्ति को रूढ़िवादी तथा दूसरी को रूढ़ि-विरोधी कहा है। परन्तु तथ्य इस स्थापना के विपरीत जाते हैं। रूढ़ियों का विरोध करने में पश्चिमी प्रदेशों के अपभ्रंश कवि जोइन्दु और रामसिंह उतने ही तत्पर हैं जितने पूर्वी प्रदेशों के सरहपा और कारहपा। इसके अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश में रचना करने वाले मलखेड के स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे प्रबन्ध कवियों को रूढ़ियों का पोषक किसी भी मामले में नहीं माना जा सकता। उन दोनों महाकवियों की रचनाएँ धर्म-विशेष के विचारों से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु उनके चरित काव्यों में अनेक प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और रजनीतिक रूढ़ियों का विरोध किया गया। राम कथा संबन्धी ब्राह्मण-धर्म द्वारा प्रवर्तित रूढ़ियों का साहस पूर्वक खंडन स्वयंभू और पुष्पदन्त ने ही किया। राजदरबारों के अशुभ प्रभाव का उल्लेख भी उन्होंने ही किया। भौतिक सुख-विलास के आसक्तिपूर्ण जीवन की असारता बतलाकर एक उच्चतर आध्यात्मिक आचरण की प्रेरणा देने में उनके काव्य अग्रणी रहे हैं! पुरुष के अत्याचारों के विरुद्ध नारी के आत्मगौरव को उस युग में स्वयंभू ने जितने साहस के साथ प्रतिष्ठित किया, उतना साहस और किसी ने नहीं दिखाया। इस हद तक रूढ़ियों का विरोध पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही अपभ्रंश के कवियों ने किया। इसके अतिरिक्त जहाँ तक उस युग निर्मित आदर्शों और मर्यादाओं के पालन का प्रश्न है, उसमें भी जैन और सिद्ध दोनों कवि एक से दिखाई पड़ते हैं। कर्म-फल का बन्धन तोड़ने में इनमें से कोई सफल न हो सका था। यह अवश्य है कि जैन-मत में कर्मों का बन्धन अत्यन्त उग्र माना जाता था। पूर्व जन्म के कर्मों के कारण नाना जन्म-जन्मान्तरों में भटकने

१. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २६

की कथाएँ किसी न किसी रूप में स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, कनकामर आदि सभी जैन कवियों के चरित काव्यों में मिलती हैं। जोइन्दु और रामसिंह जैसे स्वतन्त्र-चेता जैन-मुनि भी कर्म सिद्धान्त से मुक्त नहीं है। उधर सरहपा और काण्हपा जैसे उग्र सिद्ध भी इस संस्कार से ऊपर उठने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार मूल चेतना की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश की रचनाओं में कोई आधारभूत अंतर नहीं दिखाई पड़ता।

पण्डितों के मस्तिष्क में जो यह धारणा घर कर गई है, उसका आधार जातीय (रेशल) है। डा० द्विवेदी इस सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के कथन को दुहराते हुये कहते हैं कि "पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुये आर्य पूर्वी प्रदेशों में बसे हुये आर्यों से भिन्न प्रकृति के हैं। भाषाशास्त्रियों ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि ये दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग थे। यह भी ध्यान रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदि काल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकांड के मृदु-विरोधी जनक और याज्ञवल्क तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुये थे।"[1] भारतीय समाज और साहित्य के विषय में इस प्रकार की क्षेत्रीय और जातीय धारणा फैलाने का कार्य प्रायः याकोबी, ल्यूमान, गार्वे, रीज़ डैविड्स, विंटरनित्स आदि योरोपीय पंडितों ने किया है। इस भेद को कभी पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों में बाँटा गया है, कभी आर्य और आर्येतर जातियों में, कभी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर धर्मों में और कभी एक ही आर्य जाति के भीतर दो प्रकृति वाले आर्यों के रूप में।

जहाँ तक क्षेत्रीय भेद का प्रश्न है, यह युक्ति समझ में नहीं आती कि रूढ़ियाँ एक प्रदेश में रहें और उनका विरोध दूसरे प्रदेश में पैदा

१. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २६

हो। पश्चिमी भारत में रूढ़ियाँ जड़ जमाएँ और पूर्वी भारत के रहने वालों को उनसे असंतोष हो यह बहुत दूर की बात मालूम होती है। दर असल, रूढ़ियों का विरोध वहीं होता है जहाँ रूढ़ियाँ मौजूद होती हैं। प्राचीन काल से ही काशी और मगध में यदि रूढ़ि-विरोधी आचार्य और पंडित होते आए हैं, उनके साथ ही रूढ़ि-पोषक विद्वानों का भी गुट रहता आया है।

और यदि आर्य और आर्येतर जैसे जातीय भेद के आधार पर इस साहित्यिक भेद को खड़ा किया जाता है तो पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही प्रदेशों में आर्येतर जातियों के मिश्रण के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। बाहर से आने वाली जातियाँ सब की सब पूरब में ही जाकर नहीं बस गई; पूर्वी भारत से कहीं अधिक जातीय मिश्रण पश्चिमी भारत में होता रहा है। शकों, हूणों के अतिरिक्त आभीर, गुर्जर आदि पश्चिमी प्रदेशों में ही सबसे पहले आकर बसे। इसलिए पश्चिमी प्रदेशों के रहने वालों में प्राचीन संस्कारों के रूढ़ि-बद्ध होने की सम्भावना कम से कम होनी चाहिये।

भारतीय समाज और साहित्य में आर्य आर्येतर जातियों के अनुसार दो विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष की बात हो सकती है, लेकिन अपभ्रंश साहित्य में यह भेद किस हद तक मौजूद था यह बात अभी विचारणीय है। यह सही है कि समय-समय पर बाहर से आने वाली जातियों के सामाजिक संस्कार के कारण भारतीय समाज में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहा है। भारतीयों ने एक ओर उनको अपनी सामाजिक व्यवस्था में समेटने की कोशिश की और दूसरी ओर उनके अनुसार अपने को थोड़ा सा बदलकर संतुलन स्थापित करने की ओर भी ध्यान दिया। सामाजिक संगठन में जातीय मिश्रण की इस प्रक्रिया के कारण साहित्यिक परंपरा में प्रायः लोकतत्त्वों का प्रवेश होता रहा है। इस तरह भारतीय साहित्य में समय-समय पर नवजीवन की लहरें आती रही हैं। भारतीय साहित्य के विषय में सामान्य रूप से यह बात लागू होती है परंतु अपभ्रंश

साहित्य के विषय में विशेष रूप से इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए कितने तथ्य मिलते हैं—यह आसानी से नहीं बताया जा सकता। जैन कवियों की रामकथा में जो ब्राह्मणेतर अंश मिलते हैं तथा पुराणों के चरित नायकों की जो विशिष्ट परंपरा दिखाई पड़ती है—संभव है, वह ऐसे ही लोकतत्त्वों की उपज हो; इसी तरह शृंगार और शौर्य के फुटकल दोहों को भी ऐसे ही लोकजीवन के प्रवेश का परिणाम कहा जा सकता है। लेकिन यह सब कुछ अनुमान ही है। जब तक इसके लिए ठोस प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है।

फिर भी अपभ्रंश साहित्य के भीतर रूढ़ि-पोषक और नवोन्मेषशालिनी दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व निःसंदिग्ध है। ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ दो विभिन्न प्रदेशों और भिन्न कवियों में नहीं बल्कि एक ही कवि की एक ही रचना के अंतर्गत देखी जा सकती हैं। स्वयंभू की रामायण में संस्कृत और प्राकृत की बहुत सी काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह है, अलंकारों का संभार है, प्राचीन मान्यताओं का आग्रह है; फिर भी उसकी मूल चेतना नवीन है। यही बात पुष्पदंत के महापुराण के बारे में भी कही जा सकती है। महापुराण में ऊब-भरे परिपाटी-विहित वर्णनों की भरमार है—विवाह-वर्णन में, जन्मोत्सव में, राज-प्रासाद की शोभा में, उद्यान-क्रीड़ा में, युद्ध में—सर्वत्र प्राचीन काव्यों की सी एकरसता मिलेगी; फिर भी उनके बीच कार्य-रत रहने वाले पुरुषों का व्यक्तित्व अपना है और उनके निर्माण में कवि अपने नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा करना नहीं भूलता। लोक-काव्य के रूप में विख्यात 'संदेश रासक' जैसे काव्य के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उसमें सामोर का वर्णन करते समय जिन फल-फूलों की सूची दी गई है और षड् ऋतु वर्णन जिस ढंग से किया गया है, वह सब एक दम परिपाटीविहित है। फिर भी संदेश रासक में विरहिणी के हृदय के जो उद्‌गार हैं उनकी भाव-संपदा कवि की अपनी है—वह अपभ्रंश की नवीनता है।

धीरे-धीरे अपभ्रंश काव्य की यह नवचेतना भी रूढ़ि बनती गई।

परवर्ती अपभ्रंश काव्य की इतिवृत्तात्मकता और निष्प्राणता इस रूढ़ि का प्रमाण है। तीर्थंकर वही हैं, शलाका पुरुष वही हैं लेकिन उनके बारे में लिखे हुए काव्य निर्जीव हैं। जैन धर्म के सिद्धान्त वही हैं, लेकिन परवर्ती कवियों के कथन में वह सजीवता नहीं है कि उन सिद्धान्तों को जीवंत चरित्रों में ढाल सकें। जिनदत्त सूरि, जिनप्रभ सूरि आदि के लिखे हुए परवर्ती काव्यों में इस जड़ता का दर्शन किया जा सकता है। अपभ्रंश के इन परिपाटी-विहित रूढ़ काव्यों का सिलसिला पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा अर्थात् उस समय तक भी इनकी रचना होती रही जब ब्रज, अवधी आदि लोक-बोलियों में नवीन साहित्यिक चेतना का अभ्युदय हो गया। रूढ़ियाँ तब तक समाप्त नहीं होतीं जब तक उनके पोषक तत्त्व समाज से लुप्त नहीं हो जाते।

परवर्ती अपभ्रंश का रूढ़ काव्य और हिंदी के चारण-काव्यों में उसका निर्वाह

अपभ्रंश के इन परंपरा-भुक्त काव्यों ने हिंदी कुछ आरंभिक चरित काव्यों को भी प्रभावित किया। हिंदी के हम्मीर रासो, खुम्मान रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जो विशेष प्रकार के रासो काव्य हैं उन्हें अपभ्रंश के परवर्ती चरित काव्यों का बढ़ा हुआ रूप समझना चाहिए। हिंदी के ये रासो ग्रंथ चाहे जब लिखे गए हों, इनमें चाहे जब-जब जितने भी प्रक्षेप हुए हों परंतु उनमें निहित मूल प्रवृत्ति एक ही है। राजाओं के धन-वैभव, पराक्रम और विवाह-बाहुल्य आदि का बढ़ा-चढ़ा वर्णन एक स्वर से और एक ढंग से उन सब में मिलेगा। यह अवश्य है कि भिन्न-भिन्न कवियों की शक्ति के अनुसार वह रूढ़ि-निर्वाह भी उत्तम मध्यम हो गया है और उसी मात्रा में वे रचनाएँ भी एक निश्चित सीमा में उत्कृष्ट-निकृष्ट हैं। जैसे 'पृथ्वीराज रासो' में परंपरा-पालन के बावजूद अन्य रासो प्रबंधों की अपेक्षा काव्य-सौन्दर्य कहीं अधिक है। 'पृथ्वीराज रासो' के शशिव्रता-विवाह और संयोगिता-स्वयंवर वाले प्रकरण किसी भी काव्य-ग्रंथ के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। शशिव्रता की वयः संधि का वर्णन बहुत

कुछ परंपरा के अनुसार होते हुए भी चंद की रूप-पारखी दृष्टि का प्रमाण है।

राका अरु सूरज्ज बिच, उदय अस्त दुहुँ बेर।
ब्र ससिवृत्ता सोभई, मनो श्रृङ्गार सुमेर॥

सुमेरु पर्वत के एक ओर उगते हुए सूर्य और दूसरी ओर डूबते हुए शशि को देखकर विशाल गजराज के दोनों ओर लटकते हुए स्वर्ण-घंटों की उपमा देकर तो माघ 'घंटा-माघ' हो गए; लेकिन चंद को इस प्रतिभा को क्या गौरव दिया जाय जिसने शशिव्रता के शरीर को ही श्रृङ्गार का सुमेरु बना दिया! इस श्रृङ्गार-सुमेरु के एक ओर युवावस्था की राका उदित हो रही है और दूसरी ओर किशोरावस्था का सूर्य अस्त हो रहा है। उगते हुए पूर्ण चंद्र और डूबते हुए सूर्य की द्वाभा से जिस प्रकार सुमेरु रंग उठता है, उसी प्रकार श्रृङ्गार-मूर्ति शशिव्रता भी उभरते हुए यौवन और दबते हुए कैशोर्य की द्वाभा से खिल उठी है। वयः संधि में द्वाभा का सौंदर्य तो बहुत से कवियों ने देखा और दिखाया है, लेकिन किसी सुंदरी की अंग-यष्टि को श्रृंगार के सुमेरु की उदात्त उपमा पृथ्वीराज-रासो-कार चंद की अपनी विशेषता है।

प्राचीनता और नवीनता की यह द्वाभा जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो की नायिका शशिव्रता में दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार उसकी कविता में भी।[1]

लेकिन हिंदी साहित्य अपभ्रंश काव्य की रूढ़ियों का रक्षक-मात्र नहीं रहा और न कोई भी विकासोन्मुख साहित्य ऐसा हो ही सकता है। हर्ष की बात है कि अपभ्रंश के रूढ़ साहित्य की उद्धरणी हिंदी में अधिक नहीं हुई। हिंदी मुख्यतः अपभ्रंश की जीवंत परम्परा को लेकर आगे बढ़ी। अपभ्रंश की यह जीवन्त परम्परा कुछ तो 'संदेश रासक' जैसे प्रेम-मुग्ध लोक-गीतों में व्यक्त हुई थी, कुछ भविसयत्त कहा, जसहर चरिउ,

हिंदी में अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा का विकास

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह द्वारा सम्पादित 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' (पृ० १६८–१८३)

णायकुमार चरिउ, और करकंड चरिउ जैसे आख्यानककाव्यों में, कुछ जैन मुनियों तथा बौद्ध सिद्धों के दोहों में और कुछ स्वयंभू और पुष्पदंत के पौराणिक काव्यों में। हिंदी में इस प्राण धारा का विकास कहीं प्रत्यक्ष रूप से हुआ और कहीं परोक्ष रूप से; कहीं यह विकास अपभ्रंश से बहुत आगे हो गया और कहीं अपभ्रंश की सीमा से कुछ ही आगे बढ़ सका। इन सभी बातों पर सोदाहरण विचार करने के लिए इनमें से एक एक को अलग अलग लेना ठीक होगा।

अपभ्रंश लोक-गीत और हिन्दी के शृंगारी मुक्तक

अपभ्रंश में लोक जीवन के स्पर्श तथा लोक तत्त्वों के प्रवेश से जितनी रचनाएँ हुईं उनमें 'संदेश रासक' महत्त्वपूर्ण है। अन्य रास काव्यों की तरह इसमें किसी पुरुष का चरित नहीं गाया गया है, बल्कि यह छोटा-सा प्रेम गीत है। इस तरह के 'रास काव्य' हिंदी में भी लिखे गए। बीसलदेव रास[1] (१४वीं शताब्दी ईस्वी) ऐसा ही रास काव्य है जिसे 'पृथ्वीराज रासो' आदि पुराने ढंग के चरित-प्रधान रासो काव्यों से भिन्न कोटि में रखना चाहिए। लगभग सवा सौ छंदों के इस छोटे से प्रेम-काव्य में बीसलदेव के परदेश जाने और उसकी रानी राजमती के वियोग तथा संदेशा भेजने और फिर बीसलदेव के वापस आने की बात ललित मुक्तकों में कही गई है। यदि इस कहानी को हटा दिया जाय तो भी इस प्रेम-काव्य के मुक्तकों की एकसूत्रता में अंतर नहीं आ सकता क्योंकि सभी छन्दों के बीच कथा की अपेक्षा भाव का सूत्र है। 'संदेश रासक' की भाँति 'बीसल देव रास' भी मुख्यतः विरह काव्य है; अंतर इतना ही है कि 'बीसल देव रास' के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं; साथ ही बीसलदेव के परदेस जाने का प्रसंग भी वर्णित है। शेष प्रसंग सामान्य रूप से लगभग एक-सा है अंतर केवल ब्यौरे का है। जैसे 'संदेस

१. डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित और हिंदी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग द्वारा प्रकाशित, १९५३ ई०

रास' में जहाँ षड् ऋतु-वर्णन है वहाँ 'बीसलदेव रास' में बारहमासा है। ऐसा मालूम होता है कि 'बारहमासा' की प्रवृत्ति परवर्ती काल में विकसित हुई। अपभ्रंश की जिस रचना में 'बारहमासा' मिलता है, वह विनयचन्द्र सूरि-कृत 'नेमिनाथ चउपई' तेरहवीं शताब्दी ईस्वी से पहले की रचना नहीं है, यदि होगी तो उसके बाद की होगी। इसके अतिरिक्त 'संदेश रास' का षड् ऋतु वर्णन जहाँ ग्रीष्म ऋतु से शुरू होता है, वहाँ 'बीसल-देव रास' का 'बारह मासा' कार्तिक मास से आरम्भ होता है। कारण स्पष्ट है। चौमासे में कोई प्रवास नहीं करता। प्रायः लोग पावस के चार महीने बिताकर ही कहीं बाहर निकलते हैं। बीसलदेव ने भी ऐसा ही किया। इसलिए उसकी रानी राजमती की विरह वेदना का क्वार के बाद कार्तिक से शुरू होना स्वाभाविक है।

इसी तरह 'संदेश रास' में संदेश लेकर पथिक ज्योंहो प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रिय दिखाई पड़ जाता है और काव्य वहीं समाप्त हो जाता है, जब कि 'बीसलदेव रास' में पथिक सचमुच बीसलदेव के पास पहुँच जाता है, और रानी की चिट्ठी पाकर वह उड़ीसा से अपने राजधानी अजमेर को प्रस्थान करता है लेकिन प्रस्थान करने से पहले रानी के पास अपने आगमन की पूर्व सूचना भेजता है। 'बीसलदेव रास' की समाप्ति राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन के सुखद वर्णन के बाद होती है।

इसी तरह ब्यौरे की और भी कई बातें हैं जिनमें 'बीसलदेव रास' 'संदेश रास' से भिन्न है। फिर भी दोनों मूलतः विरह काव्य हैं और दोनों की मुख्य भाव धारा एक है। इसका मतलब यह नहीं है कि 'बीसलदेव रास' 'संदेश रास' से प्रत्यक्षतः प्रेरित और प्रभावित हुआ है। साहित्य में ऐसे प्रभाव और प्रेरणाएँ परोक्ष हुआ करती हैं। इनका मूल आधार तो लोक जीवन में ही हुआ करता है।

विवाहोत्सव में बीसलदेव और राजमती भाँवरें देते हैं। पहली भाँवर पर कन्या के पिता 'आलीसर' और 'माल' नाम के दो गाँव दायज में देते हैं। दूसरी भाँवर पर कन्या की माता दामाद को न जाने कितना द्रव्य

और कई गाँव देती है। तीसरी भाँवर पर सारे रनिवास ने मिलकर कई अच्छे घोड़े और देश दिए। इस तरह सातों भाँवरें पूरी की जाती हैं। संपूर्ण प्रसंग को पढ़ते समय इस अवसर पर गाए जाने वाले लोक गीतों का स्मरण हो आता है। 'वीसलदेव रास' को छोड़कर हिंदी के और किसी काव्य में इस मार्मिक प्रसंग की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

रानी राजमती स्वभाव की कुछ खरी और ज़बान की ज़रा तेज़ है। राजा वीसलदेव ने एक दिन ज़रा अपने राजकीय अभिमान की रौ में कहा कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं है। अपना पति है तो क्या, रानी से यह मिथ्या अभिमान न सहा गया। उसने राजा को तुरंत टोका और कहा कि गर्व मत कर। उड़ीसा का राजा तुमसे धनी है। जिस तरह तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है, उसी तरह उसके घर में हीरे की खानों से हीरा निकलता है। जवाब सुनते ही राजा रूठ गया और रानी के लाख अनुनय-विनय पर भी उसने उड़ीसा जाने का संकल्प कर लिया। ऐसे समय रानी राजमती के कहे हुए वचन बहुत ही मार्मिक हैं। रानी कहती है—

हेडाऊ का तुरिय जिउं
हाथ न फेरइ सउ सउ बार।

अर्थात् मैं हेड़ा (हार) के उस घोड़े की तरह उपेक्षिता हूँ जिस पर हेड़ावाला सौ-सौ दिनों तक हाथ नहीं फेरता।

जबान की तेज़ तो वह है ही; राजा को भी कम चोट नहीं लगी है। वह कहता है "हे नारी कड़वी बात मत कह। मैंने तुझे चित्त से विसार के छोड़ा है। जीभ नई नहीं निकलती। दवाग का डाढ़ा पेड़ तो फिर कोपलें लेता भी है लेकिन जीभ का जला फिर पल्लवित नहीं होता।"

जीभ नवी नहु नीकलइ
दवका दाधा हो कूपल लेइ
जीभ का दाधा न पाल्हवइ।

रानी फिर भी अपनी कैंची से बाज़ नहीं आती। "अर्थ-द्रव्य के लिए

परदेस जाकर तुम कुल-कानि मिटा रहे हो। अर्थ-द्रव्य तो धरती में गड़ा रह जाता है किंतु जो इसका संचय करता है, यह उसी को खाता है—

अरथ दरब गाड्या रहइ।
जेह नइ सिरिजियउ तेहीज षाइ।

सात सहेलियाँ राजमती को समझाती हैं कि स्वामी को 'फूल पगर जिउं गाहिजइ'; फिर भी वह जवाब देती है कि ताज़ी घोड़ा यदि उसासें लेता है तो दागा जाता है; चरता हुआ मृग भी मोहित किया जा सकता है; किन्तु हे सखी, अंचल में नाथ को बाँधा कैसे जा सकता है?

चांपीया तेजीय जउ रे उससाइ
मृग रे चरंता मोहिजइ
सखी अंचलि बाँधियउ नाह किउं जाइ!

उसकी नीरसता पर झल्लाकर राजमती यहाँ तक कहती है।

राउ नहीं सषि भइंस-पीडार!

मध्ययुग के समूचे हिंदी साहित्य में ज़बान की इतनी तेज़ और मन की इतनी खरी नायिका नहीं देखी। परंतु तेज़ है तो क्या हुआ? है तो आख़िर नारी ही। प्रिय के विछोह के बाद उसका रुदन हृदय विदीर्ण कर देता है। उसे अपने स्त्री-जीवन पर रोना आता है। महेश से वह उलाहना देती है कि स्त्री का जन्म तुमने क्यों दिया? देने के लिए तो तुम्हारे पास और भी बहुतेरे जन्म थे। तुमने मुझे जंगल का जंतु क्यों नहीं बनाया? धौरी गाय भी क्यों नहीं बनाया? यदि वनखंड की काली कोयल ही बनाया होता तो आम और चंपा की डाल पर तो बैठती, अंगूर और बीजोरी के फल तो खाती!

अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस
अवर जनम थारइ घणा रे नरेश
रानि न सिरजीय रोझडी
घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।
बनषंड काली कोइली

हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल।
भषती दाष विजोरडी।

आगे वह फिर कहती है कि यदि तुमने मुझे नारी ही बनाया तो राजा रानी न बनाकर आँजनी (जाटनी) क्यों नहीं बनाया? तब मैं अपने भरतार के साथ खेत कमाती, अच्छी लोवडी (लोमपटी) पहनती, तुंग तुरग के समान अपना गात स्वामी के गात से भिड़ाती, स्वामी को सामने से लेती और हँस-हँस कर प्रिय की बात पूछती।

आंजणी काइं न सिरजीय करतार
षेत कमावती स्यउं भरतार
पहिरण आछी लोवडी
तुंग तुरीय जिम भीडती गात्र
साईंय लेती सामुही
हँसि-हँसि बूझती प्रिय की बात।

कितनी बड़ी विवशता है! किसी राजा की रानी होना कितना बड़ा अभिशाप है! मुक्त जीवन की कितनी बड़ी लालसा राजमती के इस कथन में निहित है। मध्ययुग की किसी भी रानी में ऐसी उन्मुक्त आकांक्षा नहीं दिखाई पड़ती।

इस तरह विसूरते हुए जो बारह महीने बीत जाते हैं तो राजमती एक पंडित को बुलाती है और प्रिय के पास चिट्ठी लेकर जाने की प्रार्थना करती है। सहेलियाँ हठ करती हैं कि हे सखी, तुमने जो लिखा है, हमें भी सुना।

राजमती एक-एक करके सारी बातें पढ़ सुनाती है। चिट्ठी में लिखते-लिखते अंत में वह लिखती है कि हे राजा, तुम ज्ञान की बातें जानते हो। तुम्हें तो यह मालूम ही है कि हमें दो काया और एक प्राण मिले हैं। उस दूसरी काया को तुम दूर से क्यों छोड़ रहे हो? मैं कुलीन बेटी हूँ और शील की जंजीर में बँधी हूँ। अपने जोबन को मैं चोर की तरह छिपा कर रख रही हूँ। इसका पाप पग-पग पर तुम्हें लग रहा है।

जाणियउ हो राजा थाकउ जाण
दुहुँ रे काया मिलउ एक पराण
सा क्यउं दूरि थी मेल्हियइ
कुल की रे बेटीय सील जंजीर
जोबन राषउं मइं चोर जिउं
पगि-पगि तो नइ पहुँच रे पाप।

और चिट्ठी बाँच लेने के बाद पंडित से कुछ जबानी कहने को भी कहती है।

एक सरां घरि आविज्यो
थारी बाट बुहारूँ सिरह का केसि।
जोबन भरि जल उलस्यउ
थाग न पावु सुणहु नरेस।

प्रिय की बाट को अपने सिर के केशों से बुहारने में कितनी विह्वलता है और लोक-गीतों में अपने पति को जो 'ननद का भाई' कहकर पुकारने की प्रथा है, वह भी राजमती के मुख से सुनिए।

तूं तउ उवइगउ रे आविज्यो नणद का बीर।

संदेश देने के साथ ही राजमती पंडित को यात्रा संबंधी बहुत सी हिदायतें भी देती है। लेकिन पंडित तो फिर पंडित ठहरे; किया उन्होंने अपने मन ही का। रानी की सारी सीखें उन्हें भूल गईं। सलाह दी गई थी बड़े डग जाने की और चले पंडित छोटे डग। इस तरह वे सात महीने में उड़ीसा पहुँचे। सात महीने में तो क्या पहुँचे होंगे, लेकिन व्याकुल रानी के लेखे वह सात ही महीना था। लोक कथाओं के संदेश वाहक भी ऐसी ही देर कर जाते हैं।

ख़ैर राजा को घर की सुधि आती है और वह भी घर पहुँचने से पहले पत्र देकर एक सिद्ध योगी को भेजता है क्योंकि इतना जल्दी उसके सिवा और पहुँच ही कौन सकता है। प्रिया और प्रिय के संदेश वाहकों में कितना विरोध है! भावों के प्रतीक हों तो ऐसे!

सो वह योगिराज राजमती के हाथ में पत्र देते हैं और पत्र देखकर रानी के हृदय से ये उद्‌गार निकलते हैं—

जिण विण घडीय न जीवती
हिवइ ताहि स्युं हुवा चीरी बिवहार।

जिनके बिना घड़ी भर भी नहीं जी पाती थी, अब उन्हीं से पत्र-व्यवहार की नौबत आ गई।

अंत में चिट्ठी के बाद वह चिट्ठी लिखने वाला भी मिलता है। इस मिलन में नारी की आनंदातिरेक-जनित चंचलता, विह्वलता, हँसी-ठिठोली वग़ैरह देखने योग्य है—

मुलकइ, हसइ, आलिंगन देइ,
पलिंग न बइसइ, अनइ पान न लेइ,
ऊभीय देइ उलंभडा—
"आंगुली तोडइ छइ, मरोडइ छइ बाँह
नाह भरोसइ काइं करउ ?
तइं तउ बारह बरिस किउं मेल्हीय नाह ?"

और इतना दुख झेलने के बाद भी ज़बान की वह कैंची न गई और न हुई तनिक भी भोथर। आख़िर उसने फिर ताना मार ही दिया—

स्वामी घी विणजियउ नइ जीमियउ तेल !

हे स्वामी तुमने वाणिज्य तो घी का जरूर किया किन्तु जैंया तेल ही ! इतनी सुंदर नारी से विवाह तो किया लेकिन उसका उपभोग करने का सौभाग्य तुम्हें न मिल सका ! कोई घी जैसी चिकनी जीभ ही ऐसी काठ-सी-कटेठी बात कह सकती है ! अभिव्यक्ति की सादगी और भावों की तीव्रता में 'वीसलदेव रास' 'संदेशरास' से कहीं अधिक लोक-जीवन के रंग में रँगा हुआ है। इससे यही प्रमाणित होता है कि हिंदी साहित्य के अभ्युदय-काल में अपभ्रंश-युग की अपेक्षा लोक-जीवन में जागर्ति अधिक आ गई थी और उसके फलस्वरूप साहित्य में लोक तत्त्व का प्रवेश अधिक दूर तक होने लगा था। 'वीसलदेव रास' पर लोक-तत्त्व का प्रभाव इतना गहरा है

कि इसका छंद भी एकदम लोक-गीतों का है, यों तो परिश्रम करने से इसका संबंध किसी-न-किसी पुराने छंद से स्थापित किया ही जा सकता है, लेकिन प्रायः इसका प्रयोग इससे पूर्ववर्ती किसी काव्य-ग्रंथ में नहीं मिलता।

ढोला मारू-रा दूहा

इस तरह का एक और लोक-काव्य 'ढोला मारू-रा-रा-दूहा' (१५वीं शताब्दी ईस्वी) है जो 'संदेश रास' और 'वीसलदेव रास' की तरह मूलतः विरह-गीत ही है; परंतु समय-समय पर उसमें दाव-पेच भरी हुई कथाओं की चिप्पियाँ लगाकर उसे मुक्तक से आख्यानक काव्य बना देने के प्रयत्न हुए हैं। मुख्य काव्य इतना ही है कि सयानी होने पर मारवणी अपने बचपन के पति ढोला की चर्चा सुनती है और विरह में व्याकुल हो जाती है। वह अपने पति का पता लगाने के लिए कई संदेश-वाहक भेजती है लेकिन कोई वापस लौटने नहीं पाता; सभी संदेशवाहकों को उसकी सौत मालवणी मरवा देती है और ढोला के पास मारवणी का संदेश तक नहीं पहुँचने देती। अंत में मारवणी लोक-गीत के गायक एक ढाढ़ी को यह जिम्मेवारी सौंपती है और ढाढ़ी को इस उद्देश्य में सफलता मिलती है। ढाढ़ी के प्रयत्न से ढोला और मारवणी दोनों में पुनर्मिलन होता है। संग्रह में संगृहीत अधिकांश गीतों की पृष्ठभूमि यही है। इसके बाद कुछ और रस पैदा करने के लिए मारवणी को मृत्यु करा दी गई है और उसे किसी तरह जिला देनेके बाद फिर ऊमर-सूमरा जैसे शत्रु की बाधा खड़ी की गई है और अंत में उस बाधा को भी दूर करके ढोला को और उसकी दोनों पत्नियों को इकट्ठा मिला दिया गया है। इस तरह वर्तमान कथा-प्रसंग में 'रुकावट दौड़' का सा रस उत्पन्न करने की चेष्टा दिखाई पड़ती है जब कि मुख्य प्रसंग ढोला के प्रति मारवणी के विरह-निवेदन और संदेश-प्रेषण तक ही सीमित है। 'ढोला काव्य का यह मुख्य अंश वस्तुतः गीतात्मक ही है; इतने

---

१. सर्वश्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा संपादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, १९३४ ई०

कथा-प्रसंग का अध्याहार तो कितने मुक्तक, सवैयों और घनाक्षरियों में रहा करता है।

ढोला० के काव्य-गठन में 'संदेश रास' और 'वीसलदेव रास' से यह नवीनता है कि इस षड्-ऋतु वर्णन या 'बारहमासा' जैसी कोई चीज़ नहीं है; ऋतुओं में केवल पावस का वर्णन है और वह भी विस्तार से। ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि मारू देश में सबसे मनोहर पावस ऋतु ही होती है जैसा कि ढोला० में कहा भी गया है—'मारू देस सुहावणा सावण साँझी बेर'। ढोला० के इस पावस वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें स्थानीय रंगत सबसे अधिक है, 'वीसलदेव रास' से भी अधिक। ढोला० के पावस-वर्णन में परंपरा-भुक्त कुछ भी नहीं है। ढोला० में प्रसंगात् मारू देस का भी वर्णन है लेकिन यह वर्णन 'संदेश रास' के 'सामोर' की तरह परिपाटी-विहित नहीं है; उसमें काव्य-रूढ़ गिनी चुनी वस्तुओं और पेड़ों के नाम गिनाने का शौक़ नहीं है। यहाँ भी मारवाड़ का वास्तविक जीवन प्रतिबिंबित हो उठा है।

ढोला० के संदेश-कथन में भी विशेषता है। 'संदेश रास' में संदेशा सर्वथा अपरिचित एक पथिक से कहा गया है; 'वीसलदेव रास' में अपने राज्य के ही एक पंडित को बुलाकर कहा गया है। लेकिन ढोला० में क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढ़ियों तक अपनी विरह-वेदना कही गई है। यहाँ संदेश-वाहक भी सहृदय हैं। क्रौंच पक्षी से बढ़कर विरह-विदग्ध और कौन होगा; दूसरी ओर गायक ढाढ़ी भी पथिक और पंडित की तरह मात्र श्रोता नहीं हैं बल्कि संदेश को अपनी रचना शक्ति से अधिक मार्मिक बनाकर कहने वाले जीव हैं। ऐसी दशा में ढोला० के संदेश-कथन में मार्मिकता कहीं अधिक है।

शैली की दृष्टि से ढोला० लोक-गीत के निकट सबसे अधिक है। एक पंक्ति की अनेक आवृत्तियाँ प्रायः लोक-गीतों की विशेषता दिखाई पड़ती है। इससे उनमें सरलता के साथ ही मार्मिकता भी बढ़ जाती है। ढोला० के दोहों में—विशेषतः विरह निवेदन में इस प्रवृत्ति की बहुलता है।

मारवणी के संदेश-कथन का आरंभ इस प्रकार होता है कि एक रात घर के पीछे वाले सरोवर में रात भर कुररी पक्षियों का करुण-रव होता रहा। मारवणी को नींद नहीं आई। सुबह होते ही सखियों सहित सरोवर के पास गई और कुंझों से बोले बिना न रह सकी। मारवणी और कुंझों का सवाल जवाब थोड़ी देर तक होता रहा और अंत में किसी गंवार को शर-संधान करते देख कुंझड़ियाँ उड़ गईं। पक्षी और स्त्री की इतनी मार्मिक बातचीत हिंदी में 'पद्मावत' को छोड़कर और कहीं नहीं है। यह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

"कुंझाँ, द्यउ नइ पक्खड़ी, थाँकउ विनउ वहेसि।
सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि॥"
"म्हे कुरझाँ सरवर-तणा, पाँखाँ किणहिं न देस।
भरिया सर देखी रहाँ, उड़ आघेरि वहेस॥"
"उत्तर दिसि उपराठियाँ, दक्षिण साँमहियाँह।
कुरझाँ, एक संदेसड़उ ढोलानइ कहियाँह॥"
"माणस हवाँ त मुख चवाँ, म्हे छाँ कूझड़ियाँह।
प्रिउ संदेसउ पाठविसु, लिखि दे पंखड़ियाँह॥"
"पाँखे पाणी थाहरइ, जलि काजल गहिलाइ।
सयणाँ-तणाँ संदेसड़ा, मुख-वचने कहिवाइ॥"

कुंझ चाहे जो हों, लेकिन हैं तो आख़िर पंछी ही। वे भला इतनी समझदारी से भरा उत्तर कैसे दे सकती हैं? लेकिन विदग्ध चित्त की गति विचित्र होती है। यदि कुंझें नहीं बोल रही हैं तो यह चित्त उनकी ओर से स्वयं ही जवाब दे लेता है। इस मनःस्थिति को इस बात-चीत में कितनी मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है।

यदि कुंझों ने अपनी पाँखों पर संदेशा लिखवाने से इनकार कर दिया, और यदि उन्होंने प्रियतम के पास जाने के लिए अपनी पाँखें उधार न दीं तो क्या हुआ! ढाढ़ी तो हैं ही। मारवणी उन्हीं में से एक को बुलाकर अपना संदेशा कहती हैं। इस संदेश में कोई लम्बी चौड़ी बात नहीं, बना-

वट नहीं। स्त्रियों का संदेश दिल पर जितनी सीधी चोट करने वाला होता है, कैसा ही है। हर एक भाव, और हर एक वाक्य जैसे रह-रह कर उठती हुई एक-एक लहर है—इन सबका ऐसा लम्बा सिलसिला है कि कभी ख़त्म ही होता न दीखे।

ढाढ़ी, एक संदेसडउ प्रीतम कहिया जाइ।
सा धण बलि कुइला भइ, भसम ढँढोलिसि आइ॥
ढाढ़ी, जे प्रीतम मिलइ, यूँ कहि दाखवियाह।
पंजर नहिं छइ प्राणियउ, थाँ दिस झल रहियाह॥

धनिया जलकर कोयला हो गई, अब आकर उसकी भस्म ढँढोलना और पंजर में प्राण नहीं हैं, केवल उसकी लौ तुम्हारी ओर झुक-झुक कर जल रही है—ये दोनों ही चित्र कितने प्रभावशाली हैं! करुणा मूर्तिमती हो गई है। आख़िर कौन इतना निष्ठुर होगा कि ऐसा संदेशा पाने पर घर न चला आए। इसके बाद तो कभी वह उस 'भलेमानस' से संदेशा कहने को कहती है तो कभी उस 'राज्यँद' से, कभी अपने 'साहिब' से निवेदन करती है तो कभी सीधे अपने 'ढोला' से! जैसा भाव वैसा संबोधन।

मारवणी के मन की स्थिति का एक और चित्र है जब ढोला के आने की ख़बर उसे मिलती है। खबर सुना नहीं कि हृदय हर्षोद्रेक से हेमगिरि-जितना विशाल हो गया। वह अनुभव करती है कि अब वह तन-पंजर में समाएगा ही नहीं!

हियड़ा हेमाँगिरि भयउ, तन-पंजरे न माइ।

वह अपने मंदिर में इस तरह फुदकती हुई चली जैसे कोई फौव्वारा छूट रहा हो—

मारू चाली मंदिरे, जाणि छुटो छंछाल।

वह 'घम्म घम्मन्त घाघरे' में एक घर से दूसरे घर में चलती हुए ऐसी मालूम हो रही है जैसे 'झीणे बादल चंद।' और अपने हर्षातिरेक में देखती है कि घर के खंभे तक नाच रहे हैं सारा घर हँस रहा है और सबसे बढ़कर तो वह खाट है जो उठकर खेल रही है—

सोई साजण आविया, जाहँ की जोती बाट ।
थाँभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ॥

इस प्रकार मारवाड़ देश में लिखे हुए ये दोनों लोक-काव्य चारणों की राजस्तुतियों के परिपार्श्व में सामान्य लोक-जीवन की स्वस्थ और सरस भावनाओं को प्रकट करते हैं। ये लोक-काव्य उच्च स्वर से घोषणा करते हैं कि बड़ी से बड़ी विषम स्थिति में जनता गाना बन्द नहीं करती और यदि राज दरबार अपने मिथ्या अभिमान, वैभव और गौरव का निष्प्राण तथा आडंबरपूर्ण साहित्य कुछ स्वर्ण मुद्राओं और रजत-खण्डों के बल पर लिखवाते हैं तो जनसाधारण के कवि अपनी उमंग से ही अपने जीवन का रस सहज ही काव्य में उँडेला करते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'संदेश रास' मुल्तान में लिखा गया और 'वीसलदेव रास' तथा 'ढोला काव्य' भी उसके पास ही मारवाड़ देश में। ये पश्चिमी भारत के जीवंत लोक जीवन के प्रमाण हैं।

अपभ्रंश कथाएँ और हिंदी के आख्यानक काव्य

अपभ्रंश साहित्य की प्राणधारा ऐहिक लोक-गीतों के अतिरिक्त जिन रचनाओं में व्यक्त हुई वे प्रायः सबकी सब धार्मिकता का पुट लिए हुए हैं। लोक-प्रचलित कहानियों में जगह-जगह धार्मिक संकेत की छौंक देकर इस्तेमाल में लाने की प्रथा इस देश से पहले से ही मौजूद रही है। लोक-गीतों में धार्मिकता का पुट तो नहीं दिया गया क्योंकि वे गाने के लिए लिखे गए और अपने राग-रंग के ऐहिक क्षणों में जन-साधारण भरसक धार्मिक जीवन के ऊँचे आदर्श को भूलना ही अच्छा समझते हैं। आखिर यह भी क्या जीवन है कि जब देखो तब ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की ही दुनिया में रहा जाय, एक उच्चतर आमुष्मिक भाव की ही चर्चा में रत रहे। वास्तविकता भी कोई चीज़ होती है, सहज जीवन का भी अपना आनंद होता है, अनावृत क्षणों का भी अपना महत्त्व होता है। 'वीसलदेव रास' और 'ढोला के' दोहे ऐसे ही अवसरों पर गाए जाने के लिए रचे गए हैं। इसका कारण शायद यह भी हो कि जिन दिनों ये रचे

गए, धार्मिकता की लहर लोक-जीवन में उतनी नहीं उठी थी। क्योंकि थोड़े दिनों के बाद ही जब उत्तर भारत में भक्ति की बाढ़ आई तो ये तमाम लोक प्रचलित गीत गोविंद, राम आदि भगवत्परक नामों से संवलित करके भक्ति-भाव के लिए इस्तेमाल कर लिए गए। ढोला० के अनेक दोहों को कबीर ने ज्यों का त्यों उठा लिया—कहीं-कहीं अपनी ओर से इतना ही किया कि जहाँ 'प्रीतम' था, वहाँ 'गोविंद' को रख दिया। जैसे ढोला० के

राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी वीछड़ी, तिणका कवण हवाल॥

को कबीर ने इस प्रकार कर लिया—

अंबर कुंजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिन मैं गोविंद वीछुरे तिनके कौण हवाल॥

लेकिन लोक गीतों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन लोक-कथाओं में किया गया है क्योंकि उनमें परिवर्तन की गुंजाइश अधिक होती है।

अपभ्रंश की 'भविसयत्त कहा' मूलतः एक लोक-कथा है। इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है कि एक सौदागर के दो औरतें थीं। छोटी को वह बहुत मानता था, बड़ी की कोई कद्र नहीं थी। कुछ दिनों बाद अपने बाप की आज्ञा से छोटी स्त्री का लड़का रोजगार के लिए परदेस चलने लगा। यह देखकर बड़ी का भी लड़का मचल उठा। माँ ने मना किया लेकिन वह न माना। आखिर उपेक्षिता के लड़के की ही तकदीर खुली और उसे काफी धन मिला, यहाँ तक कि धन के साथ ही एक धन्या भी मिली। दूसरी ओर पति की प्रिया के लड़के के हाथ कुछ न लगा। तब ईर्ष्यावश रास्ते में इस लड़के ने अपने सौतेले भाई को कूएँ में झोंक दिया और उसका सब कुछ लकर वह खुद घर चला आया। संयोग से उस लड़के की जान बच गई और वह फिर बहुत सारा धन लकर घर पहुँचा। भेद खुलने पर एक को दण्ड और दूसरे को पुरस्कार दिया गया। जैसे उसका राज-पाट लौटा वैसे सबका लौटे।

'भविसयत्त कहा' की कहानी यही है। कहीं यही कहानी राजा-रानी

और राजकुमारों के रूप में कही जाती है और कहीं सौदागर के रूप में। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे वह राजा हो चाहे सौदागर। है वह एक साधारण आदमी का ही प्रतिनिधि।

यदि ध्यान से देखा जाय तो स्वयं इस कहानी की रचना में ही एक विशेष उद्देश्य काम कर रहा है। यही कहानी रची ही गई है इस उद्देश्य के लिए जो मनुष्य द्वारा तिरस्कृत होता है उसकी मदद भगवान या भाग्य करता है। लोक-कथाएँ प्रायः स्त्री जाति द्वारा ही रची जाती हैं; इसलिए स्वभावतः उनमें उन्हीं का दुख-सुख सबसे अधिक होता है और दुख-सुख में वास्तविक तो दुख ही रहता है, सुख तो केवल आकांक्षा की उपज होता है। पुरुषों द्वारा सताई हुई स्त्री-जाति आखिर इसके सिवा और क्या सोच और कह सकती है। पति अपने सुख के लिए एक से अधिक विवाह अक्सर कर ही लिया करते थे। ऐसी दशा में कभी तो छोटी सौत से तकलीफ़ मिलती थी और कभी बड़ी सौतों से सबसे छोटी रानी को क्योंकि कभी-कभी अनुभवी रानियाँ छोटी रानी को ही कौवा बना देती हैं, राजा के मानने से क्या होता है। वह चौबीसो घंटे अपनी छोटी रानी की देख-भाल तो नहीं कर सकता। जो हो किसी न किसी पत्नी को तकलीफ़ होना जरूरी है। पीड़ा तो पीड़ा ही है, इस अंगुली को दबाएँ तो पीड़ा और उस अंगुली को दबाएँ तो पीड़ा।

अब पीड़ित औरत स्वयं तो कुछ कर नहीं सकती। इसलिए उसकी पीड़ाओं को दूर करने वाला उसका बेटा होता है। स्त्री को अपने बेटे का सबसे बड़ा बल होता है। यहीं से उसकी कल्पना को पङ्ख लगते हैं और बाकी कहानी उसी कल्पना का परिणाम होती है जिसमें उसका लड़का सात समुन्दर पार कहीं से अचानक अपार धन राशि और साथ में एक चुनमुनी बहू भी लेकर लौटता है। माँ का हृदय आखिर ठहरा तो माँ का ही हृदय। पुत्र के इस आकस्मिक भाग्योदय पर भी उसे विपत्ति की आशंकाएँ हैं और ये वास्तविक आशंकाएँ इतनी प्रबल हैं कि कल्पना में भी मन को नहीं छोड़तीं। ये आशंकाएँ उसके काल्पनिक सुख को भी

अपनी छाया से मलिन कर देती हैं। फलतः पुत्र का भाग्योदय भी किसी न किसी बाधा-विघ्न अथवा संकट से ग्रस्त होता है। यह संकट कभी दैवी होता है और कभी मानवीय। कभी वह अपनी ही सौत के लड़के की ओर से आता है और कभी किसी अदृष्ट शक्ति की ओर से। लेकिन कल्पना केवल आशंकाओं की सृष्टि के लिए नहीं की जाती। कभी-कभी की भी जाती है लेकिन ऐसी कल्पनाएँ उसी मन की होती हैं जो अधिक शंकाकुल, संदेहशील और निराशावादी होता है। लेकिन यहाँ तो माँ को अपने बेटे पर अडिग विश्वास है; इसलिए उसे पूरी आशा है कि हमारा लड़का धरती चीर कर चाहे आकास फाँद कर कहीं न कहीं से हमारा दिन लौटाएगा। यही विश्वास ऐसी हर कहानी को सुखान्त बनाता है; वे बाधाएँ कुछ तो मनुष्य के अपने उद्योग से और कुछ अतिमानवीय शक्तियों की मदद से दूर हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में प्रकृति अथवा परिस्थिति की मदद से मनुष्य अपने दुर्भाग्य पर विजय प्राप्त करता है। स्त्री का सौभाग्य यदि पुरुष छीनता है, तो पुरुष ही उसे वापस भी करता है। अंतर इतना ही है कि यह पीढ़ी छीनती है तो आगे आने वाली पीढ़ी पर आशा लगी रहती है कि वह वापस लौटाएगी; पति यह पीढ़ी है तो पुत्र अगली पीढ़ी का प्रतीक है।

इस तरह यदि 'भविसयत्त कहा' की मूल लोककथा का अच्छी तरह विश्लेषण किया जाय तो वह अपने आप में बहुत अधिक सोद्देश्य है।

फिर भी ऐसा मालूम होता है कि विद्वानों को इतने से संतोष नहीं हुआ। यही क्यों, उस उद्देश्य से उनके उद्देश्य का मेल नहीं बैठा। नारी का असंतोष भी कोई असंतोष है! यह भी कोई मानवीय वस्तु है? यह तो कर्मों का फल है और वह भी पूर्व जन्म के कर्मों का फल। इस पर किसी का क्या वश? यह कष्ट जैसा स्त्री के साथ वैसा पुरुष के साथ। इसे भला कोई अदृष्ट शक्ति कैसे दूर कर सकती है? अदृष्ट तो अदृष्ट ही है, उसका क्या भरोसा? उससे अधिक भरोसा तो अपने आराध्य देव का किया जा सकता है। ये आराध्य देव चाहे जिन हों या और कोई।

इनका भरोसा इसलिए किया जा सकता है कि इन्हें प्रसन्न करने की विधियाँ निश्चित हैं और मालूम हैं जब कि अदृष्ट अथवा भाग्य तो अनिश्चित है, राम-भरोसे है। अपने आराध्य देव को प्रसन्न करने के लिए पूजा-पाठ, व्रत आदि काफी हैं और जैन मत में 'श्रुत पञ्चमी' एक ऐसा ही व्रत है। इस तरह जो कहानी पहले शुद्ध कल्पना-जनित भाग्य पर आधारित थी, वह सिद्धान्त-विशेष-जनित उपासना विधि पर स्थापित कर दी गई।

मध्ययुग में ऐसा सोद्देश्य संशोधन अनेक लोक-कथाओं के साथ किया गया है। उत्तर भारत में प्रचलित 'सत्यनारायण की कथा' भी ऐसा ही सोद्देश्य संशोधन है। यह संशोधन कभी-कभी इस हद तक किया जाता है कि मूल कथा गायब हो जाती है और केवल संशोधन ही बच रहता है जैसे 'सत्यनारायण की कथा' में व्रत और कथा का केवल माहात्म्य ही रह गया है, मूल कथा इतनी घिस गई है, इतनी घिस गई है केवल 'सत्य-नारायण' नाम के रूप में शेष रह गई है।

यही नहीं, इन लोक-कथाओं में परवर्ती युग के पण्डितों ने एक और प्रकार का संशोधन किया। स्त्रियों की आदिम लोक-कथाओं में सारा वाता-वरण घरेलू और गँवई स्तर का ही हुआ करता था? उसमें राजाओं और रानियों का नाम तो रहता था लेकिन राजाओं के बड़े-बड़े युद्धों के लिए कोई जगह न थी। धन-वैभव के वर्णन में हीरे जवाहरात घोड़ा हाथी तो रहते थे, लेकिन तोप-तलवारें न थीं। मध्ययुग के पण्डितों ने उन लोक-कथाओं को अपने हाथ में लेते ही देखा कि इनमें राजा-रानी अपने पूरे वैभव के साथ नहीं आए हैं। आखिर राजा भी क्या कि दो-चार लड़ाइयाँ न करे। ऐसे सामन्त-युगीन प्रभाव से इस कवि का प्रभावित होना स्वाभाविक था। बिना इस संशोधन के उसकी कहानी की वास्तविकता में उस समय विश्वास कौन करता?

'भविसयत्त कहा' के दूसरे खंड में कवि ने यही संशोधन किया है। इधर विद्वानों में पुरानी पोथियों की प्रामाणिकता का पता लगाने की ऐसी

आकुलता है कि वे हर कथा के मूल रूप को ही प्रामाणिक मानने का पैमाना लेकर दौड़ पड़े हैं। उन्हें जहाँ भी किसी कथा में कुछ जोड़ और कुछ चकतियाँ दिखाई पड़ती हैं, चट से वे इन सबको प्रक्षिप्त कहकर कतर फेंकते हैं। ये खोजी विद्वान केवल नींव का पता लगाने निकले हैं, इनको नींव के ऊपर चुनी हुई ईंटों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता को लेकर बेहद परेशानी होती है। लेकिन यह रचना परेशानी की चीज़ नहीं है। नींव ही वास्तविक नहीं है, उसके ऊपर समय-समय पर जितनी ईंटें रखी गई हैं, वे सब भी वास्तविक हैं, उन सबका भी ऐतिहासिक महत्त्व है। बल्कि इतिहासकार की दिलचस्पी इन स्तरों में ही सबसे अधिक होनी चाहिए। किस युग की विचार धारा ने मूल-कथा पर कौन सी चिप्पी लगाई, यह जानना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समय-समय पर जोड़ी हुई ये चिप्पियाँ किसी युग के साहित्य और समाज को समझने में विशेष सहायक हुआ करती हैं। भाषा जैसी अल्प-परिवर्तनशील तथा काव्य-रूप आदि अन्य परम्परित काव्यात्मक उपादानों की मदद से किसी रचना की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के निर्णय करने की अपेक्षा, मूल कथा में समय-समय पर विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित परिवर्तनों का विश्लेषण अधिक उपादेय हो सकता है। एक ही राम-कथा को वाल्मीकि से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक किस प्रकार संशोधित किया गया—इसके विवेचन से वाल्मीकि से लेकर आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन तक के विविध सामाजिक परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है और फिर इन सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि पर विभिन्न साहित्यिक उत्थानों को भी समझने में मदद मिल सकती है।

'भविसयत्त कहा' में पूर्व-प्रचलित लोक-कथा को जिस ढङ्ग से मोड़ा गया है, उससे धनपाल अथवा जैन धर्म के विचारों का ही पता नहीं चलता, बल्कि उस सम्पूर्ण युग में काम करने वाली सामान्य मनोवृत्ति का आभास मिलता है।

धार्मिक उद्देश्य के अनुसार लोक-कथाओं को मोड़ने की यह प्रवृत्ति

कुछ और विकसित रूप में हिन्दी के आरम्भिक आख्यानकों में भी दिखाई पड़ती है। इन आख्यानकों का उपयोग सूफियों ने सबसे अधिक किया। कारण स्पष्ट है। हिन्दू भक्त कवियों की तरह उनके पास कहानियों की अपनी कोई धार्मिक पौराणिक परम्परा न थी। सूर-तुलसी तो कृष्ण और राम की पौराणिक कथा का सहारा ले सकते थे लेकिन ईरान से आए हुए सूफ़ी सन्तों के पास अपनी पौराणिक कथाओं की कोई निधि न थी, सम्भवतः ईरान का सूफ़ी काव्य प्रायः मुक्तक और गीत ही है।

भारत के इस्लाम धर्म में दीक्षित हिन्दू इस मामले में अधिक सौभाग्यशाली थे। किन्तु धार्मिक कारणों से उन्होंने हिन्दू पौराणिक कथाओं को अपनी रचना का आधार नहीं बनाया। पौराणिक कथाओं को न अपनाने का एक कारण शायद यह भी रहा हो कि गाँवों में रहने वाले ये भोले-भाले नव-दीक्षित मुसलमान घरेलू लोक-कथाओं से जितना परिचित थे, उतना पौराणिक कथा से अभिज्ञ न थे। कारण जो भी हो, तथ्य यही है कि हिन्दी के सूफ़ी सन्तों ने लोक-कथाओं को अपने आदर्शों के लिये अपनाया। लोक-कथाओं को इस तरह अपनाने का उत्साह हिन्दी के हिन्दू भक्त कवियों में भी नहीं देखा गया।

जायसी का 'पदमावत' एक ऐसा ही सूफ़ी काव्य है जिसमें 'भविसयत्त कहा' की ही तरह लोक-कथा का सोद्देश्य संशोधन किया गया है। जिस प्रकार राजकीय वैभव के लिए भविष्यदत्त के भाग्य की कहानी में कुरु जङ्गल और पोयणपुर के राजाओं का युद्ध जोड़ दिया गया है, उसी प्रकार रतन सेन और पदमावती की प्रेम कहानी में भी अलाउद्दीन का चित्तौर का आक्रमण बढ़ा दिया गया है। इससे सामान्य लोक कथा में सामन्ती वैभव तो जुट ही गया है, समसामयिकता की भी छाप लग गई है। लेकिन यह तो गौण बात है। मुख्य बात है पदमावती की सामान्य प्रेम-कहानी को भगवत्प्रेम का रूप देना। धनपाल ने लोक-कथा में जो धार्मिक रङ्ग दिया है उसमें व्रत और आचार-पालन का ही आग्रह है, लेकिन जायसी के धार्मिक रङ्ग में साधारण आचार-पालन से ऊपर उठकर ईश्वरोन्मुख

प्रेम की प्रगाढ़ता है। यह वस्तु जायसी की अपनी है और जायसी के साथ जायसी के युग की है। भक्ति की यह भावना धनपाल और धनपाल के युग में न थी। यह भावना तत्कालीन जैन समाज में ही नहीं बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध समाज में भी न थी। भक्ति की यह भावना अपभ्रंश में ही नहीं, बल्कि तत्कालीन प्राकृत और संस्कृत साहित्य में भी न थी। यह भावना ब्रज, अवधी, बङ्गला, गुजराती, मराठी, पञ्जाबी, असमी, उड़िया आदि आधुनिक भारतीय साहित्यों की अपनी विशेषता है और इसका अभ्युदय कुछ आगे-पीछे इन साहित्यों में तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के बाद हुआ।

धनपाल के युग में संभवतः व्रत और आचार का पालन ही सबसे बड़ा आदर्श था, लेकिन धीरे-धीरे वह भी रूढ़ि-पालन मात्र हो गया। बहुत संभव है, धनपाल के समय ही उसमें बहुत कुछ जड़ता आ गई हो। लेकिन यह निश्चित है कि आगे चलकर उस धार्मिकता में जीवंत प्रेरणादायिनी शक्ति नहीं रह गई थी। इसकी प्रतिक्रिया जोइंदु, रामसिंह आदि जैन मुनियों के द्वारा ही शुरू हो गई थी; किन्तु आगे चल कर तेरहवीं शताब्दी के बाद ब्राह्मण, बौद्ध, इस्लाम सभी भारतीय धर्मों और समाजों में अपने-अपने ढंग से इस तरह की आचार-प्रधान रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। और उसकी जगह भगवत्प्रेम की प्रतिष्ठा हुई।

इस नवीन उद्देश्य ने 'पद्मावत' की लोक कथा को भी मोड़ दिया। परन्तु इस संशोधन में भी स्पष्ट रूप से ऐहिक और आमुष्मिक तत्व अलग-अलग दिखाई पड़ जाते हैं। 'पद्मावती' को भगवान और रतन सेन को भक्त का प्रतीक तो जायसी ने बना दिया लेकिन 'नागमती' के 'गोरख धंधा' पर वह धार्मिकता का रंग न चढ़ा सके। नागमती का वियोग मूल लोक कथा के अवशेष के रूप में रह ही गया और यह अवशेष भी इस तरह रहा कि उसकी सत्ता स्वतन्त्र और अलग प्रतीत होती है। विशेष दृष्टिकोण के कारण जायसी ने नागमती को दुनिया का 'गोरख धंधा' भले कह दिया हो, लेकिन उसके लौकिक रस को पद्मावती का प्रेम भी

नहीं पा सका। 'पद्मावती' के रूप में जायसी ने चाहे जितना अलौकिक प्रभाव भर दिया हो, उसके 'पारस रूप' में उन्होंने चाहे जितनी शक्ति संचित कर दी हो, लेकिन हृदय तो उन्होंने नागमती को ही दिया और हृदय भी ऐसा दिया कि उसकी निरी लौकिकता के सामने पद्मावती के रूप की अलौकिकता भी फीकी पड़ जाती है। यही हृदय की लौकिकता तथा सौन्दर्य की अलौकिकता 'पद्मावती' काव्य की विशेषता है जिसमें जायसी के आदर्श की अलौकिकता के साथ भावों की लौकिक संपदा भी सुरक्षित है। वास्तविकता में कल्पना और यथार्थ में आदर्श की प्रतिष्ठा का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

राम और कृष्ण भक्ति काव्य

कथा में भक्ति का पुट देने की यही प्रवृत्ति थोड़े से अंतर के साथ हिंदी के राम-भक्ति काव्य और कृष्ण-भक्ति काव्य में भी दिखाई पड़ती है। कहने को तो अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' लिखे जिनमें क्रमशः राम और कृष्ण का चरित गाया गया है। लेकिन उनमें राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं हैं। उनके यहाँ यह हो भी कैसे सकता था? हर विचार धारा का उद्गम सुदूर अतीत में ढूँढ़ निकालने वालों के लिए तो अवतारवाद की भावना वेद से ही चली आ रही है लेकिन वेद से उसका आरम्भ होना एक बात है और मध्ययुग में उसका अत्यधिक व्यापक हो जाना दूसरी बात है। अवतारवाद का आरम्भ चाहे जितना पहले हुआ हो लेकिन अवतार में लोक जीवन का सामान्य विश्वास जितना मध्ययुग में प्रचलित हुआ, उतना पहले कभी न था। अवतार-वाद की यह व्यापकता निश्चित रूप से भक्ति आन्दोलन के द्वारा मिली। संत और भक्त कवियों का यह सामान्य विश्वास था। पिंड में ब्रह्माण्ड को देखना, ब्रह्मरन्ध्र में अनहद नाद को सुनना, पद्मावती में अलौकिक सत्ता का आभास पाना, दशरथ सुत राम में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के दर्शन करना और वसुदेव सुत कृष्ण में लीलाधाम परमात्मा को निहारना यह सब प्रकारान्तर से उसी अवतारवादी भावना के ही विविध पक्ष हैं; विविध

धर्मों और सम्प्रदायों के अनुरूप भक्ति-युग की एक ही भावना ने अनेक रूप धारण कर लिया था।

अपभ्रंश काव्य में इस भावना के दर्शन जो नहीं होते तो उसका यह कारण नहीं है कि उसके अधिकांश कवि जैन थे। भक्ति भावना केवल हिंदू धर्म की अपनी सम्पत्ति नहीं है। यह एक युग विशेष की लोक-व्यापी सामान्य प्रेरणा-शक्ति है जो हिन्दू धर्म के साथ ही इस्लाम में भी दिखाई पड़ती है। धर्म इसका क्षेत्र है, बीज नहीं; आकार है, वस्तु नहीं; देह है, आत्मा नहीं। भक्ति का बीज, और उसकी आत्मा सामान्य लोक जीवन की मुक्ति-कामना में है। यह एक विशेष सामाजिक परिस्थिति की उपज है।

अपभ्रंश के उत्थान युग में यह परिस्थिति न थी। इसीलिए उसमें यह भाव भी उत्पन्न न हो सका।

इसलिए जिस प्रकार सूफियों के प्रेमाख्यानों पर अपभ्रंश के कथा और चरित काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा, उसी प्रकार राम-भक्त और कृष्ण-भक्त कवियों की मूल भावना पर भी अपभ्रंश के राम-कृष्ण काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है। राहुल जी ने स्वयम्भू की रामायण और तुलसी के 'रामचरितमानस' में रूप-विन्यास सम्बन्धी कुछ थोड़ी सी समानताओं को देखकर जो यह कह दिया है कि तुलसी बाबा ने स्वयम् रामायण को जरूर देखा होगा' वह अतिकथन है। अपने इस अतिकथन पर राहुल जी को भी थोड़ा संकोच हुआ। इसलिए वे आगे कहते हैं—"तुलसी बाबा ने स्वयम्भू-रायायण को देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' से स्वयंभू-रामायण की ओर ही संकेत किया है।"[1] ऐसी अटकलबाजियाँ मनोरंजक हो सकती हैं, लेकिन इससे किसी तथ्य का ठीक पता नहीं चल सकता। इस तरह की पहेली-बुझौवल का काम लाल-बुझक्कड़ के ही ऊपर छोड़ना चाहिए। स्वयंभू-रामायण को तुलसी ने देखा था या नहीं देखा

१. हिंदी काव्य धारा, अवतरणिका, पृष्ठ ५२

था और 'क्वचिदन्यतोऽपि' में स्वयंभू-रामायण की ओर संकेत है या नहीं है—इससे कुछ नहीं बनता बिगड़ता। मान लिया कि तुलसी ने यह सब किया है कि लेकिन सवाल यह है कि यह सब करने के बाद तुलसी ने जो 'मानस' तैयार किया उसकी मूल भाव-धारा का स्वयंभू रामायण से क्या सम्बन्ध है? दोनों कृतियों की भावधारा में क्या सम्बन्ध है? और इस विषय में अटकल-बाज़ी के लिए कोई जगह नहीं है। इसे साहित्य का सामान्य पाठक भी कह सकता है कि तुलसी में जो भक्ति-भावना की प्रधानता है, वह स्वयंभू में बिल्कुल नहीं है और इसी भावना-भेद के कारण दोनों की राम कथाओं के स्वरूप में भी भेद आ गया है।

ऐसा नहीं है कि राहुल जी इसको अनुभव नहीं करते। वे इस तथ्य को देखते हुए आश्चर्य प्रकट करते हैं कि तुलसी ने स्वयंभू की सीता की एकाध किरण भी अपनी सीता में क्यों नहीं डाल दिया? थोड़ा सा ही सोचने पर इस सवाल का जवाब मिल सकता है। सीधी बात है कि तुलसी स्वयंभू की सीता जैसी अपनी सीता को नहीं बनाना चाहते थे। और यह जो नहीं बनाना चाहते थे वह कुछ यों ही—अकारण ही नहीं; बल्कि उनका उद्देश्य कुछ और था; उनकी भी अपनी सीमाएं थीं।

फिर यह सवाल तुलसी के ही विषय में क्यों? स्वयंभू के विषय में भी तो पूछा जा सकता है कि उन्होंने वाल्मीकि की सीता की तरह अपनी सीता को क्यों नहीं बनाया? स्वयंभू ने सीता के संपूर्ण असंतोष की आग को कर्म-फल का छींटा देकर बुझा क्यों दिया?

इसके अलावा स्वयंभू को तुलसी ने पढ़ा था या नहीं—यह तो विवादास्पद हो सकता है; लेकिन वाल्मीकि को तो उन्होंने निश्चय ही पढ़ा था, तुलसी भी कहते हैं और दूसरे भी मानते हैं। फिर तुलसी ने वाल्मीकि के ही नमूने पर अपनी रामकथा क्यों न गढ़ दी? ऐसे तमाम 'क्यों' का केवल एक उत्तर है कवि का अपना उद्देश्य—परिस्थितिजन्य उद्देश्य।

इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के राम-कृष्ण काव्यों और हिन्दी के राम-कृष्ण

काव्यों की भाव धारा में कोई समानता नहीं, कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है; यदि कोई संभव संबन्ध हो सकता है तो वह अत्यन्त परोक्ष और पौर्वापर्य का ही हो सकता है। यही बात सूफी प्रेमाख्यानों के बारे में भी कही जा सकती है।।

भक्ति की यह भावना हिंदी के कबीर आदि संत कवियों की भी अपनी विशेषता है जो अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में नहीं मिलती। कबीर में सिद्धों की 'सहज' 'शून्य' साधना का उल्लेख अवश्य मिलता है, इसके अतिरिक्त कुछ और भी पारिभाषिक शब्दों का आवृत्ति दिखलाई पड़ सकती है परन्तु ये बातें कबीर की मूल भाव-धारा नहीं हैं। सहज और शून्य पर जितना जोर सहजयानी सिद्धों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है, उतना कबीर में नहीं है। कबीर के काव्य में इनका प्रयोग पुरानी परिपाटी के अवशेष की सूचना मात्र देता है। कबीर में एक भक्त का जो विह्वल हृदय है, वह सिद्धों में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। तात्विक दृष्टि से कबीर का 'निर्गुण' भी सहजयानियों के 'शून्य' से भिन्न है और संभवतः अधिक भावात्मक है। इसलिए कबीर के आत्म-समर्पण में जो तरलता है, वह किसी सिद्ध कवि की रचना में नहीं मिलती। इसमें कोई शक नहीं कि अक्सर कबीर के रूपक सिद्धों से मेल खाते हैं, यहाँ तक कि उन्हीं से लिए हुए प्रतीत होते हैं। कबीर का 'बेहद्दी मैदान' सरह के उस लोक से भिन्न नहीं है 'जहं मण पवण न संचरें, रवि ससि णाह पवेस'। परन्तु ये सभी ऊपरी समानताएँ हैं। इन सब रूपकों और पारिभाषिक शब्दों के बीच जो मूल भाव है वह कबीर का अपना है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुत पहले ही विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं,[1] इसलिए इसकी और अधिक व्याख्या करना अनावश्यक है।

अपभ्रंश का सिद्ध साहित्य और हिन्दी संत काव्य

१. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ४२-४३

इस प्रकार हिंदी के आदि काल में जितनी मुख्य काव्य-प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं उनका ऐतिहासिक अध्ययन करने से पता चलता है कि हिंदी में अपभ्रंश की जीवन्त भाव-धारा का विकास अपने ढङ्ग से हुआ। चौदहवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण अपभ्रंश से आती हुई भावधारा में इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि हिंदी साहित्य में उसने जो संत-भक्ति काव्य का रूप लिया उससे अपभ्रंश साहित्य की धार्मिक चेतना का सीधा संबन्ध नहीं दिखाई पड़ता। चौदहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण मध्यदेश की अपनी सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की उपज है; यह वह प्रदेश है जिसमें जैन धर्म का जोर कभी नहीं था। अपभ्रंश की रचनाएं भी इस भू-भाग में नहीं हुईं। इसलिए अपभ्रंश के अधिकांश साहित्य से इस जाति का सीधा सम्पर्क कभी नहीं रहा। ऐसी दशा में जैनों के अपभ्रंश साहित्य से अवधी और ब्रज के संत-भक्ति का काव्य का अभ्युदय दिखलाना हथेली पर सरसो उगाने का सा काम होगा। अधिक से अधिक इन दोनों साहित्य में परोक्ष संबन्ध ही दिखलाई पड़ता है। यह परोक्ष संबन्ध यह है कि दोनों के अभ्युदय के मूल में मुख्यतः लोक जीवन का ही हाथ है। अपभ्रंश ने भारतीय साहित्य की जिस गति को लोक जीवन से दूर जाते देखकर फिर से उसके साथ कर दिया, उसी प्रयत्न के फलस्वरूप हिंदी आदि आधुनिक साहित्यों का अभ्युदय हुआ। इसलिए अपभ्रंश काव्य में यह जो लोक-हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है, वही आगे चलकर और भी स्पष्ट रूप से अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि साहित्यों के आदिकाल में सुनाई पड़ती है। हिंदी के लिए यह पृष्ठभूमि तैयार करके अपभ्रंश ने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया।

काव्य-रूप

भाव धारा की अपेक्षा काव्य-रूपों में परंपरा का पालन अधिक देखा जाता है। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि नवीन भाव-धारा के आ जाने पर भी काव्य के रूप पुराने ही चलते रहते हैं। हिंदी के काव्य-रूपों का

अध्ययन करते समय यह तथ्य स्पष्टतः दृष्टि गोचर होता है। अपभ्रंश से अधिक विकसित और नवीन भावधारा को अपनाकर भी हिंदी कविता बहुत दिनों तक अपभ्रंश के ही अधिकांश काव्य रूपों को अपनाए रही। इसलिए हिंदी काव्य-रूपों के क्षेत्र में अपभ्रंश की देन भावधारा की अपेक्षा अधिक है।

काव्य-रूपों के मूल में प्रायः छंद हुआ करता है। यदि वाक्य भाषा की इकाई है तो छंद वाक्य की भंगिमा है। इसीलिये जब भाषा में कोई परिवर्तन होता है तो उसके छंदों में भी परिवर्तन हो जाता है। जब प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक संस्कृत की अवस्था के बाद लौकिक संस्कृत हुई तो तमाम वैदिक छंद बदल गये और अनुष्टुप् लौकिक संस्कृत के प्रथम छंद होने का गौरव लेकर आदि कवि की जिह्वा पर आया। इसके बाद तो संस्कृत में अनेक छंद आए। पालि संस्कृत से विशेष भिन्न न थी, इसलिए पालि के छंद भी प्रायः संस्कृत के ही रहे। लेकिन प्राकृत संस्कृत से काफी भिन्न थी, इसलिये उसकी छंदों- व्यवस्था भी बदल गई और जिस तरह अनुष्टुप् लौकिक संस्कृत का अग्रदूत था, उसी प्रकार 'गाथा' प्राकृत भाषा की अग्र-दूती बनकर सामने आई। अपभ्रंश के साथ आर्यभाषा के व्याकरण में कुछ मौलिक परिवर्तन हुए। इसलिये आर्य भाषा के छंदोंबन्ध में भी इसके साथ मौलिक परिवर्तन हुआ। इससे पहले प्रायः वर्णिक छंद होते थे जिनमें विभिन्न गणों के अनुसार शब्दों का क्रम होता था। अपभ्रंश ने पहली बार मात्रिक छंदों का सूत्रपात किया। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश से पूर्व छंद तुकान्त नहीं होते थे। अपभ्रंश ने छंद के क्षेत्र में तुकान्त-प्रथा चलाई। तब से आजतक हिंदी में मात्रिक छंदों की ही प्रधानता है। अपभ्रंश के बाद हिंदी के साथ आर्यभाषा में कोई बहुत मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ, इसलिये आरम्भिक हिंदी के छंद भी प्रायः अपभ्रंश के ही रहे। जिस हद तक परिवर्तन भाषा में हुआ, उस हद तक हिंदी में नए छंद भी आये। यदि इस सामान्य सिद्धान्त को हिंदी की विभिन्न बोलियों

छंद

के छंद-भेद पर लागू किया जाय तो पता चलेगा कि बरवै जैसे कई एक छंद ऐसे हैं जो अवधी के एक दम अपने हैं, ब्रज में वे नहीं चलते इसी तरह राजस्थानी का भी अपना छंद 'वयण-सगाई' है जिसका प्रचलन ब्रज अथवा अवधी में से किसी में नहीं है।

इसी तरह जब खड़ी बोली काव्य-भाषा हुई तो इसमें पुरानी अवधी और ब्रजभाषा के छन्दों से काम न चला। फलतः उसने नए छन्दों की सृष्टि की।

छन्दों के परिवर्तन से काव्य-रूपों में किस प्रकार परिवर्तन आता है, इसे यदि देखना हो तो पुनः संस्कृत से इसकी परम्परा पर दृष्टिपात किया जा सकता है। आरम्भ में जब संस्कृत में अनुष्टुप् जैसे छोटे-छोटे छंद थे तो मुक्तकों का आरम्भ नहीं हो सका। उन छोटे-छोटे छंदों में रामायण-महाभारत जैसे बड़े-बड़े धारावाहिक प्रबंध काव्यों की ही रचना हो सकती थी। पीछे जब कुछ बड़े-बड़े छन्दों की रचना हुई, तो यही नहीं कि मुक्तक रचनाएँ अस्तित्व में आईं, स्वयं प्रबन्ध काव्यों का भी ढाँचा बदल गया। 'रामायण' एक काण्ड के भीतर छोटे-छोटे कई अध्यायों में विभक्त किया गया था। इसी तरह महाभारत में भी एक पर्व के भीतर कई अध्याय रखे जाते थे जिनमें से प्रत्येक अध्याय में सामान्यतः सौ डेढ़ सौ छंद होते थे। पीछे कालिदास के समय से, जब कुछ बड़े छंदों का प्रचलन हो चुका था तो प्रबन्ध काव्य में काण्ड अथवा पर्व और अध्याय के बीच का रास्ता निकाला गया। नये प्रबन्ध काव्यों के सर्ग पुराने महाकाव्यों के अध्याय से कुछ बड़े और पर्व अथवा कांड से काफी छोटे हो गये। बहुत संभव है कि यदि मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित, स्रग्धरा, शिखरिणी जैसे बड़े छंद संस्कृत में न आये होते तो अमरुकशतक, शृङ्गारशतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक, आर्या सप्तशती, चौरपञ्चाशिका, मेघदूत आदि जैसे मनोहर मुक्तकों की सृष्टि न होती। अनुष्टुप् में उत्कृष्ट मुक्तक नहीं लिखे जा सकते, वह मूलतः कथाबन्ध का ही छंद है।

यही बात आगे चलकर अपभ्रंश में भी दिखाई पड़ती है। चरित

काव्य के लिये प्रधानतः अपभ्रंश में पद्धड़िया या पद्धरी छंद को ही अपनाया गया; एकरसता दूर करने के लिये बीच-बीच में दूसरे छंदों का भी प्रयोग किया गया, लेकिन कहानी कहने के लिये मुख्य छंद वही अथवा वैसा ही कोई छोटा छंद हुआ करता था। दोहा अपभ्रंश का छोटा ही छंद कहा जायगा लेकिन उसमें इतनी स्वरगत भङ्गिमाएँ हैं कि उससे कथा प्रवाह में रुकावट आती है। एक तो उसमें चार यतियाँ होती हैं, दूसरे उसकी प्रत्येक यति का चरण विषम होता है। इस प्रकार अपभ्रंश का दोहा प्राकृत की गाथा की भाँति मुक्तक काव्य के ही काम का है। आगे चलकर जब अपभ्रंश में रासा, कव्व, दुवई जैसे बड़े बड़े छंद आये तो उनके साथ ही विशेष प्रकार के गेय और मुक्तक काव्यों की भी सृष्टि हुई।

यही क्रम हिंदी में भी दिखाई पड़ता है। चौपाई प्रबन्ध-काव्य के लिये और सवैया घनाक्षरी छप्पय, कुण्डलिया आदि मुक्तक के लिये निश्चित कर लिए गये। रहा दोहा, सो यह अपभ्रंश-काल से ही प्रबन्ध और मुक्तक दोनों घरों में सम्मान पाता रहा है। आधुनिक हिंदी में नए ढङ्ग के तुकान्त मात्रिक छंदों ने प्रगीत-मुक्तक (लीरिक) जैसे नये काव्य-रूप को जन्म दिया और मुक्त-छंदों ने प्रगीत-मुक्तकों से भिन्न विशेष प्रकार की लम्बी कविताओं को सामने रखा जैसे निराला की 'सन्ध्या सुन्दरी' अथवा प्रसाद की 'प्रलय की छाया।'

इस प्रकार छन्द-परिवर्तन के साथ काव्य-रूप में परिवर्तन अनिवार्य है, इसी बात को कहना चाहें तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब काव्य-रूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी जाती है तो छन्दों में भी परिवर्तन कर लिया जाता है। जो हो, इन सबके मूल में भावोद्गार-जनित आवश्यकता ही है। भावोद्गार के अनुसार ही छन्द और काव्य-रूप बदलते हैं;—इन दोनों का संबन्ध इतना अन्योन्याश्रित है कि इनमें से कौन पहले बदलता है यह कहना कठिन है। फिर भी दूर तक विश्लेषण करने पर ऐसा ही प्रतीत होता है कि छंद में परिवर्तन काव्य-रूप से पहले

होता है। इस दृष्टि से हिंदी छंदों के विकास में अपभ्रंश छंदों के योग का अध्ययन किया जा सकता है।

हिंदी में अपभ्रंश-छंदों का निर्वाह और सुधार

हिंदी का 'दोहा' अपभ्रंश की देन है, यह तथ्य इतना प्रतिष्ठित और प्रचलित है कि प्रमाणित करने की आवश्यकता अब नहीं है। चौपाई के बारे में कई वर्ष पहले लोगों के मन में धुंधलका अवश्य था कि इसका मूल उत्स अपभ्रंश में है या नहीं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आज से लगभग चौदह वर्ष पहले इसका संबंध अपभ्रंश के अलिल्लाह छंद से बतलाया था।[1] वह स्थापना आज भी अपनी जगह पर एकदम सही है। परंतु अपभ्रंश में 'चउपई' नामक भी छंद मिलता है जिसके एक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं और तुकांत में क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) आते हैं। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ के अपभ्रंश कवि विनयचन्द्र सूरि ने 'चउपई' छंद में नेमिनाथ 'चउपई' नाम का समूचा काव्य-ग्रंथ ही लिख डाला है। उसकी एक चउपई का उदाहरण इस प्रकार है

श्रावणि सरवणि। कंडुय मेहु।
गज्जइ विरहिनि झिज्जइ देहु॥
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव।
नेमिहि विणु सहि सहियइ केव॥

विनयचन्द्र सूरि की 'चउपई' हिंदी में जायसी आदि द्वारा प्रयुक्त तथा पिंगलाचार्य द्वारा स्वीकृत चौपई ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'चौपाई' शब्द में एक मात्रा बढ़ाकर 'चौपाई' शब्द बना लिया गया, उसी प्रकार 'चौपाई' छंद के अंत में एक मात्रा बढ़ाकर चौपाई छंद गढ़ लिया गया। आरंभ में यह छंद संभवतः 'चौपई' ही था परंतु गाने के क्रम में संभवतः यह लघ्वंत से गुर्वन्त हो गया। जायसी में तो प्रायः

१. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ५६

हो सका है। हिंदी में भी यह छंद बाद में आया। इतनी शताब्दियों तक निरंतर प्रक्षिप्त होते रहने वाले 'पृथ्वीराज रासो' में भी इसके दर्शन नहीं होते। इसका मतलब है कि चारणों और भाटों की ज़बान पर भी यह छंद देर से आया। जब तक इसके मूल उत्स का पता नहीं चलता, तब तक अटकलबाज़ी करना व्यर्थ है। बहुत संभव है, यह हिंदी की अपनी ही सृष्टि हो।

सवैया स्पष्ट रूप से वर्णिक गणवृत्त है, इसलिए इसकी प्राचीनता अनिवार्य है और संस्कृत में ही इसका मूल उत्स मिलना चाहिए। यह तो सही है कि सात-आठ गण के चार चरणों का ऐसा कोई वर्णिक वृत्त संस्कृत में नहीं है, लेकिन इसकी लंबाई देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृत के किसी वर्णिक वृत्त के गणों को द्विगुणित करके बनाया गया है। संस्कृत का जो वर्णिक वृत्त द्विगुणित किए जाने पर आसानी से दुर्मिल सवैया हो जाता है, वह है चार सगण वाला त्रोटक छंद। लेकिन यह स्पष्ट रहना चाहिए कि त्रोटक संस्कृत का लोक-प्रिय छंद नहीं है और इसका विकास निश्चित रूप से बहुत बाद का है। 'पृथ्वीराज रासो' में सवैया तो नहीं मिलता लेकिन त्रोटक छंद काफ़ी हैं। किस प्रकार एक त्रोटक छंद द्विगुणित करके सवैया बनाया जा सकता है, 'पृथ्वीराज रासो' के दो त्रोटक लेकर समझा जा सकता है—

जल सैसव मुद्ध समान भयं, रवि बल बहिक्रम लै अथयं।
बर सैसव जोबन संधि अती, सु मिलै जनु षित्तह बाल जती॥
जु रही लगि सैसव जुब्बनता, सु मनों ससि रंतन राजहिता।
जु चलै मुरि मारुत झंकुरिता, सु मनो मुरबेस मुरी मुरिता॥
(शशिव्रता विवाह)

कमी रह गई है तो केवल चारों चरणों के सम तुकांत की। लेकिन जो कवि त्रोटक का दुगुना कर सकता है वह उसके चारो चरणों को तुकांत भी बना सकता है। इस तरह जब एक सवैया बन गया तो उसमें थोड़ा सा हेर फेर करके कई सवैये बनाए जा सकते हैं और सचमुच बनाए भी गये।

छंद अनगिन हैं और अपभ्रंश तथा हिंदी छंदों का तुलनात्मक अध्ययन अपने आप में बहुत बड़ा विषय है। यहाँ केवल कुछ ही छंदों पर विचार करना संभव है।

हिंदी में अपभ्रंश के काव्य-रूपों का निर्वाह और सुधार

कहा जा चुका है कि छंद काव्य-रूपों को निर्धारित और प्रभावित करते हैं। वर्णनात्मक छंद कथात्मक काव्यों का रूप निर्धारित करते हैं और गेय छंद मुक्तक काव्यों का। वर्णनात्मक छंदों में चौपाई का उल्लेख किया जा चुका है। परंतु निरंतर चौपाई में ही कहानी कहने से वर्णन में एकरसता आ जाने की आशंका रहती है। यदि लगातार चौपाई सुनते-सुनते श्रोता ऊँघने लगेगा तो वक्ता की भी साँस फूल जायगी। वक्ता और श्रोता दोनों के लिए कुछ चौपाइयों के बाद विश्राम आवश्यक है। विश्राम के लिए छंद बदलना सब से सुंदर उपाय है। ऐसा भी देखा जाता है कि यदि कवि छंद नहीं बदलता, तो ऐसे कथात्मक काव्यों को गाते समय गायक अपने स्वरों के द्वारा उसमें पतिवर्तन कर लेते हैं। गाँवों में गाया जाने वाला 'आल्हा' ऐसा ही धारावाहिक काव्य है जिसमें आद्योपान्त एक ही 'वीर' छंद का प्रयोग किया गया है। परंतु उसे कहने और सुनने में सुखद बनाने के लिए गायक नट कभी तो गद्य की तरह सीधे-सीधे कहते चलते हैं और कभी रुक कर गाने लगते हैं। जो समझदार होते हैं, वे सीधे सीधे कहने और गाने वाले स्थलों में विवेक कर लेते हैं; अर्थात् कोरे घटनात्मक प्रसंग को तो कहते जाते हैं लेकिन जहाँ थोड़ा सा भावात्मक स्थल आता है वहाँ रुककर वे गाने लगते हैं।

वक्ता और श्रोता की इसी सुविधा को ध्यान में रखते हुए कथात्मक काव्यों के कवि कुछ चौपाइयों के बाद दूसरे छंद के प्रयोग की योजना करते आए हैं। चौपाई के बाद जो छंद आसानी से इस कार्य के लिए मिल सकता था, वह दोहा है। दोहा एक तो सहज सुलभ और अत्यधिक लोक प्रचलित था; दूसरे वह छोटा भी है। किसी बड़े छंद के प्रयोग से धारावाहिकता में बाधा पड़ने की भी आशंका रहती है। अपभ्रंश में इस

कार्य के लिए घत्ता, दुवइ, उल्लाला आदि अनेक छंद इस्तेमाल किए जाते थे। ऐसा लगता है कि अंतिम दिनों में इनमें से किसी एक छंद को निश्चित कर देने की मनोवृत्ति हो चली थी। हिंदी तक आते-आते चौपाइयों के बाद दोहा का घत्ता देने की परिपाटी निश्चित हो गई। इस व्यवस्था में एकरूपता ले आने के लिए आगे चलकर यह भी निश्चित कर दिया गया कि सात या आठ अर्धालियों के बाद ही दोहा रखा जाना चाहिए। कहीं-कहीं इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसके अपवाद तुलसी-दास जैसे अत्यंत सतर्क और व्यवस्थित कवि में भी हैं। लेकिन ऐसा वहीं हुआ है जहाँ भाव-प्रसार अथवा घटना-क्रम को देखते हुए निश्चित चौपाइयों के बाद दोहा रखने से प्रवाह में बाधा पड़ने की आशंका है।

गेय काव्य के रूपों में अपभ्रंश काव्य बहुत समृद्ध था। रास, फाग, चाँचर, रसायण, कुलक आदि अनेक प्रकार के गेय काव्य अपभ्रंश में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। रास काव्य मूलतः रास छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में २१ मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था और ऐसे ही अनेक छंदों को गाने की परिपाटी संभवतः लोक में रही होगी। यहाँ भी एकरसता दूर करने के लिए रास छंदों के बीच इतर गेय छंदों को भी समन्वित कर लेने की संभावना जान पड़ती है। 'संदेश रासक' से इस प्रकार के गेय और मुक्तक 'रासक काव्यों' के रूप का पता चलता है। निश्चय ही 'रास काव्य' मूलतः रास-छंद-प्रधान काव्य रहे होंगे जैसा कि 'संदेश रासक' है।

आगे चलकर 'रास काव्य' एक ऐसा काव्यरूप निश्चित हो गया जिसमें किसी भी गेय छंद का प्रयोग किया जा सके। भाव की दृष्टि से ये फिर भी प्रेम-भाव प्रधान रहे। हिंदी का 'वीसलदेव रास' ऐसा ही 'रास काव्य' है जिसमें किसी अन्य गेय छंद का इस्तेमाल किया गया है, फिर भी वह प्रेम-भाव प्रधान ही है।

जब काव्य-विशेष का एक रूप बन जाता है तो कभी-कभी उसे दूसरे भावों और विचारों का भी वाहन बना लिया जाता है। 'रास काव्य' के

साथ भी ऐसा ही हुआ। मूलतः यह कोमल भावों के लिए प्रयुक्त होने वाला गेय मुक्तक था, लेकिन दूसरी ओर यह काव्य रूप वीरों की गाथाओं के लिए भी काम में लाया गया। जिस तरह अंग्रेजी का 'सॉनेट' मूलतः प्रेम-भावापन्न मुक्तक था, किन्तु आगे चलकर अन्य भावों का भी वाहन बना लिया गया उसी प्रकार अपभ्रंश और हिंदी का 'रास काव्य' भी इतने भावों, विचारों और घटनाओं के लिए अपनाया गया। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई रास काव्य हैं जैसे बाहुबलि रास, समर रास आदि। और हिंदी में ऐसे ही रास काव्यों का सिरताज 'पृथ्वीराज रासो' है।

यही सब देखते हुए अपभ्रंश के आचार्यों ने दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है—कोमल और उद्धत; इन दोनों के मिश्रण से बनने वाले मिश्रित प्रकार के रास-काव्य की भी चर्चा की गई है।[1] ये भेद किए तो गए है रास रूपकों के किन्तु रास-काव्यों के विषय में भी समान रूप से लागू होते हैं।

प्रेम और युद्ध को एकदम अलग-अलग वर्गों में बाँटना जितना कठिन जीवन में है, उतना ही कठिन काव्य में भी। उद्धत ढंग के युद्ध-प्रधान रास-काव्यों में प्रेम-भावना का समावेश अस्वाभाविक नहीं है। यही कारण है कि पृथ्वीराज रासो जैसे रास काव्य एक प्रकार से युद्ध और प्रेम-युक्त मिश्रित रास की कोटि में आ जाते हैं। एकदम युद्ध-प्रधान रास-काव्य का उदाहरण अपभ्रंश में 'बाहुबलि रास' और हिंदी में 'हम्मीर रासो' माना जा सकता है।

एक भाव के लिए निर्मित काव्य-रूप किस प्रकार दूसरे भाव या विचार के लिए प्रयुक्त होता है इसके लिए जिनदत्त सूरि के 'उपदेश रसायन रास' को देखा जा सकता है। इसमें युद्ध और प्रेम दोनों को हटाकर धर्मोपदेश दिया गया है।

१. हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन, ८।४

इस प्रकार रास अथवा रासक नामक एक सामान्य गेय छंद ने इतने रूप बदले।

अपभ्रंश के अन्य गेय काव्य-रूपों में से **चाँचरि** का केवल एक नमूना मिलता है—जिनदत्त सूरि की 'चाँचरि' अथवा 'चच्चरी'। इस 'चाँचर' में भी 'रासा' छंद का ही व्यवहार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चाँचरि' कोई लोक-गीत था और शायद उस गीत में विशेष लय का छंद व्यवहृत होता था; लेकिन लिखित साहित्य में वह काव्यरूप की तरह मान लिया गया। हिंदी में कबीरदास के नाम से चलने वाले कुछ गीत 'चाँचरि' के नाम से मिलते हैं। जिनदत्त सूरि की 'चाँचरि' में जैन-धर्म के उपदेश हैं। जैसे—

जहि सावय तं बोलु न भक्खहि, लिंति नय।
जहि पाए-हिय धरंति, त सावय-सुद्ध-नय॥
जहि भोयणु न सयणु, न अणुचिउ बइसणउ।
सह पहरणि न पवेसु, न दुट्ठउ बुल्लणउ॥

फाग भी इसी प्रकार का एक लोक-गीत है जो वसंत में गाया जाता है। इसका विषय वसंत के ही अनुसार होता है। यह परंपरा निश्चय ही काफ़ी पुरानी होगी। अपभ्रंश के समय भी इसका प्रचलन था लेकिन इसका विषय ठीक-ठीक क्या था—यह जानने का साधन हमारे पास कोई नहीं है। जैन कवियों ने जिस विषय पर फाग लिखा है, उसमें उनकी अपनी धार्मिक विचार धारा का समावेश स्वाभाविक है। जिनपपद्म सूरि का लिखा हुआ एक फाग 'थूलिभद्द' के चरित पर अब भी उपलब्ध है। इसमें प्रायः काव्य या रोला छंद का व्यवहार किया गया है और तीन रोला के बाद दोहा का घत्ता दिया गया है। जैसे 'पावस वर्णन' के प्रसंग में तीसरा रोला और दोहे का घत्ता इस प्रकार है—

सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते।
माण- मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंते॥

जिम जिम जलधर भरिय मेह गयणंगणि मलिया।
तिम तिम कामीतणा नयण नीरहि झलहलिया॥
मेहारव भर रूलटिय, जिमि जिमि नाचइ मोर।
तिम तिम माणिणि खलभलइ, साहीता जिमि चोर॥

हिंदी में कबीरदास के नाम से इसी तरह के कुछ 'वसंत' मिलते हैं। कोई आवश्यक नहीं है कि अपभ्रंश के जैन कवियों ने जिन जिन लोक-गीतों को साहित्यिक रूप दिया था, उन्हीं उन्हीं लोक गीतों को हिंदी कवि भी अपनाएँ। हिंदी काव्य-रूपों पर अपभ्रंश काव्य-रूपों के प्रभाव का निर्णय इतने स्थूल ढंग से नहीं होना चाहिए। मुख्य प्रश्न है, उन काव्य-रूपों को अपनाने के पीछे काम करने वाली मनोवृत्ति का और यहाँ यह मनोवृत्ति है लोक प्रचलित गीतों को सामान्य रूप से साहित्यिक बनाने की, अपने आदर्शों के प्रचार के लिए अपनाने की। अपभ्रंश के कवि इस दिशा में हिंदी कवियों के पथ-प्रदर्शक हैं। इसी मनोवृत्ति के फल-स्वरूप आगे चलकर तुलसीदास ने 'राम लला नहछू' आदि की रचना की।

हिंदी में 'पद' नाम से कुछ ऐसे गीत मिलते हैं जिन्हें संतों और भक्तों ने गाने के लिए लिखे थे। सूरदास का संपूर्ण 'सूर सागर' पदों में ही है, मीरा ने केवल 'पद' ही गाए। 'पद' कबीर ने भी कहे और तुलसी की 'गीतावली' तथा 'विनय-पत्रिका' पदों में ही है। पदों की परंपरा अपभ्रंश में सिद्धों के यहाँ ही मिलती है। सिद्धों के 'चर्यापद' गेय पद हैं।

इस तरह अपभ्रंश और हिंदी के कुछ काव्य-रूपों के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इस क्षेत्र में अपभ्रंश की देन हिंदी को सबसे अधिक है।[1]

जिस प्रकार एक साहित्य की भाव और विचार-संबन्धी रूढ़ियाँ दूसरे

१. काव्य-रूपों के विशेष अध्ययन के लिए देखिए डा० द्विवेदी का 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', पंचम व्याख्यान।

साहित्य में प्रवेश कर जाती हैं, उसी तरह काव्य के रूप-विधान संबन्धी कुछ रूढ़ियाँ भी अवशिष्ट रह जाती हैं। ऐसी काव्य- रूढ़ियाँ शताब्दियों तक चलती रहती हैं। जैसे प्रबन्ध काव्य के आरंभ में मंगला चरण, आत्म-निवेदन, दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा आदि और मुक्तक काव्य में कवि का नाम रखने की प्रथा। इस तरह की रूढ़ियाँ उसी समय रूढ़ि का रूप धारण करती हैं, जब किसी समाज की चिन्ताधारा गतिरुद्ध हो जाती है। उपर्युक्त काव्य-रूढ़ियाँ वाल्मीकि और कालिदास में नहीं मिलतीं, लेकिन इन महाकवियों के बाद बाणभट्ट, माघ, श्रीहर्ष आदि में इनमें से किसी में कुछ का तथा किसी में सबका पालन किया गया है। अपभ्रंश काल में यह रूढ़ियाँ और ज़ोर पकड़ गईं और हिंदी तक पहुँचते-पहुँचते यह स्थिति हो गई कि तुलसीदास जैसे महाकवि ने इनका पालन करने में सबसे अधिक तत्परता दिखाई। रामचरित मानस में मंगलाचरण, आत्मनिवेदन, दुर्जन-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा सभी पूर्ववर्ती कवियों से अधिक है।

काव्य-रूढ़ियाँ

यही बात मुक्तकों में कवि द्वारा अपना नाम रखने की मनोवृत्ति में दिखाई पड़ती है। संस्कृत में ऐसा किसी कवि ने नहीं किया। अपभ्रंश में भी केवल सरह के दोहों में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। पीछे कबीर, सूर तुलसी मीरा जैसे भक्तों तथा केशव, देव, मतिराम, भूषण, पद्माकर आदि रीति-कवियों ने भी इसका पालन किया। यहाँ एक उल्लेखनीय बात है कि बिहारी जैसे रूढ़ि-सिद्ध कवि में यह प्रवृत्ति नहीं है।

'यहि बानक मो मन बसै सदा बिहारी लाल'

जैसे दोहे अपवाद हैं और यहाँ भी 'बिहारी लाल' वृन्दावन बिहारी हैं।

इन तमाम रूढ़ियों का अंत आधुनिक युग में ही संभव हो सका जब राष्ट्रीय जागरण ने बहुत व्यापक रूप से प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह किया। फिर भी उन रूढ़ियों को ढोने वाले अतीत के मनः प्रवासी कवि आज भी मिल ही जाते हैं।

रूप-विधान संबन्धी इन रूढ़ियों के अतिरिक्त काव्य की कुछ ऐसी भी रूढ़ियाँ हैं जो मूलतः किसी न किसी भाव या विचार का प्रतीक थीं, किंतु धीरे-धीरे रूढ़ होकर अपनी मौलिक भाव-संपदा की ओर संकेत करने की शक्ति खो बैठीं और परवर्ती काल के काव्यों में वे रूप-विधान का ही एक अंग बन गईं। नख-शिख वर्णन, संध्या-उषा वर्णन तथा किसी उद्यान के फूलों का वर्णन आदि कुछ ऐसी ही काव्य-रूढ़ियाँ हैं। मध्य युग में किसी नारी के नख-शिख वर्णन में प्रयुक्त होने वाली कुछ उपमाएँ ही नहीं, बल्कि संपूर्ण प्रक्रिया और वर्णन-क्रम एक निश्चित ढाँचे पर हुआ करता है। 'पृथ्वीराज-रासो' में इंछिनी और शशिव्रता का रूप-वर्णन और 'पद्मावत' में पद्मावती का विस्तृत नख-शिख वर्णन इस प्रकार की चिराचरित परिपाटी का पता देते हैं। नख-शिख वर्णन संबन्धी यह रूढ़ियाँ स्वयंभू और पुष्पदन्त के काव्यों से ही मिलने लग जाती हैं।

इसी प्रकार यदि संदेश-रासक में वर्णित सामोर की पेड़-पुष्प-सूची को पद्मावत के वसंत-वर्णन में आए हुये फूलों की सूची से मिलाकर देखा जाय तो इन फूल पौदों के नाम में ही नहीं बल्कि उनके क्रम में भी एक बँधी बँधाई परिपाटी का आभास मिलेगा। यही बात युद्ध वर्णन के प्रसंग में शस्त्रों की तालिका आदि के बारे में दिखाई पड़ती है।

संस्कृत काव्य के आरम्भिक युग से कुछ पशु-पक्षियों तथा पुष्पों को लेकर कवियों के समाज में काल्पनिक धारणाएँ चल पड़ी थीं जैसे हंस का नीर-क्षीर विवेक अथवा सुंदरियों के नुपुर-शिंजित चरणों के आघात से अशोक का खिलना। आचार्यों ने इन्हें कवि-समय नाम दे रखा है। यदि इन कवि-समयों के इतिहास का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि अशोक, कुरबक, तिलक आदि फूलों-सम्बन्धी कवि-समयों का जितना प्रचलन कालिदास के युग में था, उतना परवर्ती युग के कवियों में कभी न रहा। अपभ्रंश-काव्यों में ये कवि-समय क्वचित् कदाचित् ही दिखई पड़ते हैं। इसका कारण शायद यह है कि जैनों के बुद्धिवाद ने इन धारणाओं में विश्वास न जमने दिया। लेकिन हिंदी के काव्यों में भी फूल संबन्धी ये

कवि-समय कम अपनाये गये। वहाँ केवल हंस, चकोर, चक्रवाक संबन्धी कवि-समयों का ही निर्वाह हुआ।

कथानक संबंधी 'मोटिफ़' या रूढ़ि

अशोक, हंस संबन्धी ये कवि-समय वस्तुतः एक प्रकार के 'मोटिफ़' हैं जो छोटे होते हुये भी अत्यन्त प्रसंग-गर्भी हैं। भारतीय चित्त में अशोक, हंस, आदि केवल पुष्प और पक्षी नहीं रह गये हैं, बल्कि ये ऐसे 'मोटिफ़' हैं जो निश्चित कथा खंडों की व्यंजना करते हैं; अशोक केवल अशोक नहीं है, वह अपने आप में एक पूरी कहानी है।[1] भारतीय कथाओं में ऐसे अनेक लघु कथा-व्यंजक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। कथाओं में प्रयुक्त होने वाले इन प्रतीकों को कथात्मक 'मोटिफ़' कहा जा सकता है। धीरे धीरे ऐसे अनेक सजातीय कथात्मक प्रतीकों के संयोग से कथात्मक टाइप बन जाते हैं।[2] 'दोहद' एक ऐसा ही कथात्मक 'मोटिफ़' है। जिस प्रकार मूर्ति और चित्रकला में कुछ विशेष भावों के व्यंजक 'मोटिफ़' होते हैं, उसी प्रकार कथा-काव्य के अपने विशिष्ट 'मोटिफ़' हैं। इस विषय में साहित्यिक कथानकों की अपेक्षा लोक-कथाएँ अधिक समृद्ध दिखाई पड़ती हैं। लोक कथाओं में ये प्रतीक क्रमशः रूढ़ि बन जाते हैं। कालान्तर में अनेक रूढ़ियाँ अप्रचलित होती रहती हैं और बहुत सी नई रूढ़ियाँ स्थापित होती चलती हैं। भारतीय साहित्य के इतिहास में इन कथात्मक रूढ़ियों की एक दीर्घ परम्परा पाई जाती है जो विभिन्न मत-मतान्तरों, धर्मों, संस्कारों, जातीय-प्रथाओं के बावजूद संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिंदी, बङ्गला आदि आधुनिक साहित्यों में भी बहुत कुछ सुरक्षित है।

१. दि मोटिफ़ इज़ दि स्मालेस्ट रिकॉगनिज़बुल एलिमेंट दैट गोज़ टु मेक अप ए कम्पलीट स्टोरी—(शिप्ले—डिक्शिनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर, फोक टेल पृ० २४७)

२. दि इम्पॉर्टेंस ऑव दि टाइप इज़ टु शो दि वे इन ह्विच नैरेटिव मोटिफ़्स फ़ार्म इन टु कन्वेंशनल क्लसटर्स (वही, पृ० २४८)

अपभ्रंश के कथा-काव्यों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें संस्कृत कथाओं की अनेक कथानक-रूढ़ियों का निर्वाह किया गया है। यहाँ संस्कृत-काव्यों तथा अपभ्रंश काव्यों में एक मौलिक अंतर दिखाई पड़ता है। कथानक-रूढ़ियों का उपयोग संस्कृत काव्यों में उतना नहीं हुआ है, जितना अपभ्रंश काव्यों में। वाल्मीकि-रामायण और स्वयंभू के 'पउमचरिउ' की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'पउमचरिउ' का सारा विद्याधर कांड और अयोध्याकांड का उत्तरार्द्ध ऐसे ही कथात्मक प्रतीकों के लिये लिखा गया प्रतीत होता है, उसमें विविध आनुषंगिक प्रसङ्गों की योजना किसी न किसी 'मोटिफ़' के लिये ही की गई है। संस्कृत साहित्य में कथानक-रूढ़ियाँ हैं अवश्य; लेकिन उनकी बहुलता पञ्चतन्त्र, कथा-सरित्सागर आदि आख्यायिकाओं तथा पुराणों में है। इसका कारण यह है कि ये आख्यायिकाएँ और पुराण मुख्यतः लोक-प्रचलित कथाओं पर आधारित हैं और लोक-कथाएँ कथानक रूढ़ियों से भरी रहती हैं; कथात्मक प्रतीकों के विषय में जितना रूढ़िवादी लोक-कथाएँ होती हैं, उतनी साहित्यिक कथाएँ नहीं। वहाँ हर कहानी में राजा के सात ही रानियाँ होंगी और छोटी रानी को सभी सताती होंगी और उसी रानी का लड़का सबसे अधिक चतुर निकलेगा। रनिवास से निकाली हुई रानी के रोने पर सारे बन का रोना और पत्तियाँ गिरा देना, फिर उधर से गौरा पार्वती और महादेव का निकलना सामान्य रूढ़ि है। यदि लोक-गीतों में सर्वत्र 'सोने की थारी में ज्योना' परोसा जाता है, 'सोने के गड़ुवा गंगा-जल पानी' भरा रहता है, 'लौंग-खिली-खिली बीड़ा' लगाया जाता है और 'कलियाँ चुन चुन कर सेज' रची जाती है तो लोक-कथाओं में भी प्रायः हिरामन सुआ आता है गौरा पार्वती-महादेव आते हैं, सात समुंदर पार और सात सिंधोरे की भीतर राजकन्या रहती है।

हिंदी के मध्ययुगीन आख्यानक काव्यों के वास्तविक मूल्यांकन के लिये उनमें व्यवहृत होने वाले कथात्मक प्रतीकों के मूल स्रोत का पता लगाना अत्यंत आवश्यक है। 'पृथ्वीराज रासो', पद्मावत, रामचरित मानस

आदि को अच्छी तरह समझने के लिये उनमें प्रयुक्त कथानक-प्रतीकों की दीर्घ परम्परा से परिचित होना जरूरी है। इस ओर ध्यान न देने के कारण ही कभी कभी इन काव्यों के बारे में विचित्र-विचित्र बातें कह दी जाती हैं।

पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता को लेकर इतना बड़ा हङ्गामा खड़ा न होता यदि आख्यानक-काव्यों की रचना में काम करने वाली कथात्मक-प्रतीक-योजना की प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखा जाता। उस युग में जब कि एकदम कल्पित आख्यान को आधार बनाकर काव्य-रचना की प्रवृत्ति न थी और इतिहास-प्रसिद्ध अथवा लोक-विश्रुत चरित नायक के जीवन पर ही काव्य लिखने की प्रथा थी, लोक-प्रचलित कथात्मक-प्रतीकों की योजना में ही कवि-कल्पना को खुल खेलने का अवसर मिलता था। ऐसे ही प्रसङ्गों में कवि को अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाने की छूट मिलती थी। इसीलिए मध्य युग में प्रायः सभी तथाकथित ऐतिहासिक काव्यों में ऐसे काल्पनिक प्रसङ्गों का मिश्रण मिलेगा। जिस तरह आधुनिक युग में ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अपना औपन्यासिक कौशल दिखाने के लिए कुछ मार्मिक प्रसङ्गों की कल्पना की है, उसी प्रकार प्राचीन युग में कवियों ने ऐतिहासिक काव्यों में चिराचरित कथात्मक प्रतीकों का सहारा लिया है। यह प्रवृत्ति एक ओर अपभ्रंश में जसहर चरिउ, णाय कुमार चरिउ, करकंड चरिउ आदि चरित काव्यों तथा ऋषभदेव, बाहुबलि, भरत, नेमिनाथ आदि के जीवन से सम्बन्धित काव्यों में देखी जा सकती है तो दूसरी ओर पृथ्वीराज रासो आदि हिन्दी काव्यों में भी ढूँढ़ी जा सकती है।

शुक का दौत्य-कार्य, नायिका को अप्सरा का अवतार कहना, महादेव के मन्दिर में नायक-नायिका का मिलना, सिंहल द्वीप, फल द्वारा सन्तान की उत्पत्ति, लिंग-परिवर्तन आदि बातें अनैतिहासिकता-द्योतक नहीं बल्कि कथानक-रूढ़ि के निर्वाह की सूचक हैं। पृथ्वीराज रासो ऐसी रूढ़ियों का कोश है। कभी-कभी इन रूढ़ियों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' के मूल रूप का भी पता लगाने की चेष्टा की जाती है। लेकिन यह कार्य कितना कठिन है इसका पता इसी से चल सकता है कि इन रूढ़ियों के प्रक्षेप का

कोई अन्त नहीं है—इनमें से कितनी चन्द द्वारा नियोजित हैं और कितनी दूसरों द्वारा, इसको अलगा लेना खेल नहीं है।

इसी तरह 'पद्मावत' में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों के विश्लेषण से और भी मनोरञ्जक तथ्यों की प्राप्ति हो सकती है। सुआ का उपयोग कथात्मक प्रतीक के रूप में संस्कृत-साहित्य से ही होता आ रहा है, लेकिन वह सुआ 'हिरामन' है इसका प्रचलन अपभ्रंश से दिखाई पड़ता है। 'करकंड-चरिउ' में पहली बार 'हिरामन सुआ' का नाम सुनाई पड़ता है और जायसी के यहाँ भी वह इसी नाम से परिचित कराया जाता है। सुआ-सम्बन्धी अन्य बातें अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती हुई मालूम पड़ती हैं अर्थात् यह कि सुआ पण्डित है और राज-दरबार में आने से पहले वह किस तरह बहेलिया द्वारा पकड़ा जाता है, और एक गुण-ग्राही ब्राह्मण द्वारा खरीदा जाता है आदि। इसी तरह 'सिंहल द्वीप' भी एक 'मोटिफ़' है जो पता नहीं कब से कवियों के 'रोमैंटिक' देश का प्रतीक बन कर आ रहा है। वह इतना मनोरम देश है कि उसमें सभी स्त्रियाँ पद्मिनी ही होती हैं। इसकी ऐतिहासिकता और भौगोलिकता को लेकर बहस करना बेकार है। पद्मावत में राजा रतनसेन का सोलह हज़ार योगियों के साथ सात समुन्दर पार करना, महादेव के मंडप में पद्मावती से मिलने की प्रतीक्षा करना, पद्मावती के आने पर राजा का मूर्छित हो जाना और उसके चले जाने पर मूर्च्छा-भङ्ग होना, महादेव का कोढ़ी के वेश में आना (उस अलौकिक कोढ़ी की छाया नहीं पड़ती, उस पर मक्खी नहीं बैठती, उसकी पलकें नहीं गिरतीं), रतनसेन की वापसी में समुद्र में तूफ़ान का आना, जहाज का भग्न होना, एक तख्ते पर राजा और दूसरे पर रानी का बहना, अलग-अलग जगहों में जाना और अन्त में अतिमानवीय शक्तियों की कृपा से मिलना आदि ऐसे 'मोटिफ़' हैं जो लोक-कथाओं में बहुत दिनों से चले आ रहे हैं और खोजने पर इनमें से कुछ का स्रोत अपभ्रंश साहित्य में भी मिल जाता है। इनके तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि जैन-बौद्ध-ब्राह्मण आदि धार्मिक भेदों से प्रभावित काव्यों

के ऊपरी भेदों के नीचे लोक जीवन से उद्भूत एक ही चेतना अन्तःसलिला की तरह प्रवाहित थी और इनके प्रतीक लोकाश्रित 'मोटिफ़' हैं।[1]

१. भारतीय साहित्य में 'मोटिफ़' के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए पेंजर की टिप्पणियों से युक्त 'कथा सरित्सागर' के टानी वाले अनुवाद को और ब्लूमफ़ील्ड द्वारा किए हुए कार्यों को। (विशेष सूचना से लिए देखिए डा० दासगुप्त और दे का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० २८-२९ की पादटिप्पणी) 'मोटिफ़' के सामान्य अध्ययन के लिए देखिए, टामसन कृत, 'मोटिफ़-इंडेक्स ऑव फोक लिट्रेचर १९३२-३७, एस० टी०। हिन्दी में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल।'

उपसंहार

अपभ्रंश के अध्ययन और अनुशीलन का इतिहास सामान्य लोक-चेतना के उदय और विकास के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। हमारी राष्ट्रीय भावना जैसे-जैसे लोकोन्मुख होती गई, हमारा ध्यान प्राचीन और अर्वाचीन लोक-भाषाओं तथा लोक-साहित्यों की ओर बढ़ता गया। जिस प्रकार संस्कृत भाषा और साहित्य सम्बन्धी अनुशीलन का अभिनव उत्साह आधुनिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का मंगलाचरण है, उसी प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश में क्रमशः बढ़ती हुई रुचि उस पुनरुत्थान की लोकोन्मुखता का प्रमाण है। अपभ्रंश का अब तक जितना साहित्य प्राप्त हुआ है उसका अधिकांश निःसन्देह केवल दिगम्बर जैन धर्म से प्रेरित और प्रभावित है। फिर भी विभिन्न मत के आधुनिक विद्वानों की दिलचस्पी अपभ्रंश भाषा और साहित्य में बढ़ती जा रही है क्योंकि धीरे-धीरे यह मत प्रतिष्ठित होता जा रहा है कि अपभ्रंश ही वह आर्य-भाषा है जो ईसा की लगभग सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत के सामान्य लोक-जीवन के परस्पर भाव-विनिमय और व्यवहार की बोली रही है। ऐसी स्थिति में जिन लोगों को अपनी मातृ-भाषा, राष्ट्रभाषा तथा जातीय साहित्य के इतिहास में थोड़ी सी भी दिलचस्पी है वे इन सब के आदि स्रोत का पता लगाने के लिए अपभ्रंश भाषा और साहित्य की छान-बीन करते हैं। संभव है, सभी प्रादेशिक भाषाओं और साहित्यों के लिए अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य में एक-समान उपादेय सामग्री न प्राप्त हो; फिर भी अनुशीलन की इस अवस्था में इसकी संभावनाएँ समाप्त नहीं हो जातीं। कहा नहीं जा सकता कि अपभ्रंश का अभी कितना साहित्य पुस्तक-भंडारों तथा बिखरे हुए व्यक्तियों के पास छिपा पड़ा है। अपभ्रंश के जो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनमें से भी किस में कितने बड़े तथ्य को

प्रकाशित करने की शक्ति है, यह भी अनुसंधान का विषय है। पिछले पचास, साठ वर्षों के अपभ्रंश-सम्बन्धी अध्ययन के छोटे से इतिहास को देखकर सहज ही यह विश्वास बँधता है कि इस भाषा में लिखित साहित्य के पास अभी बहुत सामग्री है जो आधुनिक भाषाओं और साहित्यों के आदि काल पर प्रकाश डाल सकती है।

संस्कृत और हिंदी के तुलनात्मक अध्ययन से हिंदी भाषा और साहित्य का जितना लाभ हुआ है, उससे कम लाभ की संभावना अपभ्रंश और हिंदी के तुलनात्मक अध्ययन में नहीं है। संभावना ही अन्वेषण की प्रेरक शक्ति है, लेकिन इससे आगे बढ़कर जब वह पूर्वग्रह का रूप धारण कर लेती है तो वैज्ञानिक अनुशीलन में बाधा पहुंचती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर इन पृष्ठों में अपभ्रंश और हिंदी का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अध्ययन के क्रम में कहीं-कहीं पूर्ववर्ती विद्वानों की स्थापनाओं से उत्पन्न धारणा को धक्का लगा है कि लेकिन अधिकांशतः अपभ्रंश और हिंदी के घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि ही हुई है।

जहाँ तक भाषा-विषयक सम्बन्धों की बात है, इस अध्ययन-क्रम में यह स्पष्ट हुआ है कि हिंदी शब्दों तथा पदों की व्युत्पत्ति का पता लगाने में अपभ्रंश का महत्त्व बहुत बड़ा है। पहले के भाषावैज्ञानिक जहाँ संस्कृत और हिंदी अथवा प्राकृत और हिंदी के बीच की रिक्त अवस्था को या तो छोड़ देते थे अथवा नाना प्रकार के अनुमानों से काम लेते थे, वहाँ अपभ्रंश से उस रिक्त की पूर्ति की जा सकती है। भले ही प्रत्येक दशा में अपभ्रंश द्वारा की गई यह पूर्ति विकास की ही सूचक न हो, किन्तु उससे भी एक तथ्य की पुष्टि होती है। जैसे, शब्द-कोश के क्षेत्र में अपभ्रंश ने प्रायः प्राकृत की ही निधि का प्रयोग किया है, शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन करके उन्हें विशिष्ट रूप अपभ्रंश ने कम दिया है, फिर भी इससे उस युग में प्रचलित आर्य भाषा की सामान्य प्रवृत्ति का पता चलता है। इसके विपरीत हिंदी के अनेक देसी शब्द ज्यों के त्यों अपभ्रंश में भी मिल जाते हैं। इससे उन शब्दों की व्युत्पत्ति का पता भले ही न चले,

लेकिन इतना तो मालूम हो ही जाता है कि लोक में ऐसे शब्दों का प्रचलन काफी पुराना है। देशी शब्दों की व्युत्पत्ति का पता लगाने के लिए ध्वनि-साम्य पर संस्कृत का शब्द गढ़ने अथवा खोज निकालने से कहीं अच्छा है, उसके प्राकृत और अपभ्रंश प्रयोगों को धैर्य-पूर्वक ढूँढना। यही समझ कर भाषा वाले प्राकरण में कुछ ऐसे देसी शब्दों की सूची दी गई है।

जहाँ तक हिंदी व्याकरण का संबन्ध है, कुछ विद्वानों को अपभ्रंश के योग पर संदेह है। उनका कहना है कि "हिंदी की अधिकांश क्रियाएँ कृदन्त हैं, तिङन्त नहीं। ये कृदन्त क्रियाएँ संस्कृत से और संस्कृत व्याकरण से बिल्कुल मिल गई हैं, जब कि प्राकृत-अपभ्रंशों से मेल नहीं खातीं। वहाँ (प्राकृत और अपभ्रंशों में) तिङन्त क्रियाओं का ज़ोर है। जब कि प्राकृत-अपभ्रंशों के साथ हिंदी का यह मौलिक भेद है, तब उनसे इसकी उत्पत्ति कैसे ?" ऐसे सन्देहों को दूर करने के लिए तथ्यों के आधार पर दिखलाने की कोशिश की गई है कि अपभ्रंश में भी कृदन्तज क्रियाएँ प्रचलित हो गई थीं; इसके अतिरिक्त क्रिया के कृदन्त रूपों का जोर हिंदी में शुरू से ही नहीं रहा है। जायसी और तुलसी की भाषा में क्रिया के उतने ही कृदन्त रूप नहीं मिलते जितने प्रेमचंद और प्रसाद की भाषा में मिलते हैं। क्रिया-रूपों की यह अवस्था बहुत लम्बे विकास-क्रम का परिणाम है।

यही बात हिंदी के विकारी कारक-पदों और परसर्गों के बारे में भी समझनी चाहिए। विविध कारकों में प्रयुक्त होने वाले हिंदी की विकारी विभक्तियाँ तथा परसर्ग भी क्रमिक विकास के परिणाम हैं। हिंदी विभक्तियों और परसर्गों का इतिहास जानने के लिए अपभ्रंश का अध्ययन अनिवार्य है। हिंदी के सभी विकारी कारक-रूप तथा अधिकांश कारक-परसर्ग अपभ्रंश की ही अवस्था से होकर आए हैं।

जहाँ तक अपभ्रंश और हिंदी के साहित्यिक संबन्ध की बात है, उसमें प्रवेश करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश ने उस संक्रान्ति युग में भी लोक-जीवन को अपनाकर जो युगान्तरकारी कार्य किया, हिंदी ने

उसी को अपने ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर संत-भक्ति काव्य के द्वारा आगे बढ़ाया। उस युग में लोक-जीवन ने अपभ्रंश के माध्यम से अपनी जिन भावनाओं को व्यक्त किया वे कालान्तर में और भी प्रबल हुईं तथा गौरव शाली प्राचीन भाव-संपदा का सहारा पाकर संत-भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुईं। हिंदी साहित्य का उदय लोक-जीवन के उसी उच्छ्‌वास की अभिव्यक्ति है और इस विषय में अपभ्रंश साहित्य उसका अग्रदूत है। इससे आगे बढ़कर दोनों में अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न अपभ्रंश के प्रति अतिशय मोह का प्रतीक है। हिंदी साहित्य के मूल उत्स कई हैं, उसने अनेक स्रोतों से जीवन-धारा ग्रहण की है और अपभ्रंश भी उनमें से एक है। जिस हिंदी साहित्य के अभ्युदय पर संस्कृत साहित्य और ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुत्थान की गहरी छाप है, उसे एकमात्र जैन धर्मानुमोदित-अपभ्रंश साहित्य से उत्पन्न हुआ बतलाना बहुत बड़े सत्य पर पर्दा डालना होगा।

अपभ्रंश साहित्य की जीवंत भावधारा के साथ-साथ उसकी कुछ रूढ़ भावनाओं और प्रवृत्तियों की भी हिंदी साहित्य ने रक्षा की और धीरे-धीरे फिर उन्हें छोड़ दिया।

भावधारा के विषय में अपभ्रंश से हिंदी का जहाँ केवल ऐतिहासिक संबन्ध है, वहाँ काव्य-रूपों और छंदों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूपविधान विषय-वस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलता है और इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिंदी ने अपभ्रंश की काव्य-रूप-संबन्धी अनेक परिपाटियों को ज्यों का त्यों और कुछ को थोड़ा सा सुधार कर स्वीकार कर लिया।

इस तरह हिंदी ने अपभ्रंश की जीवंत परंपरा का, भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में, ऐतिहासिक विकास किया।

परिशिष्ट

अपभ्रंश दोहा-संग्रह

कालिदास (विक्रमोर्वशीयम्)

मइँ जाणिअँ मिअ-लोअणी णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव णु णव-तडि सामलो धराहरु वरिसेइ ॥ १ ॥

सरहपा (दोहाकोष)

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, वेण्ण वि कूव पडेइ ॥२॥
णउ तं बाअहि गुरु कहइ, णउ तं बुज्झइ सीस।
सहजामिअ-रसु सअल जगु, कासु कहिज्जइ कीस ॥ ३ ॥
जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढ ! चित्त विसाम करु, सरहें कहिउ उएस ॥ ४ ॥

१. जब तक नव तड़ित से युक्त श्यामल धाराधर बरसने न लगा तब तक मैंने यही जाना था कि मेरी मृगलोचनी [प्रिया] को शायद कोई निशिचर हरण किए जा रहा है।

२. जब तक आप न जानिए तब तक शिष्य मत कीजिए (बनाइये) अंधा अंधे को निकालने का प्रयत्न करे तो दोनो ही कूप में पड़ेंगे।

३. वह वचन न तो गुरु कहता है और न शिष्य बूझता है [वह] सहजामृत-रस सकल जग में है; किससे कहें और कैसे [कहें !]

४. जहाँ मन और पवन [भी] संचार नहीं करते; रवि और शशि का भी प्रवेश नहीं है, हे मूढ़ चित्त, वहीं विश्राम, करो। सरहने [यही] उपदेश कहा है।

आइ ण अंत ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परममहासुह, णउ पर णउ अप्पाण ॥ ५ ॥
विसअ-विसुद्धेँ णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी बोहिअ-काउ जिम, पलुटिअ तह वि पडेइ ॥ ६ ॥
जत्त वि चित्तह विप्फुरइ, तत्त वि णाह सरूअ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु, भव-सम ख-सम सरूअ ॥ ७ ॥
सुण्णहिँ संग म करहि तुहु, जहिँ तहिँ सम चिन्तस्स।
तिल-तुस-मत्त वि सल्लता, वेअणु करइ अवस्स ॥ ८ ॥
अक्खर बाढ़ा सअल जगु, णाहि णिरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिया, जाव णिरक्खर होइ ॥ ९ ॥

५. [इसका] न आदि है, न मध्य है, और न अंत है। इसका जन्म और निर्वाण भी नहीं है। यह वह परम महासुख है [जिसके लिए] न कोई पराया है और न अपना।

६. जो विशुद्ध विषयों में नहीं रमता और केवल शून्य में विचरण करता है, वह बोहित [जहाज] के काग की तरह पलट कर वहीं पड़ता है।

७. जहाँ चित्त में विस्फुरण होता है वहाँ स्वरूप नहीं है। क्या तरङ्ग अन्य है और जल अन्य है? भव के समान ख (शून्य) का स्वरूप होता है। अर्थात् चंचल चित्त और आत्म-रूप में वही संबन्ध है जो तरङ्ग और जल में तथा भव और शून्य में है।

८. तुम शून्य का संग मत करो, बस जहाँ तहाँ समता का चिंतन करो; तिल और तुष मात्र की शल्यता भी वेदना करती है। वेदना (१) व्यथा (२) अनुभूति (३) ज्ञान।

९. सकल जग [अति] अक्षर से बाधित है। निरक्षर कोई नहीं है। इसलिए उतना ही अक्षर घोलो जिससे निरक्षरता प्राप्त हो।

अक्षर = कोरा शास्त्र ज्ञान।

घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिश्राण ।
सश्रलु णिरन्तर बोहि-ठिश्र, कहिँ भव कहिँ णिब्बाण ॥१०॥
श्रद्दश्र-चित्त-तरूश्ररह, गउ तिहुँवणे वित्थार ।
करुणा फुल्ली फल धरइ, णाउ परत्त उश्रार ॥ ११ ॥

काण्हपा (दोहा कोष)

लोश्रह गब्ब समुब्बहइ, हउ परमत्थे पवीण ।
कोटिह मज्झे एक्कु जइ, होइ णिरंजण-लीण ॥ १२ ॥
श्रागम-वेश्र-पुराणेही, पण्डिश्र माण वहन्ति ।
पक्क-सिरीफले श्रलिश्र जिम, बाहेरीश्र भमन्ति ॥१३॥
सहजे णिच्चल जेण किश्र, समरसे निश्र-मण राश्र ।
सिद्धे सो पुण तक्खणे, णउ जरमरणह स भाश्र ॥१४॥

---

१०. न घर रहो न वन में जाओ । जहाँ तहाँ [रहकर] मन का परिज्ञान करो । सकल [त्रिधातओं में] निरन्तर [अवच्छिन्न प्रवाह से] बोधि स्थिति है । [इसके बाहर] कहाँ जन्म है और कहाँ निर्वाण ?

११. [योगियों के] अद्वय चित्त के तरवर का विस्तार त्रिभुवन में है ! [उसमें] करुणा का फूल फल धारण करता है । [इसके अतिरिक्त] दूसरा उपकार नहीं है ।

१२. लोग गर्व करते हैं कि हम परमार्थ में प्रवीण हैं [पर] करोड़ों के बीच कोई एक ही निरंजन-लीन होता है ।

१३. आगम, वेद, पुराण को ही [सर्वस्व] मानकर पंडित जन उन्हें वहन करते हैं जिस प्रकार पके हुए श्रीफल के बाहर ही भौंरे घूमते रह जाते हैं !

१४. समरस में अपना मन अनुरक्त करके जिन्होंने सहज में निश्चल किया वह तत्क्षणात् सिद्ध है और उसे जरा-मरण का भय नहीं ।

एहु सो गिरिवर कहिअ मइँ, एहु सो महसुह ठाव ।
एक्कु रअणी सहज-खण, लब्भइ महसुह जाव ॥१५॥
जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त ॥१६॥

देवसेन *(सावयधम्म दोहा)*

जं दिज्जइ तं पाविअइ, एउ ण वयण विसुद्धु ।
गाइ पइण्णइ खडभुसइँ किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥१७॥
काइँ बहुत्तइँ जंपिअइँ, जं अप्पणु पडिकूलु ।
काइँ मि परहु ण तं करहि, एहु जु धम्मह मूलु ॥१८॥
सत्थसएण वियाणियहँ धम्मु ण चढइ मणे वि ।
दिणयर सउ जइ उग्गमइ, घूयडु अंधउ तोवि ॥१९॥
णिद्धण मणुयह कट्ठडा, सज्जमि उण्णय दिंति ।
अह उत्तमपइ जोंडिया, जिय दोस वि गुण हुंति ॥२०॥

---

१५. मैंने कहा कि यही वह गिरिवर है और यही वह महासुख का ठाँव है । सहज क्षण की एक ही रजनी है जिससे महासुख प्राप्त होता है ।

१६. जिस प्रकार पानी से लवण विलीन हो जाता है उसी प्रकार यदि [ज्ञान रूपिणी] गृहिणी को लेकर चित्त को समरस [भाव में] ले जाँय तो उसी क्षण से नित्य समरस में अवस्थित हो जाय ।

१७. जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है यह वचन क्या विशुद्ध नहीं है ? गाय को खली-भूसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती ?

१८. जल्पना करने से क्या ? जो अपने प्रतिकूल हो उसे दूसरों के प्रति कभी न करो । यही धर्म का मूल है ।

१९. सैकड़ों शास्त्रों को जान लेने पर भी [विपरीत ज्ञान वाले के] मन पर धर्म नही चढ़ता । यदि सौ दिनकर भी उग आयें तो भी घुग्घू के लिए अंधेरा ही रहे ।

२०. निर्धन मनुष्य के कष्ट संयम में उन्नति देते हैं । उत्तमपद में

सत्तु वि महुरइँ उवसमइ, सयल वि जिय वसि हुंति ।
चाइ कवित्तें पोरिसइँ, पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥२१॥

जोइन्दु (परमात्मप्रकाश-योगसार)

जो जाया झाणग्गियए, कम्म-कलंक डहेवि ।
णिच्च-णिरंजण-णाणमय, ते परमप्प णवेवि ॥२२॥
रूवि पयंगा सद्दि मय, गय फासहि णासंति ।
अलि-उल गंधहिँ मच्छ रसि, किमि अणुराउ करंति ॥२३॥
देउल देउ वि सत्थु गुरु, तित्थु वि वेउ वि कव्वु ।
वच्छु जु दीसै कुसुमियउ, इंधणु होसइ सव्वु ॥२४॥
पंचहँ णायकु वसिकरहु, जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ, अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥२५॥
उव्वस वसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुण्णु ।
वलि किज्जउँ तसु जोइयहिँ, जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥२६॥

जोड़े हुए दोष भी गुण हो जाते हैं ।

२१. शत्रु भी मधुरता से शांत हो जाता है और सभी जीव वश में हो जाते हैं। त्याग कवित्व और पौरुष से ही पुरुष की कीर्ति नहीं होती है ।

२२. जो ध्यानाग्नि से कर्मकलंकों को दग्ध करके नित्य निरंजन ज्ञानमय हो गए हैं उन परमात्म को नमन करता हूँ ।

२३. रूप में पतंग, शब्द में मृग, स्पर्श में गज, गंध में अलिकुल तथा रस में मत्स्य नष्ट होते हैं । [यह जानकर विवेकी जीव विषयों में] क्या अनुराग करते हैं ।

२४. देवल (देवकुल), देव (जिन देव) भी, शास्त्र, गुरु, तीर्थ भी वेद भी, काव्य, वृक्ष जो कुसुमित दिखाई पड़ता है वह सब इंधन होगा ।

२५. पाँच [इंद्रियों] के नायक [मन] को वश में करो जिससे अन्य भी वश होते हैं । तरुवर का मूल नष्ट कर देने पर पर्ण अवश्य सूखते हैं ।

२६. जो उद्वास (ऊजड़) में वास करता है तथा शून्य में रहता

संता विसय जु परिहरइ, बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण वि मुंडियउ सीसु खडिल्लउं जासु ॥२७॥
बलि किउ माणुस जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ, अह डज्झइ तो छारु ॥२८॥
जेहउ मण विसयहँ रमइ, तिमु जइ अप्प मुणेइ ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइ ॥२९॥
जो जिण सो हउँ सोजि हउँ, एहउ भाउ णिभंतु ।
मोक्खहँ कारण जोइया, अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥३०॥
सो सिउ-संकरु विण्हु सो, सो रुद्द वि सो बुद्धु ।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो -अणंतु सो सिद्धु ॥३१॥

और जिसके न पाप है न पुण्य, उस योगी की बलि जाता हूँ ।

२७. जो विद्यमान विषयों को छोड़ देता है उसकी मैं बलि जाता हूँ । जिसका शिर खल्वाट (गंजा) है वह तो दैव से ही मूड़ा हुआ है अर्थात् वह मुंडित (मुँड़िया = संन्यस्त) नहीं कहा जा सकता ।

२८. मनुष्य-जन्म की बलि जाता हूँ जो देखने में परम सार है । परंतु यदि भूमि में गाड़ दे तो सड़ जाता है और जला दें तो क्षार हो जाता है !

२९. जिस प्रकार मन विषयों में रमता, उसी प्रकार यदि आत्मा के जानने में रमण करे तो हे जोगीजनो, योगी कहते हैं कि जीव शीघ्र ही निर्वाण पा जाय ।

३०. जो जिन हैं वह मैं हूँ, वही मैं हूँ—निर्भ्रान्त होकर इसकी भावना कर । हे जोगिन्, मोक्ष का कारण कोई अन्य तंत्र मंत्र नहीं है ।

३१. वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म (ब्रह्मा) है, वही अनंत है, और वही सिद्ध है ।

रामसिंह (पाहुड़ दोहा)

अक्खरडेहिंजि गव्विया, कारणु ते ण मुणंति।
वंस-विहत्था डोम जिम, परहत्थडा धुणंति ॥३२॥
बहुयइँ पढियइँ मूढ़ पर, तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खरु तं पढहु, सिवपुरि गम्मइ जेण ॥ ३३ ॥
हउँ सुगुणी पिउ णिग्गुणउ, णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिँ अंगि वसंतयहँ, मिलिउण अगहिँ अंगु ॥ ३४ ॥
मूलु छंडि जो डाल चडि, कहँ तह जोयाभासि।
चीरुण वुणणहँ जाइ बढ, विणु उट्टि यइं कपासि ॥ ३५ ॥
छह-दंसण-धंधइ पडिय, मणहँ ण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खहं जंति ॥ ३६ ॥

अब्दुर्रहमान (संदेश रासक)

जसु पवसंत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥ ३७ ॥

---

३२. जो अक्षर के कारण गर्व करते हैं वे कारण नहीं जानते। जैसे बाँस बिना डोम परहत्था धुनता है।

३३. मूढ़ तूने बहुत पढ़ा जिससे तालु सूखता है। एक ही वह अक्षर पढ़ो जिससे शिवपुरी पहुँचा जाता है।

३४. मैं सगुणी हूँ और प्रिय निर्गुणी निर्लक्षण तथा निसंग। एक ही अंग में बसते हुए भी अंग से अंग नहीं मिला।

३५. मूल छोड़ कर जो डाल पर चढ़ता है, उसके लिए योगाभ्यास कहाँ! हे मूढ़, बिना कपास ओटे चीर नहीं बुना जाता।

३६. षट् दर्शन के धन्धे में पड़कर मन की भ्रांति नहीं टूटी। एक देव के छः भेद किये। इसलिए मोक्ष नहीं मिला!

३७. हे पथिक, जिसके प्रवास करते प्रवास नहीं किया और न जिसके वियोग में मरी ही, उस प्रिय को संदेश देती हुई लज्जित हो रही हूँ।

लज्जवि पंथिय जइ रहउँ, हियउ न धरणउ जाइ ।
गाह पढिज्जसु इक्क पिय, कर लेविणु मन्नाइ ॥ ३८ ॥
पिअ-विरहानल-संतविअ, जइ वच्चउ सुरलोइ ।
तुअ छड्डिवि, हिय-अट्ठियह, तं परिवाडि ण होइ ॥ ३९ ॥
कंत जु तइ हिअ-यट्ठियह, विरह विडंबइ काउ ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ, परपरिहव संताउ ॥ ४० ॥
गरुअउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण ।
जिहि अंगिहि तूँ विलसियउ, ते दद्धा विरहेण ॥ ४१ ॥
विरह परिग्गह छावडइ, पहराविउ निरवक्खि ।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि ॥ ४२ ॥

---

३८. हे पथिक, लज्जित होकर यदि रह जाऊँ तो हृदय भी धारण नहीं किया जाता । प्रिय के सम्मुख एक गाथा पढ़ना और हाथ पकड़ कर मना लेना ।

३९. प्रिय के विरह के अनल में संतापित होती हुई मैं यदि हृदय में स्थित तुमको छोड़कर सुरलोक चली जाऊँ तो भी उचित न हो ।

४०. हे कंत, यदि हृदय में तुम्हारे रहते हुए भी विरह काया की विडंबना करता है (कष्ट देता है) [तो तुम्हारे लिए लज्जा की बात है] सत्पुरुषों के लिए शत्रुओं द्वारा परिभव का संताप मरण से भी अधिक होता है ।

४१· तुम्हारे जैसे पौरुष के निलय के रहते हुए यह कठोर परिभव कैसे न सहूँ ! जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया वे विरह से दग्ध हो रहे हैं ।

४२. विरह के परिग्रह (सौन्य दल आदि) ने छावड़ी (शरीर) पर निरपेक्ष भाव से (अनदेखे ही) प्रहार कर दिया [जिससे] देह तो टूट गई परन्तु तुमसे संमानित (युक्त) देख कर हृदय घायल नहीं हुआ ।

मह ण समत्थिम विरह सउ, ता अच्छउं विलवंति ।
पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति ॥४३॥
संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ ।
जो कालंगुलि मूँदडउ, सो बाहडी समाइ ॥४४॥
सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय-उक्किंख करेइ ।
विरह-हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥४५॥
जामिणि जं वयणिज्ज तुअ, तं तिहुयणि णहु माइ ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी, झिज्जइ सुहसंगाइ ॥४६॥

सोमप्रभ (कुमारपाल-प्रतिबोध)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु, तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जन-कर-पल्लविहिँ, दंसिज्जंतु भमिज्ज ॥४७॥
वेस विसिट्ठह वारिअइ, जइ वि मणोहर-गत्त ।
गंगाजल-पक्खालिअवि, सुणिहि कि होइ पवित्त ॥४८॥

४३. विरह के साथ [संघर्ष करने में] मेरा सामर्थ्य नहीं है। इसी से विलाप करती रहती हूँ। क्योंकि गोपालों का रुदन ही प्रमाण है; धन्या स्वामी से ही घुमाई जाती है, [अन्य से नहीं]।

४४. संदेशा सविस्तर है पर मुझसे कहा नहीं जाता। जो कनगुरिया की मुँदरी थी वह बाँह में समा जाती है।

४५. मेरे हृदय को प्रिय सुनार की भाँति उत्कांक्षित करता है; विरह के हुताशन में जलाकर आशा जल से सींचता है।

४६. हे यामिनि, तुम्हारी जो वचनीयता (निंदावाक्य) है वह त्रिभुवन में [भी] नहीं अँटती। दुःख में तो [तुम] चौगुनी हो जाती है पर सुखसंग में क्षीण हो जाती हो।

४७. मान नष्ट होने पर यदि तन नहीं तो देश [अवश्य] त्याग दीजिए। दुर्जन के कर-पल्लवों से दिखलाए जाते हुए मत घूमिए।

४८. वेशशिष्टों अथवा विशिष्टवेश्याओं को वारण कीजिए, भले ही वे

रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि संमाणु ।
सउणिहि मुच्चउ फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥४९॥
हियडा संकुडि मिरिय जिम, इंदिय-पसरु निवारि ।
जित्तिउ पुज्जइ पंगुरणु तित्तिउ पाउ पसारि ॥५०॥
निम्मल-मुत्तिअ-हार मिसि, रइय चउक्कि पहिट्ठ ।
पढमु पविट्ठहु हिय तुसु, पच्छा भवणि पविट्ठ ॥५१॥
पिउ हउं थक्किय सयलु दिणु तुह विहरग्गि किलंत ।
थोडइ जलि जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत ॥५२॥
मइँ जाणिउं पिय विरहियह, कवि धर होइ वियालि ।
णवर मयंकु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयकालि ॥५३॥
मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपय-पह देह ।
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह ॥५४॥

मनोहर गात्र की हो। गंगाजल में प्रक्षालित कुतिया क्या पवित्र हो जाती है!

४९. ऋद्धि-विहीन मनुष्यों का कोई भी सम्मान नहीं करता। पक्षियों द्वारा छोड़ा हुआ फलरहित तरुवर इसका प्रमाण है।

५०. हृदय मृग की तरह इन्द्रियों का प्रसार निवारण कर सिकुड़ो। प्रावरण (चादर) जितना पूरा पड़े उतना ही पाँव फैलाओ।

५१, निर्मल मोती के हार के मिस (बहाने) प्रहृष्ट चतुष्क (चौक) रचित है। पहले उसके हृदय में पैठो, पीछे भवन में प्रवेश करो।

५२ प्रिय, तुम्हारी विहाग्नि में सारे दिन किलकती हुई मैं थक गई जैसे थोड़े जल में छटपटाती हुई मछली।

५३. प्रिय, मैंने समझा कि विरहिणियों को विकाल (संध्या) में कुछ सहारा होगा, पर यह चन्द्रमा वैसे ही तप रहा है जैसे क्षय (प्रलय) काल में दिनकर।

५४. मरकत वर्ण वाले प्रिय के हृदय पर चंपक-प्रभा की देह वाली

चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहत्तु ।
सासानलिण झलक्किियउ वाह-सलिल-संसित्तु ॥५५॥
अम्हे थोडा रिउ वहुअ इउ कायर चिंतंति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति ॥५६॥

प्रबंध-चिंतामणि

झोली तुट्टवि किं न मुउ, किं हूउ न छारह पुंजु ।
हिण्डइ दोरी दोरियउ, जिम मंकडु तिम मुंजु ॥५७॥
चित्ति विसाउ न चिंतियइ, रयणायर गुण-पुंज ।
जिम जिम वायइ विहिपडहु, तिम नच्चिज्जइ मुंज ॥५८॥
सायरु षाई लंक गढु, गढवइ दसशिरु राउ ।
भग्ग षइ सो भंजि गउ, मुंज म करसि विसाउ ॥५९॥

प्रिया [वैसी ही सुशोभित हो रही है] जैसी कसौटी पर दी हुई सुवर्ण की रेखा सुशोभित होती है ।

५५. मुग्धा के कपोल पर श्वासों की आग से संतप्त और वाष्प सलिल से युक्त होकर चूड़ियाँ चुन्नी (चूर्ण-विचूर्ण) हो जायेंगी ।

५६. हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं यह कायर ही सोचते हैं । हे मुग्धे ! देखो, गगन तल को कितने जन प्रकाशित करते हैं ।

५७. यह मुंज जो इस प्रकार रस्सी में बँधा हुआ मर्कट की तरह घुमाया जा रहा है वह [बचपन में ही] झोली के टूट जाने से [गिरकर] क्यों न मर गया या आग में जलकर राख क्यों न हो गया ।

५८. हे रत्नाकर की तरह गुण-पुंज मुंज ! चित्त में [इस प्रकार] विषाद मत करो, क्योंकि जिस प्रकार विधाता का पटह (ढोल) बजाता है उसी प्रकार मनुष्य को नाचना पड़ता है ।

५९. खाईं स्वयं सागर था, गढ़ लंका जैसा था और गढ़ का मालिक स्वयं दस शिरवाला रावण था फिर भी भाग्य क्षय होने पर

गय गय रह गय तुरय गय, पायकडानि भिञ्च ।
सग्गट्ठिय करि मंतणउं, मुहुँता रुद्दाइञ्च ॥६०॥
भोली मुन्धि मा गव्वु करि, पिक्खिवि पडुरूवाइँ ।
चउदह-सइ छहुत्तरइँ, मुंजह गयह गयाइँ ॥६१॥
च्यारि बइल्ला धेनु दुइ, मिट्ठा बुल्ली नारि ।
काहुं मुंज कुडंवियाहँ गयवर बज्झइ वारि ॥ ६२ ॥
जा मति पच्छइ सम्पज्जइ, सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न बेढइ कोइ ॥ ६३ ॥
सउ चित्तह सट्ठी मणह, बत्तीसडा हियांह ।
अम्मी ते नर दड्ढसी जे वीससइं तियांह ॥ ६४ ॥

भग्न हो गया । हे मुंज, विषाद मत करो ।

६०. गज गए, रथ गए, तुरग गए, पायक और भृत्य भी चले गए। महता (महामात्य) रुद्रादित्य भी स्वर्ग में बैठा आमंत्रण दे रहा है, अथवा हे रुद्रादित्य मेहता, स्वर्ग-स्थित होते हुए भी मंत्रणा दो ।

६१. हे भोली मुग्धे, इन छोटे से पाड़ों (भैंस के बच्चों को देखकर गर्व न करो । मुंज के तो चौदह सौ और छिहत्तर हाथी थे, पर वे भी चले गये ।

६२. जिसके घर चार बैल हैं दो गायें हैं, और मीठा बोलने वाली स्त्री हो, उस कुटुम्बी (किसान) को अपने घर पर हाथी बाँधने की क्या जरूरत है ?

६३. मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! जो बुद्धि पीछे उत्पन्न होती है, वह अगर पहले ही हो जाय तो कोई विघ्न आकर घेर नहीं सकता ।

६४. सौ चित्त, साठ मन और बत्तीस हृदयों वाली स्त्रियों पर जो मनुष्य विश्वास करते हैं वे दग्ध होते हैं (अथवा, वे मूर्ख हैं) ।

उग्या ताविउ जिहि न किउ, लक्खउ भणइ तिघट्ट ।
गणिया लब्भइ दीहडा, के दह अहवा अट्ट ॥ ६५ ॥
कवणिहिं विरहकरालिअइं उड्डावियउ वराउ ।
सहि अच्चब्भुव दिट्ठ मइं कंठि विलुल्लइ काउ ॥ ६६ ॥
एहु जम्मु नग्गहं गियउ भड-सिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खाँ तुरिय न माणिया गोरी गलि न लग्गु ॥ ६७ ॥
भोय एहु गलि कंठलउ, भण केहउ पडिहाइ ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि सीम निबद्धी काइ ॥ ६७ ॥
माणुसडा दस दस दसा सुणियइ लोय-पसिद्ध ।
मह कन्तह इक्क ज दसा अवरि ते चोरहिं लिद्ध ॥ ६९ ॥

६५. उगे हुए [सूर्य] ने जो प्रताप नहीं बताया तो हे लाखा, वह दिन निकृष्ट कहा जाता है। गिनती करने से तो आठ कि दस दिन मिल सकते हैं।

६६. पति के विरह से कराल बनी हुई किसी स्त्री ने उस बेचारे कौवे को उड़ाया तो बड़ा आश्चर्य मैंने, हे सखि, यह देखा कि वह काक उसके कंठ में लटक रहा है।

['काक' पर श्लेष। कंठ के काक द्वारा देह की क्षीणता का संकेत)

६७. यह जन्म नागा (व्यर्थ) गया; भट के सिर पर खड्ग भग्न नहीं किया न तीखे घोड़े पर सवारी की और न गोरी को गले ही लगाया।

६८. भोज, कहो इसके गले में कंठा कैसा प्रतीत होता है। उर में लक्ष्मी और मुँह में सरस्वती की क्या सीमा बाँध दी गई है।

६९. मनुष्य की दस दशायें लोक में प्रसिद्ध सुनी जाती हैं। परन्तु मेरे पति की एक ही दशा है और तो चोरों ने ले ली।

७०. या तो स्वयं अपने ही प्रभु हों या प्रभु को अपने हाथ में करे। कार्य करने वाले मनुष्य के लिए तीसरा मार्ग नहीं है। पा भे वीजउ

आपणपइं प्रभु होइयइ कइ प्रभु कीजइ हत्थि ।
काजु करेवा माणुसह तीजउ मागु न अत्थि ॥ ७० ॥
महिवीढह सचराचरह जिणि सिरि दिन्हापाय ।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होउ चिराय ॥ ७१ ॥

हेमचंद्र (प्राकृतव्याकरण)

ढोल्ला मइँ तुहँ वारिया मा कुरु दीहा माणु ।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥ ७२ ॥
बिट्टीए मइँ भणिय तुहुं मा कुरु बङ्की दिट्ठि ।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि ॥ ७३ ॥
एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मणीसिम जाणिअइ जो नवि वालइ वग्ग ॥ ७४ ॥
अगलिअ-नेह-निवट्टाहं जोअण-लक्खु वि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ ॥ ७५ ॥

७१. सचराचर महीपीठ के सिर पर जिस सूर्य ने अपने पाद (किरण) डाले उस दिनेश्वर का अस्त हो जाता है। होनी होकर रहती है। पा. भे.—होइ तु।

७२. हे दुल्हा, मैंने तुम्हें बरजा कि दीर्घ मान मत कर। रात नींद में ही चली जायगी और झटपट विहान हो जायगा।

७३. हे बिटिया, मैंने तुमसे कहा था कि दृष्टि बाँकी मत कर। हे पुत्रि, वह अनीदार बर्छी की तरह हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है।

७४. ये वे घोड़े हैं, यह वह स्थली है, ये वे निशित (पैने) खड्ग हैं। यहाँ यदि [घोड़े की] बाग न मोड़े तो मनुसाई (पौरुष) जानिए।

७५. अगलित स्नेह में निबटे (पके) हुए [लोग] लाखों योजन भी जाएँ और सौ वर्ष में भी यदि मिलें तो हे सखि, सौख्य (मैत्री) का स्थान वही रहता है।

अङ्गहिं अङ्ग न मिलिउ हलि अहरें अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहि मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥ ७६ ॥
जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥ ७७ ॥
सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं ॥ ७८ ॥
गुणहिँ न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुंजति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति ॥ ७९ ॥
वच्छहे गृण्हइ फलइँ जणु कडु-पल्लव वज्जेइ ।
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइ ॥ ८० ॥

---

७६. हे सखि, अंगों से अंग नहीं मिला ; अधर से अधर प्राप्त नहीं हुआ ; प्रिय का मुख-कमल देखते-देखते यों ही सुरत समाप्त हो गया।

७७. प्रवास करते हुए प्रिय ने मुझे जो दिन दिए थे उन्हें गिनते हुए मेरी अंगुलियाँ नख से जर्जरित हो गईं ।

७८. सागर तिनके को [जल के] ऊपर धरता (रखता) है और रत्नों को तल में डाल देता है । स्वामी सुभृत्य को भी छोड़ देता है और खलों का सम्मान करता है ।

७९. गुणों से सम्पत्ति नहीं, परन्तु कीर्ति [मिलती है] ; फल तो लिखे हुए ही भोगते हैं । सिंह का मूल्य एक कौड़ी भी नहीं मिलता, गज लाखों में खरीदे जाते हैं ।

८०. लोग वृक्ष से फलों को ग्रहण करते हैं और कटु पल्लवों को को छोड़ देते हैं ; तो भी महान द्रुम सज्जन की तरह उन्हें उत्संग (गोद) में धारण किए रहता है ।

८१. ऊँची उड़ान लेकर गिरा हुआ खल अपने ही जनों को मारता है, जैसे गिरि-शृंगों से गिरी हुई शिला अन्य [शिलाओं] को भी चूर करती है ।

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिंगहुं पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ ॥ ८१ ॥
जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥ ८२ ॥
तणहँ तइज्जी भंगि नवि तें अवड-यडि वसंति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइँ मज्जंति ॥ ८३ ॥
दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहँ पक्क फलाइं ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिँ खल-वयणाइं ॥ ८४ ॥
धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भर पिक्खेवि ।
हउँ कि न जुत्तउं दुहुँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेवि ॥ ८५ ॥
गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ नीसावँन्नु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥ ८६ ॥

---

८२. जो अपना गुण गोवे (छिपाए) और पराये का [गुण] प्रकट करे, कलियुग में दुर्लभ उस सज्जन पर मैं बलि जाऊँ।

८३. तृणों की तीसरी भंगी (दशा) नहीं है : वे अवट तट में बसते हैं। या तो लोग उनसे लगकर (उनको पकड़कर) [पार] उतरते हैं या वे उनके साथ स्वयं डूब जाते हैं।

८४. दैव वन में शकुनियों (पक्षियों) के लिए तरुओं के पके फल गढ़ता है। [उनके सेवन का] वह सुख उत्तम है, लेकिन कानों में खलों के वचनों का पैठना नहीं।

८५. स्वामी के गुरु भार को देखकर धवल [बैल] विसूरता है कि मैं ही दो खण्ड करके दोनों ओर क्यों नहीं जोत दिया जाता।

८६. पहाड़ों से शिलातल [और] तरुओं से फल निःसामान्य (बिना भेद-भाव के) प्राप्त होते हैं ; तो भी मनुष्यों को घर छोड़कर अरण्य नहीं रुचता।

तरुहुं वि वक्कलु फल मुणिवि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुं एत्तिउ अग्गलउं आयरु भिच्चु गृहंति ॥ ८७ ॥
अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअलु तेवँ।
जो पुणु अग्गिं सीअला तसु उण्हतणु केवँ ॥ ८८ ॥
विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गिं कज्जु ॥ ८९ ॥
जिवँ जिवँ वकिंम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वन्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥ ९० ॥
संगर-सएहिँ जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कंतु।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गय कुम्भइं दारन्तु ॥९१॥
भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जंतु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एंतु ॥९२॥

---

८७. तरुओं से वल्कल और फल [के रूप में] परिधान और अशन (भोजन) तो मुनि भी पाते हैं ; स्वामियों से भृत्य आदर भी पाते हैं—इतनी अधिकता है।

८८. अग्नि से जगत् उष्ण होता है और उसी प्रकार वायु से शीतल। पर जो अग्नि से शीतल हो उसकी उष्णता कैसे हो ?

८९. प्रिय यद्यपि अप्रिय-कारक है तो भी आज उसे ला। आग से यद्यपि घर जल जाता है तो भी उस आग से काज है। (काम पड़ता ही है)।

९०. ज्यों-ज्यों श्यामा (षोडशी) अधिकाधिक लोचनों की बंकिमा सीखती है त्यों त्यों मन्मथ अपने शरों को खरे पत्थर पर तीखा करता है।

९१. जो सैकड़ों युद्धों में बखाना जाता है उस अति मत्त-त्यक्तांकुश-गजों के कुम्भस्थलों को विदीर्ण करने वाले मेरे कंत को देखो।

९२. हे बहिन, भला हुआ जो मेरा कंत मारा गया। यदि भागा हुआ घर आता तो मैं वयस्याओं (सखियों) में लजाती।

वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति ॥६३॥
कमलइँ मेल्लवि अलि-उलइं करि-गण्डाइँ महंति।
असुलहमेच्छण जाहँ भलि ते ण- वि दूर गणंति ॥६४
भग्गउँ देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउँ परस्सु।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ॥६५॥
जइ तहे तुट्टउ नेहडा मइँ सहुँ न वि तिल-तार।
तं किहे वंकेहिं लोअणेहिं जोइज्जउं सय-वार ॥६६॥
जहिँ कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिँ तेहइ भड-घड-निवहि कंतु पयासइ नग्गु ॥६७॥

६३. वायस उड़ाती हुई [प्रिया] ने सहसा प्रिय को देखा; [देखते ही] उसके आधे वलय पृथ्वी पर गिरे और आधे तड़ तड़ टूट गए। (विरह-जनित कृशता के कारण कुछ चूड़ियां ढीली होकर गिर पड़ीं; लेकिन पति के देखने की खुशी में सहसा वह इतनी मोटी हो गई कि बाकी चूड़ियां टूट गईं।)

६४. कमलों को छोड़कर भौंरे हाथियों के कुंभ-स्थलों की इच्छा करते हैं। जिन्हें दुर्लभ की इच्छा भली लगती है वे दूरी नहीं गिनते।

६५. अपनी सेना को भगाते हुए तथा शत्रु की सेना को बढ़ते हुए देखकर मेरे प्रिय के हाथों में करवाल शशि-लेखा की तरह चमक उठती है।

६६. यदि उसका स्नेह टूट गया है और मेरे साथ तिल-तार (दृष्टि मेल) नहीं है, तो मैं बाँके लोचनों द्वारा सैकड़ों बार क्यों देखा जाता हूँ।

६७. जहाँ शर से शर काटा जा रहा है और खड्ग से खड्ग छिन्न हो रहा है, वहाँ भटों की घटा के वैसे समूह में मेरा कंत मार्ग प्रकाशित करता है।

हियडा फुट्टि तड त्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउँ हय-विहि कहिँ ठवइ पइँ विणु दुक्ख-सयाइं ॥९८॥
कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु ।
अत्थिहिं सत्थिहिँ हत्थिहिं वि ठाउ वि फेडइ तासु ॥९९॥
जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णि वि अवसर-निवडिअइं तिण-सम गणइ विसिट्ठु ॥१००॥
एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु ।
एहउँ वढ चिन्तन्ताहं पच्छइ होइ विहाणु ॥१०१॥
जइ पुच्छह घर वडड्डाइं तो वड्डा घर होइ ।
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कंतु कुडीरइ जोइ ॥१०२॥
आयइँ लोअहो लोअणइँ जाईं सरइँ न भंति ।
अप्पिए दिट्ठइ मउलिअहिं पिए दिट्ठइ विहसंति ॥१०३

९८. हे हृदय, तड़क कर फट जा। काल क्षेप (देर) करने से क्या [लाभ]? फिर देखूँ कि यह हतविधि (मुआ विधाता) इन सैकड़ों दुखों को तेरे बिना कहाँ रखता है?

९९. हे सखी, हमारा कंत निश्चय करके जिससे रुष्ट होता है उसके ठाँव तक को अस्त्रों, शस्त्रों और हाथों से भी तोड़ फोड़ देता है।

१००. जीवन किसे प्यारा नहीं? धन किसे इष्ट नहीं? [किन्तु] अवसर आ पड़ने पर विशिष्ट [पुरुष] दोनों को ही तृण-सम गिनता है।

१०१. 'यह कुमारी है, यह नर है, यह मनोरथों का स्थान है।' ऐसे सोचते-सोचते अंत में मूर्खों का विहान हो जाता है।

१०२. यदि बड़े घरों को पूछते हो तो बड़े घर वे रहे। किन्तु विह्वलित (दुखी) जनों का उद्धार करने वाले [मेरे] कंत को [इस] कुटीर में देखो।

१०३. लोगों के ये लोचन जाति-स्मर (पूर्व जन्म को याद करने वाले) हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं; क्योंकि वे अप्रिय को देखकर मुकुलित (बंद) हो जाते हैं और प्रिय को देखकर विहँसने लगते हैं।

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डुत्तणहो तरोण ।
वड्डुप्पणु परि पाविअइ हत्थिं मोक्कलडेण ॥१०४॥
सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवरोण ।
जिवँ जिवँ वड्डुत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिँ सिरेण ॥१०५॥
जइ ससरोही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह ।
बिहिं वि पयारेँहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ॥१०६॥
भमर न रुणझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ।
सा मालइ देसंतरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥१०७॥
पइँ मइँ बेहिं वि रण-गयहिं को जयसिरि तक्केइ ?
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ ॥१०८॥

१०४, सभी लोग बड़प्पन के लिए तड़फड़ाते हैं, पर बड़प्पन मुक्त हाथ (औदार्य) से मिलता है ।

१०५. कहो, किस प्रयोजन से सुपुरुष कंगु (धान-विशेष) का अनुसरण करते हैं ? ज्यों-ज्यों वे बड़प्पन पाते हैं त्यों-त्यों शिर से झुकते जाते हैं ।

१०६. यदि वह सस्नेही है तो मर गई; अथवा यदि जीवित है तो निःस्नेह है । धन्या दोनों ही प्रकार से गई; हे खल मेघ, अब क्यों गरजते हो ?

१०७. हे भ्रमर, अरण्य में रुनझुन मत कर और उस ओर देखकर मत रो । वह मालती देशांतरित हो गई जिसके वियोग में तू मर रहा है ।

१०८. तेरे और मेरे दोनों के रण में जाने पर जयश्री को कौन ताक सकता है ? यम की घरनी को केशों से पकड़कर, कहो, कौन सुख से रह सकता है ?

पइँ मेल्लन्तिहे महु मरणु मइँ मेल्लन्तहो तुज्झु ।
सारस जसु जो वेग्गला सो वि कृदन्तहो सज्झु ॥१०९॥
तुम्हेहिं अम्हेहिं जं कियउं दिट्ठउँ बहुअ-जणेण ।
तं तेवड्डउ समर-भरु निज्जउ एक्क खणेण ॥११०॥
तउ गुण-संपइ तुज्झ मदि तुध्र अणुत्तर खंति ।
जइ उप्पतिं अन्न जण महि-मंडलि सिक्खन्ति ॥१११॥
अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया के वि ।
अवस न सुअहिँ सुहच्छिअहि जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि ॥११२॥
महु कंतहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु ।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु ॥११३॥
जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥११४॥

१०९. तुझे छोड़ते हुए मेरा मरण है और मुझे छोड़ते हुए तेरा। सारस के समान जो दूर रहेगा वह कृतान्त (यम) का साध्य होगा।

११०. तुमने हमने जो किया उसे बहुत जनों ने देखा। वह उतना बड़ा समर एक ही क्षण में जीत लिया गया।

१११. काश, तुम्हारी गुण-सम्पति, तुम्हारी मति और तुम्हारी अनुत्तर (लाजवाब) क्षमा को महिमंडल में जन्म लेकर अन्य भी सीख लेते!

११२. अपनापन लगाकर जो कोई पथिक पराये की तरह चले गए वे भी अवश्य ही सुख-शय्या पर न सोते होंगे, जैसे हम हैं वैसे वे भी।

११३. मेरे कंत के दो दोष हैं, हे सखी झूठ मत बोल। दान देते हुए केवल मैं उबरी (बची) हूँ और जूझते हुए करवाल।

११४. हे सखी, यदि शत्रु भागे हैं तो मेरे प्रिय से, और यदि हमारे [लोग] भागे हैं तो उसके मारे जाने से।

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तउ रुअहि हयास।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस ॥११५॥
बप्पीहा कइँ बोल्लिएण निग्घिण वार इ वार।
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्कइ धार ॥११६॥
आयहिं जम्महि अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कंतु।
गय मत्तहँ चत्तंकुसहं जो अब्भिडइ हसंतु ॥११७॥
बलि-अब्भत्थणि महु-महणु लहुईहूआ सोइ।
जइ इच्छहु वड्डुत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥११८॥
विहि विणडउ पीडंतु गह मं धणि करहि विसाउ।
संपइ कड्ढउं वेस जिवँ छुड्डु अग्घइ ववसाउ ॥११९॥
खग्ग-विसाहिउ जहिँ लहहुँ पिय तहिँ देसहिँ जाहुँ।
रण-दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुँ ॥१२०॥

११५. हे पपीहा, पी-पी बोलकर हताश कितना रोएगा? तुम्हारी जल में (जल के विषय में) और मेरी वल्लभ में (वल्लभ के विषय में)—दोनों की आशा पूरी न होगी।

११६. हे पपीहा! हे निर्दय! बारंबार बोलने से क्या [लाभ]? विमल जल से सागर के भरने पर भी तू एक भी धार न पायेगा।

११७. हे गौरी, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी वह कंत दीजिए जो मतवाले और त्यक्तांकुश (निरंकुश) गजों से हँसता हुआ आ भिड़े।

११८. बलि की अभ्यर्थना करने से वे मधु-मथन (विष्णु) भी लघु हो गए। यदि बड़प्पन चाहते हो तो दो, किसी से माँगो मत।

११९. विधि विनष्ट जाय, ग्रह पीड़ा दें, [फिर भी] हे धन्या, विषाद मत कर। यदि व्यवसाय मिल जाय तो संपत्ति को वेश की तरह खींच लूँ।

१२०. हे प्रिय, जहाँ खड्ग का व्यवसाय मिले उसी देश में चलें।

कुंजर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥१२१॥
भमरा एत्थु वि लिम्बडइ के वि दियहडा विलम्बु ।
घण-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ॥१२२॥
प्रिय एम्बहिँ करे सेल्लु करि छड्डुहिँ तुहुँ करवालु ।
जं कावालिय बप्पुडा लेहिँ अभग्गु कवालु ॥१२३॥
दिअहा जंति झडप्पडहिं पडहिँ मनोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥१२४॥
इत्तउँ ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि ।
तो हउ जाणउ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥१२५
जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिजन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम का वि लहंतु ॥१२६॥

रण-दुर्भिक्ष में हम भग्न (क्षीण) हो गए हैं, बिना युद्ध के नहीं सँभलेंगे (स्वस्थ होंगे)।

१२१. हे कुंजर, सल्लकियों को मत सुमिर, और लंबी साँस मत छोड़; विधि-वश जो कवल प्राप्त हैं उन्हें चर और मान मत छोड़।

१२२. हे भौंरा, यहीं नीम पर कुछ दिन विरम, जब तक घने पत्तों वाला छाया-बहुल कदंब नहीं फूलता।

१२३, हे प्रिय, अब तू हाथ में सेल (भाला) धारण कर, करवाल छोड़ दे जिससे बापुरे कापालिक अभग्न कपाल (खप्पर) लें।

१२४. दिन झटपट चले जाते हैं, मनोरथ पीछे पड़ (रह) जाते हैं। [इसलिए] जो है, उसी को मानिए; 'होगा' यह करते हुए मत रहिए।

१२५. इतना बोल कर शकुनि ठहर गया; पुनः दुःशासन बोलकर रह गया, "तब मैं जानूँ कि यह हरि है यदि मेरे आगे से बोलकर..."

१२६. जैसे तैसे तीखी किरणें लेकर यदि शशि छोला जाता तो

अब्भडवंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जाव ।
सव्वासण-रिउ-संभवहो कर परिअत्ता ताव ॥१२७॥
हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ।
वासा-रत्ति-पवासुअहं विसमा संकडु एहु ॥१२८॥
पुत्ते जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिजइ अवरेण ॥१२९॥
तं तेत्तिउ जल सायरहो सो तेवडु वित्थारु ।
तिसहे निवारणु पलु वि न वि पर धुट्टुअइ असारु ॥१३०॥
जं दिट्ठउँ सोम-ग्गहणु असइहिँ हसिउँ निसंकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोहगरु गिलि गिलि राहु मयंकु ॥१३१॥

कहीं गोरी के मुह-कमल का कुछ सादृश्य पाता !

१२७. दो पग साथ चलकर प्रिय जब तक लौटता है (अथवा प्रेम निबाहता है) तब तक सर्वाशन (अग्नि) के रिपु (समुद्र) के पुत्र (चन्द्रमा) की किरणें फैल जाती हैं ।

१२८. हृदय में गोरी खुड़कती है, गगन में मेघ घुड़कता है; वर्षा की रात में प्रवासियों के लिए यह विषम संकट है ।

१२९. पूत के जनमने से क्या लाभ और [उसके] मरने से क्या हानि यदि बाप की भूमि शत्रु से चाँप ली जाय !

१३०. सागर में वह उतना जल है और उसका उतना विस्तार है, पर [फिर भी] तृषा का निवारण ज़रा भी नहीं होता, केवल निस्सार धू धू करता है ।

१३१. जब सोम ग्रहण दीखा तो असतियाँ (कुलटायें) निःशंक होकर] हँस पड़ीं [और कहने लगीं] कि प्रिय जनों का विछोह करने वाले को हे राहु, निगल निगल ।

१३२ री अम्मा ! स्वस्थ अवस्था-वाली सुख से मान का चिन्तन

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिँ चिंतिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥१३२॥
सवधु करेप्पिणु कधिदु मइँ तसु पर सभलउँ जम्मु।
जासु न चाउ न चारहडि न य पम्हट्ठउ धम्मु ॥१३३॥
जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वगें पइसीसु ॥१३४॥
उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कंचण-कंति-पयासु।
गोरी-वयण-विणिज्जअउ नं सेवइ वण-वासु ॥१३५॥
ब्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइ-सत्थु पमाणु।
मायहँ चलण नवंताहं दिवि-दिवि गंगा-ण्हाणु ॥१३६॥
केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ।
नव-वहु-दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥१३७॥

करें। प्रिय के दिखाई पड़ने पर हड़बड़ी में अपान (अपनापन) कौन चेतता है!

१३३. शपथ करके मैंने कहा कि केवल उसी का जन्म सफल है जिसका न तो त्याग, न शौर्य और न धर्म नष्ट हुआ है।

१३४. यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूंगी तो अकृत (अपूर्व) कौतुक करूँगी। पानी नये शराव (पुरवा) में जैसे [प्रविष्ट हो जाता है] मैं भी सर्वांग से प्रवेश कर जाऊँगी।

१३५. ओ देख! कंचन की कांति का-सा प्रकाश वाला कर्णिकार प्रफुल्लित हो गया। गोरी के वदन से विनिर्जित (पराजित) होकर मानों वनवास सेवन कर रहा है।

१३६. व्यास महर्षि यह कहते हैं कि यदि श्रुति-शास्त्र प्रमाण है तो माताओं के चरणों में नमन करने वालों का दिन-दिन गंगा-स्नान है?

१३७. दुष्ट दिन कैसे समाप्त हो? रजनी कैसे शीघ्र हो? नव-वधू के दर्शन की लालसा वाला वह (नायक) ये मनोरथ वहन करता है।

ओ गोरी-मुह-निजिअउ वद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहविय-तणु सो किवँ भवइँ निसंकु ॥१३८॥
बिम्बाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द ।
निरुवम-रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ॥१३९॥
भण सहि निहुअउँ तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु ।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥१४०॥
मइँ भणिअउ बलिराय तुहुँ केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु न वि होइ वढ सइँ नारायणु एहु ॥१४१॥
जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥१४२॥
जाम न निवडइ कुम्भ-यडि सीह-चवेड-चडक्क ।
ताम समत्तहँ मयगलहँ पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥१४३॥

१३८. ओ देख ! गोरी के मुह से पराजित होकर मयंक बादल में में लुक गया । और भी जो कोई [इस प्रकार] पराभूत-तनु वाला है वह निःशंक कैसे भ्रमण कर सकता है !

१३९. तन्वी के बिंबाधर पर रदन-व्रण (दंत-क्षत) की आनंदश्री कैसी स्थित है ! निरुपम रस पीकर प्रिय ने मानो शेष पर मुद्रा दे दी है (मुहर लगा दी है) ।

१४०. हे सखी, यदि पिय सदोष दिखाई पड़ा है, तो मुझसे निभृत (एकांत) में इस प्रकार कहो कि उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके !

१४१. हे बलिराज, मैंने तुमसे कहा था कि यह कैसा मंगन है ! रे मूढ़, यह ऐसा वैसा नहीं है, यह स्वयं नारायण है ।

शुक्राचार्य का कथन ।

१४२. यदि प्रजापति कहीं से सीख लेकर उसे गढ़े तो यहाँ वहाँ (कहीं भी) इस जगत में उसके सरीखा कहो ।

१४३. जब तक कुंभ-तट पर सिंह के चपेट की चटाक (आघात)

तिलहँ तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलन्ति।
नेहि पणट्ठइ ते जि तिल तिल फिट्टवि खल होंति ॥१४४॥
जामहिँ विसमी कज्ज-गइ जीवहँ मज्झे एइ।
तामहिँ अच्छउ इयरु जणु सुअणु वि अंतरु देइ ॥१४५॥
ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहं।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गंजिउ जाहं ॥१४६॥
वम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वंग छइल्ल।
जे बङ्का ते वंचयर जे उज्जुअ ते बइल्ल ॥१४७॥
प्राइव मुणिहँ वि भंतडी ते मणिअडा गणंति।
अखइ निरामइ परम-पइ अज्ज वि लउ न लहंति ॥१४८॥

नहीं पड़ती, तभी तक समस्त मयगलों (मतवाले गजों) के पग पग-पर ढक्का (ढोल) बजता है।

१४४. तिलों का तिलत्व तभी तक है जब तक स्नेह नहीं निकल जाता। स्नेह के नष्ट हो जाने पर वे ही तिल तिल से फटकर खल (खली और दुष्ट) हो जाते हैं।

श्लिष्ट अन्योक्ति।

१४५. जब विषम कार्य-गीत जीवों के मध्य में आती है तो इतर जन तो [दूर] रहें, स्वजन भी अंतर देते हैं (बचते हैं)।

१४६. वे मूँग व्यर्थ गए जो उनको परोसे गए जिनके परस्पर (एक दूसरे को) जोहते हुए स्वामी पराजित हुआ।

जोअन्ताहं = युध्यमानानं (वैद्य)।

१४७. हे ब्रह्मन्, वे नर कोई विरले ही होते हैं जो सर्वांग छैल हों। जो बाँके हैं, वे वंचकतर होते हैं और जो ऋजुक (सरल) हैं वे बैल होते हैं।

१४८. प्रायः मुनियों को भी भ्रान्ति हो जाती है, वे मनिया गिनते रहते हैं। अक्षय निरामय परम पद में आज भी वे लौ नहीं लगाते

एसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी महँ अणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥१४६॥
महु कंतहो गुट्ठ-ट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति ।
अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति ॥१५०॥
पिय-सङ्गमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइँ विन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥१५१॥
कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु ।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥१५२॥
चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं ।
होसहिँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिस-सयाइं ॥१५३॥

(लय नहीं होते) ।

१४६. 'प्रिय आएगा, मैं रूठूँगी, मुझ रूठी को वह अनुनय करेगा (मनाएगा) ।' प्रायः ये मनोरथ दुष्कर (कठोर) दयित (प्रिय) करवाता है ।

१५०. मेरे कंत के गोठ में रहते हुए झोपड़े कैसे जलते हैं ? या तो वह रिपु के रुधिर से बुझा देता है या अपने [रुधिर] से, इसमें भ्रान्ति नहीं है ।

१५१. प्रिय के संगम में नींद कहाँ ! प्रिय के परोक्ष में भी (नींद) कैसी ! मैं दोनों ही प्रकार विनष्ट हुई; नींद न यों न त्यों ।

१५२. कंत जो सिंह से उपमित हुआ उससे मेरा मान खंडित हुआ । सिंह नीरक्षक (रक्षक रहित) गजों को मारता है [जब कि] प्रिय पदरक्षकों-सहित [गजों को] ।

१५३. जीवित (प्राण) चंचल है, मरण ध्रुव है । हे प्रिय रूसिए क्यों ? रूसना (रूठने का) दिन तो सौ दिव्य (देवताओं के) वर्षों का होगा ।

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खल मेह म गज्जु।
बालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥१५४॥
विहवि पणट्ठइ वंकुडउ रिद्धिहिँ जण-सामन्नु।
कि पि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥१५५॥
जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ अहवा तं जि निवाणु ॥१५६॥
जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिँ सुहय-जणस्सु ॥१५७॥
जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउँ कइ पय देइ।
हिअइ तिरिच्छी हउँ जि पर पिउ डम्बरइँ करेइ ॥१५८॥
हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह-पओहरहं जं भावइ तं होउ ॥१५९॥

---

१५४. लोन पानी से विला रहा है; अरे खल मेघ, मत गरज। जला हुआ वह झोंपड़ा गल रहा है और गोरी आज तीत (भींज) रही है।

१५५. विभव के नष्ट होने पर बाँकुरा और ऋद्धि में जन-सामान्य [की तरह]। मेरे प्रिय की अनुहार कुछ थोड़ा सा शशि करता है, अन्य नहीं।

१५६. उस देश में जाइए जहाँ प्रिय का प्रमाण (पता) मिले। यदि आवे तो आनिए (लाइए) अथवा वहीं [मेरा] निर्वाण (मृत्यु) हो।

१५७. जो प्रवास करते हुए के साथ नहीं गई और न उसके वियोग में मुई (मरी) ही, तो सुहृद्‌जन को संदेश देती हुई लजाती हूँ।

१५८. जाओ (जाने दो); जाते हुए को मत पालो (रोको)। देखूँ कितने पग देता है! हृदय में तो मैं ही तिरछी होकर पड़ी हूँ; प्रिय केवल [जाने का] आडंबर कर रहा है।

१५९. हरि को प्रांगण में नचाया, लोगों को विस्मय में डाल

साव-सलोणी गोरडी नवखी क वि विस-गंठि ।
भडु पच्चलिओ सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि ॥१६०॥
मइँ वुत्तउं तुहुँ धुरु धरहि कसरेहिं विगुत्ताइं ।
पइँ विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं ॥१६१॥
एक्कु कइअह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइँ मित्तडा प्रमाणिअउ पइँ जेहउ खलु नाहिं ॥१६२॥
जिवँ सुपुरिस तिवँ घंघलइं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं ।
जिवँ डोंगर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं ॥१६३॥
जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउँ तडि घल्लंति ।
तहं संखहं विट्टाल परु फुक्किज्जन्त भमंति ॥१६४॥
दिवेहिं विढत्तउँ खाहि वढ संचि म एक्कु वि द्रम्मु ।
को वि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥१६५॥

दिया । अब राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो ।

१६०. सर्व-सलोनी गोरी कोई नोखी विष की गाँठ है । भट प्रत्युत (बल्कि) वह मरता है जिसके कंठ में (से) वह नहीं लगती ।

१६१. मैंने कहा : तू धुरी धर; कसर (गरियार) बैलों से हम तंग हैं । तुम्हारे बिना हे धवल, भार नहीं चढ़ता; अब उदास क्यों हो ?

१६२. एक तो कभी भी आता नहीं, दूसरे [आता है तो] तुरन्त चला जाता है । हे मितऊ, मैंने प्रमाणित किया कि तुम्हारे जैसा खल नहीं है ।

१६३. जैसे सुपुरुष वैसे झगड़ालू, जैसी नदियाँ वैसे मोड़, जैसे डूँगर (पहाड़) वैसे कोटर । हे हृदय, विसूरते क्यों हो ?

१६४. जो रत्नों की निधि (सागर) को छोड़ कर अपने आपको तट पर फेंक देते हैं, वे शंख अस्पृश्यों के संसर्ग में पड़ कर फूँके जाते हुए भटकते हैं ।

१६५. हे मूर्ख; दिन-दिन कमाए [धन] को खा, एक भी दाम संचित

विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु।
सो लेखडउ पठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्ट ॥१६६॥
कहिँ ससहरु कहिँ मयरहरु कहिँ बरिहिणु कहिँ मेहु।
दूर-ठिआहँ वि सज्जणहँ होइ असड्ढलु नेहु ॥१६७॥
कुंजरु अन्नहँ तरु-अरहँ कुड्डेण घल्लइ हत्थु।
मणु पुणु एक्कहिँ सल्लइहिं जइ पुच्छह परमत्थु ॥१६८॥
सरिहिँ न सरेहिँ न सरवरेहिँ न वि उज्जाण-वणेहिं।
देस रवण्णा होंति वढ निवसन्तेहिँ सुअणेहिं ॥१६९॥
हियडा पइँ एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सय-वार।
फुट्टिसु पिए पवसंति हउँ भण्डय ढक्करि-सार ॥१७०॥

मत कर। कोई भी ऐसा भय (संकट) आ पड़ेगा जिससे जन्म (जीवन) ही समाप्त हो जायगा।

१६६. विभव में किसके स्थिरता है! यौवन में किसके मराठापन (गर्व) है! वह लेख पठाया (भेजा) जाय जो निचाट (प्रगाढ़ भाव से) लगे।

१६७. कहाँ शशधर (चन्द्रमा) और कहाँ मकरधर (समुद्र)! दूर रहने पर भी सज्जनों का असाधारण स्नेह होता है।

१६८. कुंजर अन्य तरुवरों में कौतुक से हाथ (सूँड़) डालता है, यदि सच पूछो तो मन एक सल्लकी में ही है।

१६९. हे मूढ़, न सरिताओं से, न सरों से, न सरोवरों से, और न उद्यानों और वनों से भी किन्तु वसते हुए सज्जनों से देश रमणीय होते हैं।

१७०. हे हृदय, तूने मेरे आगे सैकड़ों बार यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करते समय मैं फट जाऊँगा। अरे अद्भुत कठोर! अरे भण्ड!

चलेहिँ चलन्तेहिँ लोअणेहिँ जे तइँ दिट्ठा बालि।
तहिं मयरद्धय-दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥१७१॥
गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइँ हरिणाइँ।
जसु केरए हुँकारडएँ मुहहुँ पडन्ति तृणाइँ ॥१७२॥
सत्थावत्थहँ आलवणु साहु वि लोउ करेइ।
आदन्नहँ मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥१७३॥
जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्ध-सहाव।
लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥१७४॥
मइँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ पेम्म-द्रहि हुहुरु त्ति।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय-नाव झड त्ति ॥१७५॥

१७१. हे बाले, जिनको तूने चलायमान चंचल लोचनों से देखा, उन पर समय के न पूरे होने पर ही (पहले ही) मकरध्वज का आक्रमण हो जाता है।

१७२. वह केसरी गया, हे हरिणो, निश्चिंत होकर जल पियो, जिसकी हुँकार [मात्र] से मुहों से तृण गिर पड़ते हैं।

१७३. स्वस्थ अवस्था वालों से आलपन (संलाप) सभी लोग करते हैं। लेकिन आर्त्त जनों को 'मा भैषीः' (अभय-दान) जो सज्जन है वही देता है।

१७४. हे मुग्ध स्वभाव वाले हृदय, जो जो देखा उसी पर यदि रच गया (अनुरक्त हो गया) तो फूटने वाले लोहे के समान घना ताप सहना पड़ेगा।

१७५. मैंने जाना था कि प्रेम के ह्रद (सरोवर) में मैं बूड़ (डूब) जाऊँगी लेकिन विप्रिय (विरह) की नाव झट से अचिंतित [रूप से] आ पड़ी।

खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुंटेहिं।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएँ दिट्ठे नयणेहिं ॥१७६॥
अज्ज वि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ।
ताउँ जि विरहु गवक्खेहिं मक्कड-घुग्घिउ देइ ॥१७७॥
सिरि जर-खंडी लोअडी गलि मणियडा न वीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बईस ॥१७८॥
अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥१७९॥
ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिँ देसि।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥१८०॥
सुमिरिज्जइ तं वल्लहउँ जं वीसरइ मणाउँ।
जहिँ पुणु सुमरणु जाउं गउ तहो नेहहो कइँ नाउँ ॥१८१॥

---

१७६. कचर कचर खाया नहीं जाता, घूँट घूँट पिया नहीं जाता ऐसी ही सुख की स्थिति होती है प्रिय के नयनों से दीख जाने पर।

१७७. आज भी नाथ मेरे ही घर में सिद्धार्थों (तीर्थकरों) की वंदना कर रहे हैं तिस पर भी विरह गवाक्षों से मर्कट-घुड़की (बंदर-घुड़की) दे रहा है।

१७८. सिर पर जरा-जीर्ण लुगरी और गले में बीस मनिया भी नहीं है, तो भी गोठ में मुग्धा ने [बैठे लोगों को] उट्ठ-बईस (उठक बैठक) करा दिया।

१७९. री अम्मा, पछतावा हो रहा है कि विकाल बेला (संध्या समय) प्रिय से कलह कर लिया; विनाश के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है।

१८०. हे दूल्हा, ऐसा परिहास, अरे कह, किस देश में होता है! हे प्रिय, मैं तो तुम्हारे लिए छीज होती हूँ और तुम अन्य के लिए।

१८१. सुमिरिए उस वल्लभ को जो थोड़ा सा भूल जाय। पर

एक्कसि सील-कलंकिअहं देज्जहिँ पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥१८२॥
सामि-पसाउ सलज्जु पिउ सीमा-संधिहिं वासु ।
पेक्खिवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१८३॥
पहिया दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअंत ।
अंसूसासेहिं कंचुआ तिंतुव्वाण करंत ॥१८४॥
पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठि ।
तहो बिरहहो नासंतअहो धूलडिआवि न दिट्ठ ॥१८५॥
एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसंठुल धाइ ।
पिअ-पब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहिं वि न ठाइ ॥१८६॥
देसुच्चाडणु सिहि-कढणु घण-कुट्टणु जं लोइ ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउँ होइ ॥१८७॥

जिसका सुमिरन (स्मरण) चला गया, उसके स्नेह का क्या नाम !

१८२. एक बार शील कलंकित करने वालों को प्रायश्चित्त दिए जाते हैं और जो अनुदिन खण्डित करता है उसके प्रायश्चित्त से क्या !

१८३. स्वामी का प्रसाद (कृपा) है, प्रिय सलज्ज (संकोची) है, दो [राज्यों की] सीमाओं के संधि-स्थल में निवास है, इसलिए [प्रिय के] बाहुबल को देख कर धन्या निःश्वास छोड़ती है ।

१८४. "पथिक, गोरी दीखी ?" "दीखी, मार्ग जोहती हुई और आँसू साँसों से कंचुक को गीला और सूखा करती हुई ।"

१८५. प्रिय आया, [यह] बात सुनी; ध्वनि कान में पैठी । उसके नष्ट होते (भागते) विरह की धूल भी न दिखी ।

१८६. यहाँ वहाँ घर द्वार पर लक्ष्मी अस्थिर होकर दौड़ रही है; प्रिय से प्रभ्रष्ट (वियुक्त) गोरी की तरह कहीं भी निश्चल नहीं रहती ।

१८७. [अपने] देश से उच्चाटन (उखाड़ा जाना), शिखि (आग) में उबाला जाना, घन से कूटा जाना [आदि] जो लोक में होता है वह

हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अभि चडाहुँ।
अम्हाहिं बे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुँ ॥१८८॥
रक्खइ सा विस-हारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ।
पडिबिम्बिबउ-मुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ ॥१८९॥
बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउ तेवँइ को दोसु।
हिअय-ट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुंज सरोसु ॥१९०॥
जेप्पि असेसु कसाय बलु देप्पिणु अभय जयस्सु।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु ॥१९१॥
देवं दुक्करु निअय-धणु करण न तउ पडिहाइ।
एम्वइ सुहु भुंजणहँ मणु पर भुंजणहिँ न जाइ ॥१९२॥
जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि।
विणु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणे वि ॥१९३॥

सब अति [अनु] रक्त मजीठ से ही सहा जाता है।

१८८. हे हृदय, यदि वैरी घने (बहुत) हैं तो क्या अभ्र (बादल) पर चढ़ जाऊँ? हमारे भी दो हाथ हैं, मार कर [तो] मरेंगे।

१८९. वह पनिहारिन [उन] दोनों हाथों को चूमकर जीव रखती है (जी रही है), जिनसे मूँज-प्रतिबिम्बित जल प्रिय को पिलाया था।

१९०. बांह छोड़कर तू जाता है तो वैसा ही हो; क्या दोष है! हृदय में स्थित होकर (हृदय से) यदि निकल जाओ तो हे मुंज, सरोष जानूँ।

१९१. अशेष (संपूर्ण) कषायों (पापों) की सेना को जीतकर, जगत को अभय [दान] देकर, महान व्रत लेकर और तत्व का ध्यान कर शिव को प्राप्त करते हैं।

१९२. अपना धन देना दुष्कर (कठिन) है और तप करना नहीं आता। यों ही सुख भोगने का मन [करता] है पर भोगा नहीं जाता।

१९३. सकल धरा को जीतना [और फिर जीतकर] त्यागना, तप

गम्पिणु वाणारसिहिँ नर अह उज्जेणिहिँ गम्पि ।
मुआ परावहिँ परम-पद दिव्वंतरइं म जम्पि ॥१६४॥
रवि-अत्थमणि समाउलेण कंठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१६५॥
वलयावलि निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लह विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥१६६॥
पेक्खेविणु मुहु जिण-वरहो दीहर-नयण सलोणु ।
नावइ गुरु-मच्छर-भरिउ जलणि पवीसइ लोणु ॥१६७॥
अब्भा लग्गा डुंगरिहिं पहिउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरि-गिलण-मणु सो किं धणहे धणाइ ॥१६८॥

को लेना [और लेकर] पालन करना—बिना शान्ति तीर्थेश्वर (तीर्थंकर) के [इस] भुवन में कौन [कर] सकता है ।

१६४. वाराणसी में जाकर अथवा उज्जयिनी में जाकर लोग मर कर परम पद पाते हैं, दिव्यान्तरों (अन्य लोकों) को मत कहो ।

१६५. रवि के अस्त होने पर समाकुल चक्रवाक ने मृणाल के खण्ड को कंठ में डाला पर छिन्न नहीं किया, मानों [निकलते हुए] जीव के लिए अर्गला दे दी ।

१६६. [कृशता के कारण] वलयावली के गिरने के भय से धन्या ऊर्ध्वभुज होकर (भुजा ऊपर उठाकर) जा रही है; वल्लभ के विरह के महा दह (सरोवर) की मानो थाह ले रही है ।

१६७. जिनवर का दीर्घ नयनों वाला सलोना मुह देखकर मानों अत्यन्त मत्सर (ईर्ष्या) से भरकर लोन ज्वलन (अग्नि) में प्रवेश करता है ।

१६८. अभ्र डूँगरों से लगे हैं (छाये हैं); पथिक रटता (रोता) हुआ जाता है कि जो इस गिरि को भी निगलने का मनवाला (इच्छुक) है वह क्या धन्या पर कृपा करेगा ?

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कंतस्सु ॥१६६॥
सिरि चडिआ खंति प्फलइं पुणु डालइं मोडंति।
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करंति ॥२००॥

---

१६६. पांव में अंतड़ियां लगी हैं, सिर कंधे से लटक गया है, तो भी हाथ कटारी पर है। [ऐसे] कंत की मैं बलि जाऊँ।

२००. सिर पर चढ़कर फल खाते हैं, फिर डालों को मरोड़ते हैं, तो भी महान द्रुम शकुनियों (चिड़ियों) का अपराध नहीं करते।

सहायक साहित्य

संस्कृत

लालचन्द्र गांधी — अपभ्रंश काव्यत्रयी, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा, १९२७ ई०

हिंदी

अगरचंद नाहटा — वीर गाथा काल का जैन साहित्य (नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६, अंक ३, सं० १९९८ वि०)

आचार्यप्रवर तरुणप्रभ सूरि (जर्नल अव दि यू० पी० हिस्टॉरिकिल सोसायटी, वर्ष २२, खंड १-२, १९४९ ई०)

कामताप्रसाद गुरु — हिंदी व्याकरण, संशोधित संस्करण (नागरी प्रचारिणी सभा, २००९ वि०)

किशोरीदास वाजपेयी — व्रजभाषा का व्याकरण, कनखल १९४३ ई०

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी — पुरानी हिंदी (नागरी प्रचारिणी सभा, पुनर्मुद्रण २००५ वि०)

धीरेन्द्र वर्मा — व्रजभाषा व्याकरण, रामनारायण लाल इलाहाबाद, १९३७ ई०

हिंदी भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण, १९४९ ई० (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)

नाथूराम प्रेमी — जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९४२ ई०

बाबूराम सक्सेना — दक्खिनी हिंदी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५२ ई०

रामकुमार वर्मा — हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद १९४८ ई०

रामचन्द्र शुक्ल — हिंदी साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण, २००६ वि० (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

राहुल सांकृत्यायन — पुरातत्व निबंधावली, इंडियन प्रेस प्रयाग, १९३७ ई०

हिंदी काव्य-धारा, किताब महल, इलाहाबाद, १९४५ ई०

सुनीतिकुमार चटर्जी — राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४९ ई०

हजारीप्रसाद द्विवेदी — हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, १९४१

हिंदी साहित्य का आदिकाल, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५२ ई०

हीरालाल जैन — हिंदी साहित्य, दिल्ली, १९५२ ई०

सावयधम्मदोहा, करंजा जैन ग्रंथमाला, १९३२ ई०

पाहुड़ दोहा, करंजा १९३३ ई०

गुजराती

केशव का० शास्त्री — अपभ्रंश व्याकरण, अहमदाबाद, २००५ वि०

मधुसूदन चिमनलाल मोदी — अपभ्रंश-पाठावली, अहमदाबाद, १९९२ वि०

अंग्रेजी और जर्मन

Alsdorf, L. ... Apabhramsa-Studien, Leipzig, 1937.

Barua and Mitra ... Prakrit Dhammapad, Calcutta University 1921.

Bhayani, H. C. ... Paumcariu of Svayambhu, SJS, Bombay, 1953.

Bhayani and Jin Vijaya Muni. Sandes-Rasak of Abdal Rahman, SJS, Bombay, 1945.

Chatterji, S. K. ... The Origin and Development of Bengali Language, Calcutta, 1926.

Ukti-Vyakti Prakarana of Damoder SJS, Bombay 1953.

Chatterji and Babuaji Misra. Varna-Ratnakar of Jyotirisvara, Bibliotheca Indica, 1940.

Dalal, C. D. and Gune, P. D. Bhavisatta-Kaha of Dhanpal, GOS, Baroda, 1923.

Dasgupta, S. N. and De, S. K. A History of Sanskrit Literature (Classical period) Vol. I, Calcutta University, 1947.

Divatia ,N. B. ... Gujarati Language and Literature, Poona, 1921.

Ghosh, C. M. ... Prakrit-Paingalam, Bibliotheca Indica, 1902-

Grierson, G. A. ... Linguistic survey of India, Vol. I, Part I.

On the Modern Indo Aryan Vernaculars, (Indian Antiquary LX, LXI, LXII—1931-33).

Prakrit-Dhatvadesas, (Memoirs of the Asiatic society of Bengal Vol. VIII, No. 2, 1925).

Apabhramsa according to Markandey, (JRAS B, 1913).

Hoernle, R. ... A Comparative Grammar of the Gaudian Languages, with special reference to Eastern Hindi, London, 1880.

A collection of Hindi Roots, with remarks of their Derivation and classification (JRASB, Vol. XLIX, Part I, 1880)

Prakrit Lakshanam of Canda, 1880.

Jacobi, H. ... Bhavisatta-kaha Von Dhanvala, Muchen, 1918.

Jain, Hiralal ... Nayakumar-cariu of Puspadant, Karanja, 1933.

Karakand-cariu of Kankamar, Karanja, 1934.

Katre, S. M. ... Prakrit Languages, and their contribution to Indian Culture, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1945.

Master, Alfred ... Gleanings from Kubalaymala-kaha, BSOAS, Vol. XIII Pt. 2, 4, 1950-51.

Mehendale, M.A. ... Historical Grammer of Inscriptional Prakrit, DCRI, Poona, 1943.

Misra, K. P. ... Keith on Apabhramsa, (Ind. Ant. 1930).

Panse, M. G. ... Linguistic Peculiarities of Jnanesvari; BDCRI, Poona, 1951.

Pischel, R. ... Grammatik der Prakrit Sprachen, Strassburg, 1900.

Materialien Zur Kenntnis des Apabhramsa, Berlin, 1902.

Desi Namamala Von Hemchandra, 1880

Saxena, B. R. ... Evolution of Avadhi, Allahabad, 1938.

Sen, Sukumar ... Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan, (Indian Linguistics; Cal. 1951)

Tagare, G. V. ... Historical Grammar of Apabhramsa, DCRI, Poona, 1948,

Tessitori, L. P. ... Notes on the Grammar of the Old Western Rajasthani with Special reference to Apabhramsa and to Gujarati and Marwari, Indian Antiquary, 1914-16.

Upadhye, A. N. ... Parmatm-Prakas and yogsara of Joindu, SJS, 1937.

Lilavai-Kaha of Kouhal, SJS, 1949.

Prakrit Literature, (Encyclopedia of Literature-Shipley, Vol. 1 1946.)

Vaidya, P. L. ... Hemachandra's Prakrit Grammar, Poona, 1928.